महावीर जयंती स्मारिका

संपादक

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

अप्रेल १९६५

प्रकाशक
रतनलाल छाबड़ा
मंत्री
राजस्थान जैन सभा
जयपुर

मूल्य दो रुपया

मुद्रक
अजन्ता प्रिंटर्स,
जयपुर

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

राजस्थान जैन सभा अपने जीवन के दस वर्ष समाप्त कर ग्यारहवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इस अवधि में सभा ने जो कुछ किया है उससे इस सभा की कार्य प्रगति का संकेत मिल सकता है।

सभा जैन युवकों में जीवन, जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त जन मानस को धर्म एवं कर्त्तव्य की ओर आकृष्ट करने के लिये पर्यूषण पर्व, क्षमापन समारोह, वीर निर्वाणोत्सव, महावीर जयन्ती एवं विविध आयोजनों की समय समय पर व्यवस्था करती रही है। राजस्थान विधान सभा में प्रस्तुत किये गये नग्न विरोधी बिल को वापस कराने, राजस्थान सरकार द्वारा अनन्त चतुर्दशी एवं संवत्सरी का अवकाश कम कर दिये जाने पर उसे पुनः स्वीकृत कराने, जन गणना में राजस्थान के सभी शहरों व गांवों के जैन संप्रदायों को जैन ही लिखवाने, एवं राजस्थान विधान सभा द्वारा पारित राजस्थान ट्रष्ट एक्ट में संशोधन आदि कराने के जो कार्य कर उनमें सफलता प्राप्त की है वह इस सभा के इतिहास में स्मरणीय रहेगी।

इन्ही कार्यों के फल स्वरूप इतने थोडे समय में इस संस्था ने जैन समाज की प्रतिनिधि संस्था का रूप धारण कर लिया है। कहना न होगा कि इस सब का श्रेय सभा के उस शुभचिन्तकों, सहायकों, प्रेमियों, हितैषियों तथा सदस्यों को है जिन्होंने पूरी लगन, तत्परता एवं सेवा भाव से इस संस्था को सींचा हैं। उन सब को धन्यवाद देना तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना उनके सेवाओं के महत्व को कम करना ही होगा। समय समय पर अनेक महानुभावों ने संस्था को आशीर्वाद दिये हैं तथा इसकी उन्नति की कामनायें की हैं। उनसे हमें बल तथा उत्साह प्राप्त हुआ है और आगे कार्य करने की प्रेरणा मिली है।

गत वर्ष कुछ हितैषियों ने सभा को सुझाव दिया कि महावीर जयन्ती के अवसर पर कुछ आधुनिक मौलिक प्रकाशनों द्वारा भगवान महावीर के सर्व जीव हितकारी सिद्धांतों का प्रचार किया जाय ताकि देश के नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान में योग मिले। इसे दृष्टिगत रखते हुए श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के सम्पादकत्व में एक वृहत् स्मारिका प्रकाशित किये जाने का निश्चय किया गया। हमें इस बात का हर्ष है कि उन्होंने इसका सम्पादन करना स्वीकार कर लिया। गत वर्ष प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका उन्हीं की कृपा का फल थी। इस स्मारिका का देश के विद्वानों, साहित्यकारों एवं पत्रों ने भारी स्वागत किया। कई विद्वानों ने अपने आशीर्वाद और शुभकामनायें देते हुए यह सुझाव दिया कि ऐसी स्मारिका महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर यदि प्रति वर्ष निकाली जाये तो यह निश्चय ही देश के नैतिक एवं

चारित्रिक उत्थान में महत्वपूर्ण योग होगा । इसी भावना से प्रेरित होकर इस वर्ष पुनः महावीर जयंती स्मारिका पाठकों के हाथों में देते हुये हमें हर्ष हो रहा है । स्मारिका के प्रकाशन में इस वर्ष हमें पूर्वापेक्षा अधिक बाधाओं एवं आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है । फिर भी हम जिस रूप में इसे प्रस्तुत कर पाये हैं, विश्वास है कि वह अवश्य उपयोगी साबित होगी ।

इसकी तैयारी में तथा इसके लिये साधन व सामग्री जुटाने में जिन लेखकों, कवियों, विज्ञापन दाताओं आदि से सहयोग व सहायता प्राप्त हुई है उन सब के प्रति सभा की ओर से मैं आभार प्रदर्शित करता हूं । विशेष रूप से सर्व श्री बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता, विजयचन्द जैन वैद, केवलचन्द ठोलिया, प्रवीणचन्द छाबड़ा, सरदारमल गोलेछा, आदि का मैं अत्यन्त आभार मानता हूं ।

इस ग्रन्थ को अति अल्प समय में सुन्दर और सुचारू रूप से समय पर तैयार कर देने के लिये अजन्ता प्रिन्टर्स, जुबली ब्लाक वर्क्स, हेमेन्द्रकुमार बगड़ा, सुरेन्द्रकुमार काला, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, राजमल संघी एवं सौभागमल रांवका आदि ने जो परिश्रम किया है उसके लिये सभा आभार प्रगट करती है ।

हमें विश्वास है कि हमें भविष्य में भी अपने प्रयत्नों में सभी का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा ताकि देश के नैतिक उत्थान के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में हम अधिक प्रगति कर सकें ।

रतनलाल छाबड़ा
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा

सम्पादकीय

गत वर्ष की 'महावीर जयन्ती स्मारिका' को लोगों ने आशा से अधिक पसंद किया। हिन्दी के अनेक प्रमुख दैनिक पत्रों एवं दूसरे सामयिक पत्रों ने भी इसकी अनुकूल समालोचनाएँ की। अनेक विद्वान पाठकों ने हमें यह भी लिखा और कहा कि यदि लगातार १० वर्ष तक इस प्रकार मौलिक लेखों आदि से सुसज्जित महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित होती रहे तो एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति होगी और सामान्य जन जैन धर्म, दर्शन, कला, इतिहास आदि के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी हासिल कर सकेगा।

वास्तव में इस प्रकार की स्मारिकाओं के सम्पादन का काम अल्प परिश्रम साध्य नहीं है और इसलिए समय भी कम से कम कई महिने चाहिए; किन्तु कई कारणों से गत वर्ष की तरह इस वर्ष भी केवल एक माह के भीतर ही सब काम करना पड़ा और स्मारिका को अधिकतम सुन्दर स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सका। अनेक लेखकों के लेख समय पर नहीं मिले अतः उनके यथा स्थान चयन में सुविधा नहीं रही।

स्मारिका में विभिन्न विषयों के लेख हैं और वे विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गये हैं। जैनों की दिगम्बर श्वेताम्बर शाखाओं की अनेक मान्यताएं महावीर के जीवन के सम्बन्ध में एकसी नहीं हैं। अन्य भी अनेक मान्यताएं असमान हैं। वैसे ही जैनेतर मान्यताओं के विषय में भी कहा जा सकता है! पाठक अपने अभिमत से मेल नहीं खाने वाली मान्यताओं को अत्यन्त सहिष्णुता एवं उदारतापूर्वक पढ़ें और समझें कि यह हमारे पड़ौसी धर्म अथवा शाखा की मान्यता है।

अन्त में मै उन लेखक महानुभावों के प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने हमारी प्रार्थना पर अपनी महत्वपूर्ण रचनाएं भेजकर हमें अनुगृहीत किया है और स्मारिका को यह मनोहर रूप देने में वांछनीय सहयोग दिया है।

यहां राजस्थान जैन सभा के उत्साही कार्यकर्ताओं को साधुवाद देना तो ऐसा ही होगा जैसा वह स्वयं मुझ पर ही लौट कर वापिस आ जाए।

चैनसुखदास न्यायतीर्थ

सम्मतियां

[गत वर्ष राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयंती स्मारिका पर हमें प्रमुख विद्वानों, पत्रकारों एवं साहित्यकारों की जो सम्मतियां प्राप्त हुईं उनमें से कुछ को हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं।]

महावीर जयन्ति स्मारिका वर्ष ६२ मिली। कृति बहुत ही सुन्दर है। कई लेख तो महत्वपूर्ण सूचनाएं देते हैं। मुझे सचमुच खेद है कि मैं इस यज्ञ में अपनी आहुति नहीं डाल सका।

रामसिंह तोमर
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, शांति निकेतन, विश्वभारती

भगवान महावीर की पावन जयन्ति पर प्रकाशित इस स्मारिका का अत्यन्त महत्व है। यह स्मारिका भगवान महावीर के विचार एवं सिद्धान्तों का प्रतीक है। इसमें प्रकाशित लेख, कविता, चित्र आदि सभी उन्नत रुचि, उत्कट साहित्य प्रेम, एवं उत्कृष्ट सांस्कृतिक परम्परा के द्योतक हैं। यह स्मारिका जैन धर्म, जैन संस्कृति एवं भारतीय दर्शन का ज्ञान ही नहीं कराती, अपितु इससे भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकता है। राष्ट्रीय नव निर्माण के युग में ऐसी पत्रिकाओं का तो और भी अधिक महत्व है, क्योंकि इस स्मारिका का अनुशीलन करके प्रत्येक व्यक्ति सहज में ही मानवता, प्रेम, समता अहिंसा, त्याग, संयम आदि की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह स्मारिका कम मूल्यवान नहीं है, क्योंकि इसमें पुष्पदंत की भाषा, व्याकरण साहित्य, चम्पूकाव्य, रासो साहित्य आदि पर बड़े ही शोधपूर्ण लेख संकलित किये गये हैं। निस्सन्देह यह स्मारिका भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करती हुई प्राचीन एवं नवीन विचारों में सामंजस्य स्थापित करेगी और आधुनिक जीवन में व्याप्त विषमताओं को दूर करने के लिए समत्व बुद्धि एवं मानवता प्रेम का प्रचार करेगी ऐसा मेरा विश्वास है। इसके सुयोग्य सम्पादन एवं सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिये मैं हार्दिक बधाई देता हूं।

डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
एन. आर. ई. सी. कालेज, खुरजा (उ. प्र.)

महावीर जयन्ति स्मारिका की प्रति मिली। मिलते ही पन्ने पलटे तो बडी प्रसन्नता हुई। ऐसा जान पडता है, आपने गागर में सागर भर दिया है। जैन धर्म, जैन दर्शन तथा भगवान महावीर से सबंधित इतनी सामग्री एक स्थान पर अन्यत्र कम ही मिलती है। कई लेख तो बड़े ही उपयोगी हैं। इनमें मौलिक चिन्तन है। कई लेख विचार प्रेरक हैं, ज्ञानवर्द्धक हैं। मुझे विश्वास है कि इस संग्रह को जो भी पढ़ेगा, उसे लाभ होगा।

मैं इसके लिये सम्पादक तथा जयपुर की राजस्थान जैन सभा को बधाई देता हूं।

यशपाल जैन, दिल्ली

स्मारिका बहुत ही सुन्दर निकली। लेखों के शीर्षकों से आकर्षण होता ही है किन्तु अभी एक ही लेख डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख मथुरा के पुरातत्व पर पढा। वह तो बहुत ही अच्छा है और उसमें मौलिकता भी है और नया प्रकाश भी।

बाबू छोटेलाल, कलकत्ता

महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रेल १९६२, पर आपततः एक दृष्टि डालने से इसकी उपयोगिता दिखाई देने लगती है। जैन धर्म तथा साहित्य से सम्बद्ध परिचयात्मक तथा अनुसन्धानात्मक लेखों का यह संग्रह जिज्ञासुओं और अनुसन्धाताओं दोनों के लिये समान रूप से पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है। विभिन्न विषयों से सम्बद्ध इन लेखों को यदि विषय-क्रमानुसार संजो दिया जाता तो इससे स्मारिका की उपयोगिता कहीं अधिक बढ़ जाती।

डा० सत्यदेव चौधरी, शास्त्री, एम. ए. (हि. सं.) पी. एच. डी.
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

स्मारिका का निस्सन्देह स्थायी मूल्य है। कला, साहित्य, स्थापत्यादि सभी क्षेत्रों की पर्याप्त उपयोगी सामग्री आपने सुव्यवस्थित एवं सुसंपादित रूप में प्रदान की है। चित्रों से स्मारिका की छवि और भी बढ गई है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में जैन अपभ्रंश एवं साहित्य का विशेष योगदान है इस दृष्टि से भी यह संग्रहणीय है। मैं ऐसे अंक के लिये आपकी सभा को एवं सम्पादक महोदय को हृदय से बधाई देता हूं।

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, अलीगढ़

आज महावीर जयन्ती स्मारिका का अंक मिला। एतदर्थ मैं कृतज्ञ हूं। अंक में भगवान महावीर से सम्बद्ध लेख तो हैं ही, कुछ शोध पूर्ण निबन्ध भी हैं। समूची स्मारिका उत्तम सामग्री से संयुक्त है। मेरी स्मृति में महावीर जयन्ती पर ऐसा विशेषांक आज तक कभी प्रकाशित नहीं हुआ। उसका अन्तःपक्ष और बाह्य–साज–सज्जा दोनों ही आकर्षक हैं। आशा है ऐसे विशेषांक प्रकाशित होते रहेंगे।

डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

स्मारिका में तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक लेखों का उपयोगी सुन्दर संग्रह है जो पाठकों को आकर्षित करेगा। जैन वाङ्मय की दर्शन, साहित्य, इतिहास आदि विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व भी स्मारिका में अच्छा हुआ है। इस प्रकाशन की सफलता पर बधाई।

डा० सुमतिचन्द्र, अमरोहा (मुरादाबाद)

महावीर जयन्ती स्मारिका में भगवान महावीर के जीवन चरित्र और उनके उपदेशों पर तो मुख्य रूप से लेख संकलित हैं ही, जैन दर्शन, जैन साहित्य और जैन कला पर भी महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह किया गया है। इन लेखों से पाठक सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों को समझेंगे जो उनके जीवन में अवश्य प्रेरणापरक सिद्ध होंगे। यथा स्थान चित्रों से पत्रिका की उपयोगिता और भी बढ गई है। आशा है यह सभी के लिये समान रूप से उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगी।

दैनिक नवभारत टाइम्स, दिल्ली

गत अप्रेल सन १९६२ में महावीर जयन्ती के अवसर पर राजस्थान जैन सभा जयपुर द्वारा प्रकाशित लगभग २५० पृष्ठों की यह स्मारिका एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। लगभग ५६ प्रतिष्ठित विद्वानों के जैन धर्म, साहित्य एवं संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर शोध, खोज पूर्ण निबन्धों का स्मारिका में सुन्दर चयन हुआ है। इन निबन्धों में ५ अंग्रेजी भाषा के भी हैं। कलापूर्ण जैन मूर्तियों एवं मन्दिरों के चित्रों से ग्रन्थ की शोभा और अधिक बढ गई है। स्मारिका का मूल्य मात्र दो रुपया है। उपयोगी प्रकाशन के लिये सम्पादक व प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन सन्देश, मथुरा

महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित यह स्मारिका अपने ढंग का पहला प्रयास है। इस स्मारिका का अनेक दृष्टियों से महत्व है। भगवान महावीर के सर्वजीव समभाव, सर्व जाति समभाव और सर्व धर्म समभाव के पुनीत सिद्धान्तों एवं अन्य विषयों पर उसमें विवेचनामय लेख हैं। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य, कला, संस्कृति पर भी विभिन्न विद्वानों की शोधपूर्ण रचनाएं इसमें है। इसमें प्रकाशित लेख एवं चित्र जैन संस्कृति ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति की विशेषता बतलाने वाले हैं। इस प्रकार की स्मारिकाएं पाठकों को भारतीय धर्मों की विविधता में भी भावात्मक एकता की ओर मानव का ध्यान आकृष्ट करती है। इस प्रकार की स्मारिकाएं प्रत्येक महावीर जयन्ती के अवसर पर निकलनी चाहिए।

इसकी छपाई, सफाई तथा चित्र आकर्षक एवं सुन्दर है। मूल्य भी स्मारिका का काफी कम है। ऐसे सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन के लिये सम्पादक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

दैनिक राष्ट्रदूत, जयपुर

महावीर जयन्ती के उपलक्ष में राजस्थान जैन सभा ने यह बडा भारी स्मारक ग्रन्थ प्रकट किया है। सभा का यह परिश्रम अतीव सफल हुआ है। विद्वानों के लेख बहुत पढने योग्य हैं तथा चित्र भी जैन कला के जीते जागते प्रदर्शन ही हैं।

जैन मित्र, सूरत

युग प्रवर्तक वर्धमान महावीर द्वारा अनुचालित जैन धर्म को प्राचीन भारतीय संस्कृति में विशेष गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रस्तुत स्मारिका में प्रबुद्ध लेखकों द्वारा वर्धमान महावीर के जीवन, जैन धर्म के इतिहास, श्रमण शक्ति के पुनरुद्धार तथा सम्बन्धित दर्शन, संस्कृति, कला, साहित्य, संदेश आदि पर सार गर्भित विचार प्रगट किये गये हैं। इनसे जैन जीवन की व्यवस्थित धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराको सुलझे हुए रूप में समझने के लिये स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है।

संक्षेप में, प्रस्तुत स्मारिका जैन धर्म की सभी विधाओं व्यवहारों और विश्वासों पर बौद्धिक आकलन उपस्थित करती है। इसका अध्येता जैन धर्म की विस्तृत भाव भूमि से परिचित होकर अन्य धर्मों के मध्य उसकी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्ति के संदर्भ में विवेकपूर्ण

विवेचना प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता है अतः इसे वस्तुतः उल्लिखित प्रकाशन संस्था की एक महत्वपूर्ण एवं उपादेय उपलब्धि ही समझना चाहिये।

संपादक, नवभारत टाइम्स, बम्बई

सन् १९६२ में महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर राजस्थान जैन सभा ने यह स्मारिका प्रकाशित की है। इसमें विभिन्न विषयों के विद्वानों के अठावन सारगर्भित, विद्वत्तापूर्ण तथा पठनीय लेख हैं, पांच अंग्रेजी में हैं। लेख भगवान महावीर स्वामी, जैन धर्म, जैन संस्कृति आदि विषयक तो हैं ही, पर प्राचीन शिल्प, साहित्य तथा इतिहास सम्बन्धी भी हैं। स्मारिका संग्रहणीय तथा पठनीय है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिल्ली

स्मारिका प्राप्त हुई। यह जैन धर्म, समाज, कला, संस्कृति विषयक अधिकारी विद्वानों का श्रेष्ठ संग्रह है। इसके संपादन और संग्रह के लिये आप बधाई के पात्र हैं।

वासुदेवसिंह, आर. एम. पी.
डिग्री कॉलेज, सीतापुर

महावीर जयन्ती के अवसर पर स्मारिका जैसी शोधपरक पुस्तिका का अल्प समय में ही प्रकाशन कर आपने निश्चयरूपेण एक महत्वपूर्ण तथा अत्यधिक आवश्यक परम्परा का शुभारम्भ किया है। इस विशालकाय पत्रिका के किसी भी भाग पृष्ठ में भर्ती की सामग्री नहीं है बल्कि श्रमसाध्य मानसिक उपलब्धि के रूप मे इस पत्रिका का स्थायी महत्त्व है। पत्रिका के एक ही अंक में एक साथ इतनी बड़ी संख्या में श्रेष्ठ लेखकों की विविध विषयों पर अमूल्य सामग्री का एकत्रीकरण करना कुशल सम्पादकों का ही कार्य है। स्मारिका एक सुन्दर, पठनीय तथा स्थायी महत्व का एक उपयोगी प्रकाशन है।

रतनचन्द जैन
हीरा बाग, बम्बई

It is really worthy of the occasion, and contains a good deal of studied matter and useful information. Some of the articles will serve as helpful sources for the biography of Mahavira.

Greetings to Editor who has edited it so ably.

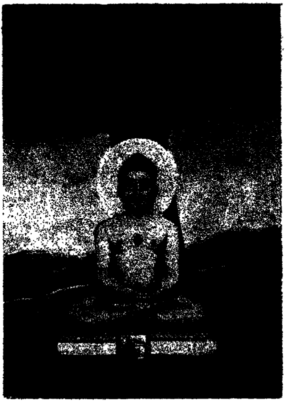
—**Dr. A. N. Upadhya**, Kolhapur

अल्पमूल्य में बडी ही उपयोगी सामग्री भगवान महावीर व उनके सिद्धान्तों के विषय में प्रकाशित की, उसके लिये बधाई—

रिषभदास रांका, बम्बई

स्मारिका पूरी तो नहीं देख पाया पर चयन बड़ा ही सुन्दर है। लेख भी बड़े विद्वत्तापूर्ण हैं।

श्रीचन्द रामपुरिया, कलकत्ता



महावीर स्तवन

नमः श्री वर्द्धमानाय, निर्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानांयद्विद्यादर्पणायते ॥
(आचार्य समन्तभद्र)

जिनका ज्ञान तीनों लोकों सहित आलोक को जानने के लिए दर्पण की तरह है, जिनकी आत्मा से सम्पूर्ण बाह्य और अभ्यन्तर विकृतियाँ सदा के लिए दूर हो गयी हैं उन श्री वर्द्धमान भगवान को मेरा प्रणाम है ।

सुरेन्द्र – मुकुटा – श्लिष्ट पाद – पद्मांशु–केशरम् ।
प्रणमामि महावीरं लोक—त्रितय—मंगलम् ॥
(जिनसेनाचार्य)

जिनके चरण कमल की किरण केशर का आलिंगन सुरेन्द्र का मुकुट करता है, और जो तीन लोक के लिए मंगल स्वरूप हैं उन मंगलमय महावीर स्वामी को मैं प्रणाम करता हूं ।

जीयादगाधः स-विवोधवार्धिर्वीरस्य रत्न त्रय लब्धये वः
स्फुरत्-पयो बुद्-बुद बिन्दु मुद्रां मिदं यदन्तः त्रिजगत् तनोति ॥
(महाकवि हरिचन्द्र)

भगवान वीर का वह अगाध ज्ञान समुद्र आप लोगों की रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) प्राप्ति का कारण बने, जिसके भीतर ये तीनों जगत् सिर्फ जल के बुद बुदे की शोभा को धारण करते हैं ।

जरा जरत्याः-स्मरणीय-मीश्वरं, स्वयं-वरीभूत-मनश्वरश्रियः ।
निरामयं वीत मयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृसुरा-सुरैःस्तुतम् ॥
(आचार्य वीरनन्दी)

जिनके पास जरा कभी नहीं आती, जिनको शाश्वत लक्ष्मी ने स्वयं ही आकर वरण कर लिया है, जो सम्पूर्ण व्याधियों रहित हैं, जो वीत भय हैं जिन्होंने भव का भी विनाश कर दिया है, जिनका मनुष्य सुर और असुर स्तवन करते हैं उन भगवान महावीर को मैं प्रणाम करता हूं ।

यो विश्वं वेद वेद्यं जनन-जन-निधेर्भङ्गिनः पार-दृश्वा ।
पौर्वा-पर्या-विरुध्दं वचन-मनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ॥
तं वन्दे-साधु वन्द्यं निखिल-गुण-निधिं ध्वस्त-दोषद्विषन्तम् ।
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल निलयं केशवं वा शिवं वा ॥
(भट्टाकलंक देव)

जिन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जिन्होंने बृहत् तरंगों वाले संसार समुद्र के पार को देख लिया है। जिनके अनुपम एवं निष्कलंक वचन पूर्वापर विरोध रहित हैं, उन संतों के द्वारा वन्दनीय, सम्पूर्ण गुणों के निधि, एवं दोष रूपी दुश्मनों के विध्वंसक भगवान को मैं नमस्कार करता हूं। भले ही वह बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, केशव हो अथवा शिव हो।

भव-बीजांकुर-जलदा रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
(हरिभद्र सूरि)

संसार के बीजांकुर के लिये मेघ के समान रागादिक समस्त विकृतियां जिनकी नष्ट हो गयी हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूं चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिनेन्द्र हो।

भगवान महावीर की धर्म देशना

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

हवा, पानी और भोजन का जीवन मे जो महत्व है वही महत्व मानव जीवन मे धर्म का भी है। किन्तु मनुष्य भोजन, पानी और हवा की जितनी उपयोगिता अनुभव करता है उतनी धर्म की नही। यदि उसकी वास्तविक उपयोगिता उसके अनुभव में आ जाए तो फिर न धर्मोपदेश की जरूरत है और न धर्म की विविध व्याख्याओं की। मनुष्य को सबसे पहले जिस तथ्य के समझने की आवश्यकता है वह यही है। धर्म तो आत्मा की खुराक है। वह एक रस होकर उसे सबल, समृद्ध और सफल बनाने का एक प्रधान तत्त्व है।

जब तक मनुष्य इस तथ्य को नही समझता तब तक वह महावीर के जीवन दर्शन व उनकी धर्म देशना के स्वरूप को ठीक रूप से हृदयगम नही कर सकता और न उसे जीवन के साथ एक रस ही बना सकता है।

धर्म तत्त्व क्या है ?

जैन शास्त्रो मे वर्णित बारह अनुप्रेक्षाओ (गम्भीर चिन्तन) मे एक अनुप्रेक्षा का नाम है धर्म स्वाख्यातत्व (धर्म सु आख्यातत्व) अर्थात् धर्म का यथार्थ रूप से निरूपण किया जाना। धर्म का यथार्थ रूप से निरूपण हुआ है या नही यह वस्तुत निष्पक्ष चिन्तन का विषय है। धर्म क्या है ? और उसे ठीक रूप से प्रतिपादित किये जाने का क्या अर्थ है ? ये दोनो ही महत्व पूर्ण प्रश्न है। धर्म शब्द जिस धातु स बना है उसका अर्थ है धारण करना और इस धारण का भी अर्थ है आत्मा के चिरतन सुख का कारण। आत्मा अमर है इसलिए उसका सम्बन्ध केवल इस लोक से नही, पर लोक से भी है। चाहे इहलौकिक सुख हो और चाहे पारलौकिक यह निश्चय है कि धर्म के बिना उसकी प्राप्ति कभी नही हो सकती। यहा यह भी नही भूलना चाहिए कि हम अपन पारलौकिक जीवन को समृद्ध एव पवित्र बनाने के लिये पहले इह लौकिक जीवन को परिष्कृत करना चाहिये। मार्गस्थ मनुष्य के सोचने का तरीका यही है।

उस धर्म का स्वरूप है सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण।[1] यही तीनो चीजे बन्धन की मुक्ति का कारण[2] है। इन्ही का विस्तार या सक्षेप अनेकान्त या अहिंसा है। सच्ची श्रद्धा कभी किसी को अनेकान्त के बिना प्राप्त नही हो सकती। अनेकान्त श्रद्धा और ज्ञान दोनो का सस्कार करता है जैसे श्रद्धा और ज्ञान के क्षेत्र मे अनेकान्त आवश्यक है वैसे ही आचरण के क्षेत्र मे अहिंसा की अनिवार्यता है। धर्म मनुष्य के श्रेय और प्रय दोनो का साधन है। उसके बिना न लौकिक अभ्युदय प्राप्त हो सकता है और न नि श्रेयस।

---

१ सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
(रत्नकरण्ड श्रावका चार)

२ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग.
(तत्त्वार्थसूत्र १।१

धर्म का सर्वोदय स्वरूप

भगवान महावीर ने जिस तीर्थ[1] का प्रणयन किया है और उसके द्वारा जिस धर्म तत्त्व को मानव लोक के सामने रखा है उसका स्वरूप सर्वोदय है, उस धर्म मे न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की और न काल की और न लिंग आदि की। धर्म जब आत्मा की खुराक बनकर आता है तब इस प्रकार की सीमाएं ही नहीं बन सकती। जब वह आत्मा के लिये है तब सम्पूर्ण विश्व के सभी आत्माओ के लिये समान रूप से वह क्यो न आवश्यक होगा। जैसे शरीर के लिए आवश्यक हवा और पानी आदि तत्त्वों की सीमाए स्वीकृत नही है वैसे ही धर्म की किसी भी प्रकार की सीमा कैसे स्वीकृत हो सकती है। धर्म के साथ केवल मानव का सम्बन्ध जोडना भी एक प्रकार की सकीर्णता है। इसलिए 'मानव धर्म' आदि शब्दो का प्रयोग भी पूर्णत उदारता का सूचक नही है। वह तो प्राणिमात्र के आनन्दात्मक स्वरूप को प्राप्त करने का साधन है। कीट, पतग, भृंग, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि सभी प्राणी मात्र किसी न किसी रूप मे उससे लाभान्वित हो सकते है। मानव मन मे अगर धर्म ठीक रूप से उतर जाए तो न केवल उससे उसको ही लाभ होगा अपितु, पशु, पक्षी, कीट, पतग, वृक्ष, लता, आदि को भी मानव की ओर से अभय मिल जाने के कारण जीवन मे अपेक्षा कृत शान्ति मिल सकती है।

धर्म का सर्वोदय स्वरूप तब तक मनुष्य को प्राप्त नही हो सकता जब तक कि उसके मन का आग्रह दूर नही हो जाता क्योकि आग्रह ही विग्रह पैदा करता है। मन की हिंसा का नाम आग्रह है, जब वही आग्रह बाहर आ जाता है तब वह बाह्य हिंसा का रूप धारण कर लेता है। अत धर्म का स्वरूप समझने एव उसे जीवन मे प्रवाहित करने के लिये अनेकान्त की अनिवार्य आवश्यकता है। वह मनुष्य मे समझौते की भावना उत्पन्न करता है और सह योग मूलक समाज रचना पर जोर देता है। जब हम घट पटादि सामान्य पदार्थों का स्वरूप भी अनेकान्त के बिना नही समझ सकते तब आत्मा की खुराक बनकर आनेवाले धर्म का स्वरूप उसके बिना कैसे समझ सकते है।

धर्म के सर्वोदय स्वरूप मे पापो के अहकार की उत्तेजना नही होती और न लोक मूढता आदि का आतक होता है। उसमे प्रत्येक वस्तु लक्षण, प्रमाण नय और निक्षेप के द्वारा परखी जाती है। धर्म के सर्वोदय स्वरूप म केवल वही सामाजिकता पनप सकती है जिसम शोषण न हो और न हो ऊँच नीच के भेद भाव। मानव केवल मानव हो और उसकी महत्ता का मूल्याकन गुणो के आधार पर हो न कि जाति, कुल पद प्रतिष्ठा, धन और वैभव आदि के आधार पर, उसमे सहयोग, सहअस्तित्व, सह प्रतिष्ठा आदि मानवोचित गुणो पर बल दिया गया है।

भगवान महावीर की देशना की यह विशेषता रही है कि वह प्रत्येक व्यवस्था को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिवर्तित करने की उपयोगिता का समर्थन करती है। परम्पराओ

---

१ सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्य कल्पम्
सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकर निरन्तम्
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ॥
(समन्त भद्राचार्य)

की अपेक्षा यहां परीक्षा, तर्क और दलीलों को अधिक श्रेय प्राप्त है। दया, दम, त्याग, समाधि आदि सब मानवीय गुणों के चरम विकास का समर्थन करते हुए भी यहां किसी भी व्यवस्था का प्रतिवाद नहीं किया गया। भगवान के सर्वोदय तीर्थ में हर जगह निरतिवादी व्यवस्था को महत्त्व दिया गया है। हिंसा और अहिंसा को भी इसी कसौटी पर कसा गया है। स्वयं स्याद्वाद भी इस परीक्षण की कसौटी से बचा नहीं है; इसीलिये सम्यगनेकान्त, मिथ्याऽनेकान्त, सम्यगेकान्त, मिथ्यैकान्त आदि शब्दों का जैन दर्शन में प्रयोग हुआ है। धर्म के सर्वोदय स्वरूप को हम सर्व जीव समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्व जाति सम भाव के रूप में समझ सकते हैं। यहां मनुष्य कृत विषमताओं का कोई स्थान नहीं; चाहे वे कितनी ही पुरानी क्यों न हों।

किन्तु एक प्रश्न

यहां स्वभावतः प्रत्येक विवेकी मनुष्य के हृदय में यह प्रश्न उपस्थित हुए बिना न रहेगा कि जब भगवान महावीर का तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है तब संसार में उसका एकछत्र शासन क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर आज के करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले दुनियां के प्रख्यात तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने दिया है। उन्होंने ही भगवान के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ बतलाया और उन्होंने ही यह विकट प्रश्न उठाकर उसका उत्तर भी दिया। भगवान महावीर की स्तुति करते हुए वे अपने युक्त्यनुशासन नामक स्तोत्र में इस प्रकार कहते हैं—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचना-नयो वा ॥
त्वच्छास-नैकाधि-पतित्व-हेतु
प्रभुत्व-शक्ते-रपवाद-हेतुः ॥

अर्थात् हे भगवान तुम्हारे शासन की एकाधिपतित्व रूप प्रभुत्व शक्ति के अपवाद के कारण तीन हैं। पहला कारण है कलिकाल। कलिकाल के कारण ही तुम्हारे शासन का प्रचार अवरुद्ध है; किन्तु काल के प्रभाव को तो व्यर्थ किया जा सकता है। जैसे रात्रि का समय ही ऐसा है कि उसमें अन्धकार होना अनिवार्य है; किन्तु मनुष्य ने अपने महान प्रयत्नों से पहले दीपक और फिर बिजली के प्रकाश के द्वारा उसके सारे प्रभाव को व्यर्थ कर दिया अतः आचार्य समन्तभद्र उसे विशेष महत्व देना नहीं चाहते और उसका दूसरा कारण बतलाते हुए कहते हैं कि लोगों के मन साफ नहीं है। यदि तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित धर्म तत्त्व को सुनने वालों के मन स्वच्छ एवं निष्पक्ष होते तो तुम्हारी प्रभुत्व शक्ति कभी अपवाद का शिकार नहीं बनती किन्तु यहां भी प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लोगों के मन साफ क्यों नहीं है! अगर उनके सामने तत्त्व निरूपण ठीक रूप में रखा जाय तो वे अवश्य ही उसकी वास्तविकता

---

१. आग्रही वत निनीषति युक्तिम्
तत्र, यत्रमतिरस्य निविष्टा ॥
पक्षपात रहितस्य तु युक्ति।
यंत्र, तत्रमतिरेति निवेशम् ॥
(आचार्य हरिभद्र सूरि)

समझेंगे और उनका मन स्वयं ही साफ हो जायगा। इसलिये दूसरे कारण को भी अपर्याप्त मानते हुए आचार्य फिर तृतीय कारण का निर्देश करते हुए कहते है कि वक्ता धर्म तत्त्व का विवेचन करना ठीक नही जानता। वह उसमे नय दृष्टि का उपयोग नही करता। जैन होकर भी जो वस्तु विवेचन मे सापेक्ष दृष्टि को नही अपनाता वह कभी सफल धर्मोपदेष्टा नही हो सकता।

इस अन्तिम कारण को ही आचार्य सर्वाधिक महत्त्व देते है और उनका इस महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर स्पष्ट इगित है कि नय दृष्टि से विवेचन करने वाले वक्ताओ के बिना धर्मतत्त्व अच्छी तरह 'आख्यात'—प्रतिपादित नही होता। आज यदि भगवान महावीर की धर्म देशना के स्वरूप को यथार्थ रूप मे दुनिया के सामने रखा जाय और वह केवल उन्ही लोगो के द्वारा रखा जाय जिनके जीवन मे उस प्रकार का धर्म पहले स्वय उतर गया हो तो इस धर्म प्रचार की समस्या का समाधान होने मे देर न लगे। आज भी जैन समाज मे वक्ताओ की कमी नही है, किन्तु आचार्य समन्तभद्र द्वारा निर्दिष्ट वक्ता कहा है? अपने आत्मा मे चारित्र और ज्ञान का मणिकाचन सयोग के समान सुन्दर समन्वय रखने वाले थोडे से ही वक्ता वह काम कर सकने है जो आचार्य समन्तभद्र ने किया। किन्तु दु ख है कि जैन धर्म आज रूढियो की चक्की मे पिसा हुआ है। उसका कोई ऐसा अग नही है जिसपर मूढताए हावी न हो। आचार्य समन्तभद्र ने धर्मतत्त्व को समझने के लिए सर्व प्रथम लोक मूढता देवमूढता एव गुरु मूढता आदि मूढताओ पर प्रहार करने का आदेश दिया है। किन्तु यह कितना आश्चर्य है कि यहा तो मूढताएँ ही अधिकाश धर्म बनी हुई हैं। यह एक ऐसा घना मोटा आवरण है जिस तोडने के लिए विवेक का विशाल घन चाहिए। भगवान महावीर ने मूढताओ को तोडकर धर्म को निरावरण एव निरापद किया था। हमे भी आज धर्म के मूल रूप को सुरक्षित रखते हुए वही करना चाहिए जिसके लिए आज के करीब अढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने सकेत किया था।

महावीर के शासन सूत्र

आचार्य श्री तुलसी

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। तीर्थ उनकी तपोभूमि था और उनकी तपोभूमि से तीर्थ का उद्भव हुआ था। भगवान् ने तीर्थ की स्थापना ही नही की उसके आधार भी दिए। वे आधार किसी भी समाज के आधार बन सकते है। भगवान् ने तीर्थ के आठ प्रकार बताये--

१ निश्शंकित
२ निष्कांक्षित
३ निर्विचिकित्सा
४ अमूढ दृष्टि
५ उपबृ हण
६ स्थिरीकरण
७ वात्सल्य
८ प्रभावना

पहला आधार आस्था या अभय है। एक सूत्रता का मूल बीज आस्था है। स्व सम्मत लक्ष्य के प्रति आस्थावान् हुए बिना कोई भी प्रगति नही कर सकता। लक्ष्य के साथ तादा म्य हो यह सगठन की पहली अपेक्षा है। अभय भी ऐसी ही अनिवार्य अपेक्षा है। मन मे भय हो तो लक्ष्य को पकडा ही नही जा सकता और पूर्व-गृहीत हो तो उस पर टिका नही जा सकता। भगवान् महावीर की दृष्टि मे सब दोषो का मूल है हिंसा और हिंसा का मूल है भय। कोई व्यक्ति अभय होकर ही अपने लक्ष्य की ओर स्वतन्त्र गति से चल सकता है।

सगठन का दूसरा आधार है लक्ष्य के प्रति दृढ अनुराग या वैचारिक स्थिरता। जगत मे अनेक सगठन और उनके भिन्न-भिन्न लक्ष्य होते है। स्व-सम्मत लक्ष्य के प्रति दृढ अनुराग न हो तो मन कभी किसी को पकडना चाहता है और कभी किसी को। विचारो मे एक अधड सा चलता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और सगठन दोनो ही स्वस्थ नही बन सकते।

तीसरा आधार है स्वीकृत साधनो की सफलता मे विश्वास। हर सगठन का अपना साध्य होता है और अपने साधन होते है। किसी भी साधन से तब तक साध्य नही सधता जब तक साधक को उसकी सफलता मे विश्वास न हो। इस साधन से अमुक साध्य की सिद्धि निश्चित होगी--ऐसा माने बिना सगठन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

सगठन का चौथा आधार-स्तम्भ अमूढ दृष्टि है। दूसरे विचारो के प्रति हमारी सद् भावना हो यह सही है पर यह सही नही कि अपनी नीति के विरोधी विचारो के प्रति हमारी सहमति हो। यदि ऐसा हो तो हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नही रह सकता। और हमारे सग ठन और कार्य-प्रणाली का कोई स्वतन्त्र रूप भी नही रह सकता। सगठन के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि उसका अनुयायी विनम्र हो पर सब समान हैं इस अविवेक का समर्थक न हो।

पाचवा आधार है उपबृंहण। सगठन की आत्मा है– गुण या विशेषता। गुण और अवगुण ये दोनो मनुष्य के सहचारी हैं। गुण की वृद्धि और अवगुण का शोधन करना सगठन के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। पर इसमे बहुत सतर्कता बरती जानी चाहिए। अवगुण का प्रतिकार होना चाहिए। पर उसे प्रसारित कर सगठन के सामने जटिलता पैदा नही करनी चाहिए। गुण का विकास करना चाहिए पर उसके प्रति ईर्ष्या या उन्माद न हो ऐसी सजगता रहनी चाहिए। इसी सूत्र के आधार पर यह विचार विकसित हुआ था कि "जो एक साधु की पूजा करता है, वह सब साधुओ की पूजा करता है यानी साधुता की पूजा करता है। जो एक साधु की अवहेलना करता है, वह सब साधुओ की अवहेलना करता है यानी साधुता की अवहेलना करता है।"

सगठन का छठा आधार है स्थिरीकरण। अनेक लोगो का एक लक्ष्य के प्रति आकृष्ट होना भी कठिन है और उससे भी कठिन है, उस पर टिके रहना। आन्तरिक और बाहरी ऐसे दबाव होते हैं कि आदमी दब जाता है। शारीरिक और मानसिक ऐसी परिस्थितिया होती है कि आदमी पराजित हो जाता है। तब वह लक्ष्य को छोड दूर भागना चाहता है। उस समय उसे लक्ष्य मे फिर मे स्थिर करना सगठन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

स्थिरीकरण के हेतु अनेक हो सकते है। उनमे सबसे बडा हेतु है वात्सल्य। और यही सातवा आधार है। सेवा और सविभाग इसी सूत्र पर विकसित हुए है। भगवान ने कहा–असविभागी को मोक्ष नही मिलता। जो सविभाग को नही जानता, वह अपने आपको अनगिन बन्धनो से जकड लेता है, फिर मुक्ति की कल्पना ही कहा ? इसी सूत्र के आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यो ने भगवान के मुह से कहलाया कि जो रोगी साधु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है और एकात्मकता की भाषा मे गाया गया।

'भिन्न–भिन्न देश मे उत्पन्न हुए, भिन्न–भिन्न आहार से शरीर बढा किन्तु जैसे ही वे जिन–शासन मे आए वैसे ही सब भाई हो गए।' यह भाईचारा और सेवाभाव ही सगठन की सुदृढ़ आधार–शिला है।

आठवा आधार है प्रभावना। वही सगठन टिक सकता है जो प्रभावशाली होता है। लक्ष्यपूर्ति के साधनो को प्रभावशाली बनाए रखे बिना उनकी ओर किसी का झुकाव ही नही होता। दूसरो के मन को भावित करने की क्षमता रखने वाले ही सगठन को प्रभावशाली बना सकते है। विद्या, कला, कौशल, वक्तृत्व आदि शक्तियो का विकास और पराक्रम सहज ही जन–मानस को प्रभावित कर देता है। सगठन के लिए ऐसे पारगामी व्यक्ति भी सदा अपेक्षित होते हैं।

सगठन के लिए जो आठ आधार भगवान ने बताए, उनमे से पहले चार वैयक्तिक हैं। कोई भी व्यक्ति उनसे अपनी आत्मा की सहायता करता है और साथ–साथ सघ को भी लाभान्वित करता है। अन्तिम चार से व्यक्ति दूसरो की सहायता कर सघ को शक्तिशाली बनाता है।

महावीर जयन्ती के अवसर पर सब जैन इस पर चिन्तन करें कि वे जैन–शासन की समुन्नति के लिए इन आधार–सूत्रो को कितना आलम्बन लेते हैं।

स्वयंभूयुग की अपभ्रंश काव्य-धारा

डा० देवेन्द्रकुमार, एम. ए पी-एच डी

[स्वयभूयुग की अपभ्रंश कविता के विवेचन की दृष्टि से 'स्वयंभूच्छद' का बहुत महत्व है। वह इस युग की कविता का "अलबम" है। कवियों ही नहीं, काव्यविधाओं और विषयवस्तु और रसकी दृष्टि से भी उसमें विविधता है। प्रबन्ध और गीतकविता, पाडित्य और लोकजीवन, दोनों से सबध रखने वाली रचनाएं, उसमें सग्रहीत हैं। जिन प्रबध काव्यों के अवतरण इसमें उद्धृत है वे महाभारत और राम-कथा से सम्बन्धित है। —सम्पादक]

इतिहास के अनुक्रम मे उपलब्ध अपभ्र श कवियो मे, महाकवि स्वयभू सबसे पुराने है। उनकी रचनाएँ अपभ्र श कविता के पूर्ण विकास को बताती है, उसके प्रारम्भिक विकास को नही। स्वयम्भू अपभ्र श की उस कविता के पूर्ण विकास थे जो उनसे पूर्व से विकसित हो रही थी। पूर्व स्वयम्भू-युग की यह अपभ्र श कविता, किस रूप रग की थी यह जानने को कोई साहित्यिक अवशेष हमारे पास नही। स्वयम्भू और उनकी कृतियो को ही केन्द्र मे रख कर हम इस युग का आभास पा सकते है। इसलिए, पूर्व परपरा से लेकर, स्वयम्भू के समकाल तक की इस अपभ्र श कविता को हम स्वयम्भू के नाम से पहचानना चाहेगे। इसके दो प्रमुख कारण है। एक तो स्वयम्भू इस युग के स्वय स्वयम्भू कवि है दूसरे उन्होने अपने 'पउम चरिउ' मे, पूर्ववर्ती अपभ्र श काव्य रचना शैलियो का उल्लेख किया है। तीसरे उन्होने स्वयम्भूच्छद मे लगभग एक दर्जन कवियो की रचनाओ के अवतरण उदाहरण रूप मे दिए है। ये अवतरण स्वयम्भू युग की प्रवृत्तियो को समझने के लिए ही महत्त्वपूर्ण नही है, अपितु उनके युग की अनुपलब्ध रचनाओ के अवशिष्ट चिह्न भी है। इन अवतरणो के साथ स्वयम्भू ने इनके रचयिताओ के नामो का भी उल्लेख किया है, इससे उनका महत्त्व और बढ जाता है। इससे सहज ही जाना जा सकता है कि, इस युग के निर्माण मे एक दो अपभ्र श कवियो का ही हाथ नही, अपितु कई कवियो का योगदान है। स्वयम्भू ने उन्हे सुरक्षित रखकर, भारतीय साहित्य के इतिहास मे बहुत बडा काम किया है। इसलिए भी उस युग को स्वयम्भू युग कहना ठीक है। स्वयम्भू ईस्वी ८ और ९ वी सदियो के मध्यबिंदु मे हुए, अत इन सदियो की अपभ्र श कविता को 'स्वयम्भू-युग' कहा जा सकता है। स्वयम्भू के सिवा जिन कवियो ने इस युग का निर्माण किया वे हैं चतुर्मुख, माउरदेव, सुद्धशील, जिनदास, अज्जदेव, सुत्त, चइल्ल, विग्रह और गोइन्द। चतुर्मुख के नाम का उल्लेख सस्कृत के प्रसिद्ध कवि बाण-भट्ट ने अपनी कादम्बरी मे किया है और स्वयम्भू ने अपने पउम चरिउ मे। लगता है, वह, स्वयम्भू के पूर्ववर्ती, अपभ्र श के महाकवि थे और भारतीय साहित्यकारो मे उनका नाम आदर से लिया जाता था।

स्वयम्भू युग की अपभ्रंश कविता के विवेचन की दृष्टि से 'स्वयम्भूच्छंद' का बहुत महत्त्व है। वह, इस युग की कविता का "अलबम" है। कवियों ही नहीं, काव्य विधाओं और विषय वस्तु और रस की दृष्टि से भी उसमें विविधता है। प्रबन्ध और गीत कविता, पांडित्य और लोक जीवन, दोनों से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, उसमें संग्रहीत हैं। जिन प्रबन्ध काव्यों के अवतरण इसमें उद्धृत हैं वे महाभारत और रामकथा से सम्बन्धित हैं। अपभ्रंश ही नहीं अन्य भारतीय भाषा प्रबन्ध काव्यों की कथावस्तु इन्हीं ग्रंथों से ली गई है। अतः अपभ्रंश कवियों के लिए भी, यह स्वाभाविक था। दूसरे अवतरण मुक्तक कविता से सम्बन्ध रखते हैं। अवतरणों के चयन में छंदकार स्वयम्भू ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि वे अपनी मूलकृति की प्रतिनिधि, और सहृदय की दृष्टि से रमणीय रचना हो। मुक्तक कविता के अधिकांश अवतरण, प्रकृति चित्रण, रोमांस सौन्दर्य चित्रण, आदि से सम्बन्धित हैं।

राम कथा से सम्बन्धित प्रस्तुत अवतरण में कवि घइल्ल की, राम के जीवन पर निम्न प्रतिक्रिया है, देखिये—

मित्तु मक्कडु सत्तु दहवअणु।
रअ (सायरु) दुप्पगमु ॥
सो वि बंधु पाहाण खंडहिं।
जय राम हो तह (नर हो) लच्छि ववसायवन्त हो ॥

राम के मित्र थे बन्दर और शत्रु था रावण। तो भी उन्होंने पत्थरों से समुद्र को बांध लिया। जो उद्यम करते हैं, उन्हें अवश्य राम की भांति सफलता मिलती है।" इस प्रकार राम की उद्योगशीलता को जितना प्रभावित करती है उतनी सीता के प्रति उनकी विरह वेदना नहीं। एक और दूसरे उद्धरण में, अपने भाई रावण के वध पर विभीषण के शोक के वर्णन में घइल्ल कहते हैं,—

भाई–वियोए जिह जिह करइ विहीसणु सोग्रो।
तिह तिह दुःखेण रूअइ वाणर लोग्रो ॥

अपने भाई के वियोग में विभीषण ज्यों ज्यों शोक प्रगट करता, वानर, समूह भी उसके दुःख में आंसू बहाने लगता।

विष्णु के वामनावतार की भी घटना का उल्लेख एक छंद में है।

"वामणरूव करेप्पिणु माहवु।
वेउ पढन्त पराइउ साहउ ॥
तिराण पअइं करेप्पिणु सामउ।
दानउ बंधउ सो बलि नामउ ॥"

भगवान माधव, बौना रूप धारण कर वेद पढ़ते हुए पहुंचे, तीन पग में समूची धरती को नाप कर, उन्होंने बलि दानव को बन्दी बना लिया।

महाभारत के बहुत कम अंश उसमें उद्धृत हैं, यद्यपि कृष्ण जीवन से सम्बन्धित कई अवतरण हैं। इसमें कृष्ण की चर्चा कम और गोपाल की अधिक है। यह कृष्ण के व्यक्तित्व

का परवर्ती विकास है। इनमें कुछ अवतरण, राधा कृष्ण की प्रणयलीला से सम्बन्धित हैं, जो इस बात का पहला साहित्यक सबूत माना जा सकता है कि महाकवि स्वयम्भू के समय तक, राधा और कृष्ण की 'प्रणय भावना' का लोक में प्रचार ही नहीं हुआ था अपितु वह साहित्य में अभिव्यक्ति का विषय बन चुकी थी। कवि गोइन्द के अधिकांश अवतरण कृष्ण के गोपाल रूप से सम्बन्ध रखते हैं। हो सकता है स्वयम्भू ने किसी खास प्रयोजन से इन्हीं अवतरणों को चुना हो, अथवा यह भी संभव है कि इस प्रकार की रचनाएँ, जो तत्कालीन अपभ्रंश काव्य धारा की प्रमुख प्रवृत्ति समझी जाती रही हो, और जिसका पूर्व विकास हमें हिन्दी के महाकवि सूर में दिखाई देता है। इससे यह न मानने का कोई कारण नहीं कि गोइन्द ने कृष्ण गोपाल पर अपभ्रंश में कोई काव्य लिखा होगा। राधा के सौन्दर्य पर गोइन्द का निम्न छंद स्वयम्भू ने उद्धत किया है:—

सव्व गोविउ जइवि जोएइ, हरि सुट्ठवि आयरेण,
देइ दिट्ठी जहिं कहिं वि राही ।।
को सक्किवि संवरेवि उड्ढवयण गोहें पलोट्टउ ।।

कृष्ण सभी गोपियों को समान आदर से देख रहे थे, पर नजर उनकी वहीं टिकती थी, जहां राधा थी। नेह से छकी हुई आंखों को, भला कौन रोक सकता है। प्रस्तुत अवतरण, आचार्य हेमचन्द के शब्दानुशासन में भी अवतरित है, राधा कृष्ण के वैयक्तिक प्रेम का सूचक संभवतः यह सबसे पहला साहित्यिक अवतरण है। कवि गोइन्द ने गोधन का भी सुन्दर शब्द चित्र दिया है:—

ठाम ठामहिं घास संतठु रत्तिहिं परिसंठिआ
रोमं बणावस चलिअ गंडिआ
दीसन्ति धवलुज्जला
जोन्हा णिहाण गोहवा

ठाम ठाम घास रखा है। रात में बैठी हुई गायें जुगाली कर रही है। जुगाली में मस्त उनके गंडस्थल हिल डुल रहे है। एक दम धौरी और उजली वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो चांदनी ही छिटकी हो।"

इन इतिवृत्तात्मक अवतरणों के अतिरिक बहुत से मुक्तक अवतरण भी हैं, जिनमें प्रेम-सौन्दर्य, वीरत्व और सामन्त युगोचित ओज व्यञ्जित है। विषय और शिल्प की दृष्टि से इन अवतरणो में लोक और शास्त्र का मेल है। गांव की गोरी का यह रूप चित्र, अपनी सहजता में मोह लेता है—

गोरी अंगणे सुप्पन्ति दिट्ठा ।
चन्द हो उप्परि जोण्ह विउच्छट्ठा ।।

गोरी अपने आंगन में सो रही है मानो चांद ने चांदनी बखेर दी हो।"

एक ओर ग्रामीणा अपनी विवशता मा को बता रही है ।

काइं करउ हउ माए पिउ वि मणह लग्गी पाए।
मण्णु धरन्त हो जाइ कठिण अतरग मणाइ ।।

माँ मैं करू भी तो क्या ? मैं पैरो पडती हूँ, पर वह (प्रिय) मानता ही नही । वह मन मे रूठ कर चला जाता है । प्रेम की वैयक्तिक निष्ठा पर कवि गोइन्द कहते है—

कमलह कुमुदह एक्कहि उप्पत्ति ।
ससि तो वि कुमु आग्ह ।।
देइ सोक्खु कमलह दिवाग्ररु ।
पाविज्जइ अवस फलु ।।
जेण जस्स पासे ठवेइउ ।।

कमल और कुमुद एक जगह उत्पन्न होते है । पर चन्द्र कुमुदो को सुख देता है । और सूर्य कमलो को । जो जिसका होकर रहता है, वह उसका फल अवश्य पाता है ।

चन्द्रमा के उदय का भी एक दृश्य हैं—

ससि उग्गमउ ताम जेण यह अगसा मडिअउ ।
ण रइ रहचक्क दीसइ अरुणे छड्डि अउ ।।

इतने मे चन्द्रमा उग आया । आसमान सौन्दर्य स खिल उठा । वह एसा लगता है मानो अरुण ने रति का चक्र चलाया हो ।

कवि शुद्धशील ने वर्षा का बहुत ही स्वाभाविक चित्राकन किया है ।

पहु सकद्दमु णहु सको अ, महि सग्स, सलिल सग्स
सरव मेह, दिसि बहल विज्जुल
पहिअ-जण-मण-मोह-अरू सवरि चारु पाउसु ।।

रास्ता कोचड भरा है और आसमान गुस्से से भरपूर । धरती सरस है और सलिल भी । मेघ गरज रहे है दिशाएँ बिजलियो से भरी है । पथिको के मन झूम उठे है । सुहावनी वर्षा ऋतु आ गई है ।

बसत मे खिले हुए टेसू के फूल के माध्यम से कामदेव की यह गवेषणा भी दृष्टव्य है ।

"णव फग्गुणे, गिरि सिहरो वरि फुल्लपलासु ।
को डड्ढु मे को ण डड्ढु जोइवि हुग्रासु ।।"

फागुन का नया नया महिना । पहाड की चोटी पर फूला हुआ टेसू का फूल । मानो उसके बहाने कामदेव देख रहा है कि उससे कौन जला है और कौन नही जला ।

जिस युग की अपभ्र श कविता की झलक यहा दी जा रही है, भारतीय इतिहास का का वह सिद्ध सामन्त युग था । यह युग राजपूतो के आपसी द्वन्द्व और अरबो की घुस पैठ का

युग था। इस युग के प्रमुख प्रादर्श थे, शौर्य प्रातंक और सौन्दर्य भोग। जो ऐसा करने मे समर्थ नहीं था, उसका न होना ही अच्छा था।

तें जाए कवणु गुणु वर = रुवारी कव्वफल बंचिउ।
किं तणस्स जेण जाएण पग्रपूरण पुरुसेण ॥

जिसके होने मे शत्रु कांपा नही, जो सुन्दरियों के कटाक्षों से बंचित रहा।
उस बेटे के होने से क्या, और न होने से क्या ?

भक्ति परक कविता भी इस युग की अपनी विशेषता है। निम्न अवतरण में भक्ति का लक्ष्य स्वयं भक्ति है—

जइवि ण रूसइ जइवि ण दूसइ
जइवि ण दय करइ
तो वि मराला जिणवर हिम्रए
खव न वीसरइ ॥

वस्तुतः भक्ति का मुख्य प्रयोजन चित्त की शुद्धि है। अतः भगवान की याद रखना जरूरी है ? किस लिए ? इसका उत्तर है कि मनुष्य कभी यदि अपनी क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठेगा तो शायद प्रभु की याद के द्वारा ही। इसी तरह नाम महत्त्व और अनन्य निष्ठा के भी अवतरण संगृहीत है।

इस प्रकार, प्रस्तुत विवेचन के साक्ष्य पर यह सिद्ध है कि स्वयम्भू युग—अपभ्रंश का एक फला फूला युग था। उसमे सब रग के फूल थे। भारतीय काव्य की सारी प्रवृत्तियाँ अपने युग की छाप के साथ उसमे विद्यमान है। इस युग की झाकी हमे स्वयम्भू की रचनाओं और उनके द्वारा संगृहीत अवतरणो के माध्यम से मिलती है अतः उसे हम 'स्वयम्भू युग' कहना चाहेगे। उनका यह देय, उसकी साहित्य रचना भी अधिक महत्त्व रखती है।

राजस्थानी जैन साहित्य : कतिपय विशेषताएँ

डा० हीरालाल माहेश्वरी, एम. ए , एलएल. बी., डी. फिल्.,

[हस्तलिखित पोथियों के सुरक्षित रखने का श्रेय जैन विद्वानों, जिनालयों और श्रद्धालु भक्तों को बहुत है। यहा के जैन भण्डारों मे राजस्थानी के ग्रंथ तो मिलते ही है, हिन्दी के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ भी उपलब्ध है।

हम देखते हैं कि राजस्थानी जैन साहित्य का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। इस बात की महती आवश्यकता है कि हस्तलिखित पोथियों के रूप मे उपलब्ध जैन साहित्य को प्रकाश में लाया जाय। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि विशेषतः स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक जैन संस्थाएं और जैन, जैनेतर विद्वान इस कार्य को करने में संलग्न है। —स०]

राजस्थानी भाषा और साहित्य के महत्त्व का मूल्याकन अभी तक समुचित रूप म नही हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि राजस्थानी साहित्य का बहुलाश हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे अभी तक विभिन्न शास्त्रागारो, पोथीखाना और पुस्तकालयो म बन्द पडा है। केवल राजस्थानी का ही नही, अपितु सस्कृत और हिन्दी के भी अनक ग्र थ हस्तलिखित रूप म यहा उपलब्ध है।

हस्तलिखित पोथियो के सुरक्षित रखने का श्रेय जैन विद्वानो, जिनालयो और श्रद्धालु भक्तो को बहुत है। यहा के जैन भण्डारो मे राजस्थानी के ग्र थ तो मिलते ही है, हिन्दी के अनेक महत्वपूर्ण ग्र थ भी उपलब्ध है।

अन्य आधुनिक आर्य भाषाओ की भांति पुरानी राजस्थानी का उद्भव लगभग स० १०००–११०० के आसपास माना जा सकता है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक दृष्टियों से राजस्थानी और गुजराती का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ रहा है। लगभग स० १५०० तक तत्कालीन राजस्थान और गुजरात मे साहित्यिक व्यवहार और बोलचाल की भाषा एक ही थी। कभी उसे जूनी गुजराती और कभी उसे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहा जाता है। इसको एक अन्य नाम 'मारू–गुर्जर' भी दिया गया है जो बहुत ही सगत और युक्तियुक्त है। मारू से मारवाड और गुर्जर से गुजरात, सोरठ की भाषा का अनुमान होता है। इसलिये सं० १०००–११०० से लगभग स० १५०० तक की भाषा का नाम मारू–गुर्जर माना जा सकता है और इस नाम से राजस्थानी और गुजरात के सम्मिलित साहित्य का बोध भी समय विशेष के साहित्य के लिये होता है।

भारतीय आर्य भाषाओ मे सर्वाधिक प्राचीन साहित्य मारू–गुर्जर और मैथिली का उपलब्ध होता है। इनमे भी मैथिली का साहित्य अपेक्षाकृत बाद का मिलता है। प्राचीनता

की दृष्टि से सर्वाधिक श्रेय मारु–गुर्जर के साहित्य को है। यही नहीं, अपने उद्भव काल से लेकर प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की रचनाएँ हमें उपलब्ध होती है, जिनसे मारु–गुर्जर और तत्पश्चात् राजस्थानी भाषा के ऐतिहासिक विश्लेषण में बहुत अधिक सहायता मिलती है। वस्तुतः प्राचीनता और प्रत्येक शताब्दी के हर चरण की रचनाओं की उपलब्धि के कारण राजस्थानी का महत्व बहुत अधिक है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की स्थिति ऐसी नहीं है, विशेषतः सं० १५०० तक।

राजस्थानी के सम्बन्ध में एक और बात भी विचारणीय है। भाषा–शास्त्र की दृष्टि से राजस्थानी का सम्बन्ध, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, गुजराती से है क्यों कि लगभग ४००–५०० वर्षों तक गुजरात और राजस्थान की भाषा मारु–गुर्जर रही थी, हिन्दी नहीं। इस तथ्य को देश और विदेश के अनेक विद्वान भाषा शास्त्र की दृष्टि से पुष्ट और प्रमाणित कर चुके हैं परन्तु साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य का सम्बन्ध यत्किंचित ढंग से हिन्दी साहित्य के साथ जोड़ा गया है। हिन्दी साहित्य के सुदीर्घ इतिहास में इसलिये थोड़ी बहुत चर्चा वीसलदेव रास, ढोला मारू रा दूहा, मीरांबाई आदि की कभी कभी कर ली जाती है। इस प्रकार राजस्थानी की स्थिति विचित्र है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से वह गुजराती के सन्निकट है किन्तु हिन्दी साहित्य के विद्वानों द्वारा उसका साहित्य हिन्दी के अन्तर्गत विवेचनीय समझा गया है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल के सम्बन्ध में इतिहास के विद्वानों द्वारा जो कुछ लिखा गया है उसमें अधिक प्रवृत्ति निषेधात्मक और खण्डनात्मक ही रही है। निषेधात्मक इसलिये कि जिन अधिकांश ग्रन्थों को उस काल की रचना समझा गया था वे वस्तुतः उस काल की नहीं थी इसलिये आदिकाल की चर्चा परवर्ती ग्रन्थों के आधार पर करके उन ग्रन्थों के अनस्तित्व की घोषणा करनी पड़ती है जो निषेधात्मक ही है। आचार्य शुक्ल से लेकर डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रभृति सभी विद्वानों ने यह प्रवृत्ति दिखाई है। खण्डनात्मक इसलिये कि जिन ग्रन्थों को आदि काल की रचना कहा जाता है उनकी भाषा इसकी गवाही नहीं देती। अतः कुल मिलाकर न तो आदिकाल के अस्तित्व से इनकार किया जा सकता है और न ही ठीक ढंग से उसकी स्थापना की जाती है। इसके लिये मेरा अनुरोध है कि मारु–गुर्जर का साहित्य हिन्दी की एक बहुत बड़ी निधि के रूप में सामने आता है। गद्य और पद्य दोनों दृष्टियों से इस साहित्य से हिन्दी का आदिकाल परिपुष्ट हो सकता है। गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी के विद्वानों द्वारा मारु–गुर्जर की काफी सामग्री पत्र पत्रिकाओं और पुस्तक रूप में प्रकाश में आई है। यह सामग्री अधिकांश में जैन धर्म से सम्बन्धित है और यह जैन साहित्य की सबसे पहली विशेषता है। यहां यह कह देना भी अनुचित न होगा कि इस काल की जैनेतर रचनाएँ भी महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी; किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है। इन रचनाओं के आधार पर मैं आदिकाल के नाम करण और उसकी अन्तिम सीमा के सम्बन्ध में भी एक बात कहना चाहता हूं। यह तय है कि 'वीर गाथा काल' 'सन्धि काल' 'चारण काल', 'सिद्ध सामन्त काल', 'अन्धकार काल', 'वीरकाल' आदि नाम भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं, या किये जा रहे हैं। इसी तरह आदि काल नाम भी भ्रामक ही है। अद्यावधि हिन्दी

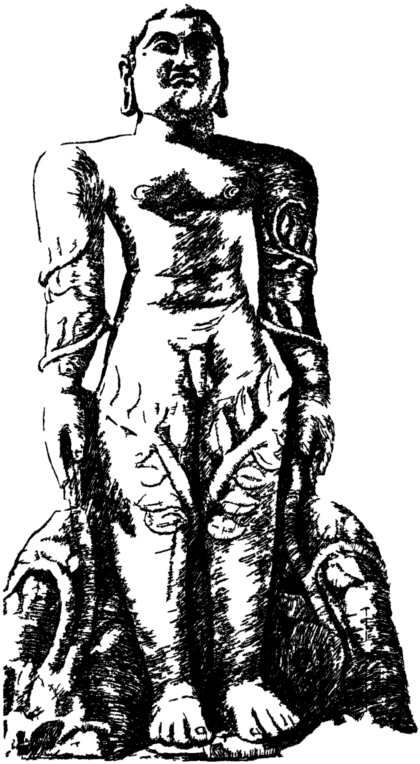
और मारु–गुर्जर की जो भी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर हिन्दी के तथाकथित आदि काल का नाम 'रास–रासो काल' सब दृष्टियों से उपयुक्त है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि रास और रासौ के स्वरूप, इतिहास और इन नामो के अन्तर्गत परिगणित की जाने वाली सामग्री का वैज्ञानिक परीक्षण किया जाय। रास नामधारी काव्यों की रचना हमको मारु गुर्जर के प्रारम्भिक काल से ही मिलने लगती है और विक्रम की १४ वी शताब्दी तक निरन्तर मिलती है। अन्य काव्य रूपों की अपेक्षा परिणाम और काव्य सौन्दय की दृष्टि से भी वे उत्तम हैं। सैकड़ो की संख्या मे इस काल में रास नामधारी रचनाएँ मिलती है। रस की दृष्टि से रास के अन्तर्गत प्रमुख रस शृंगार रहा है। रासौ नामधारी काव्यों का प्रधान रस वीर और वीर तथा शृंगार रहा है। इन दोनो काव्य रूपों के अन्तर्गत गौण रूप मे अद्भुत, करुण आदि का भी समावेश रहा हैं। सं० १५०० तक रास और रासौ काव्य अपनी विशिष्ट भाव–धरातल भी तैयार कर चुके थे। इसी प्रकार आदि काल की अन्तिम सीमा सं० १५०० अधिक उचित प्रतीत होती है, जिसके अनेक कारण हैं किन्तु प्रस्तुत स्थल इस चर्चा का नही है। रास नामधारी काव्य बहुलांश मे जैन कवियो की रचनाएं हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है मारु–गुर्जर साहित्य को अधिकांश रचनाएं जैनों द्वारा रचित है। इन रचनाओ मे प्रधान रस शान्त और अन्य रस वीर और शृंगार है।

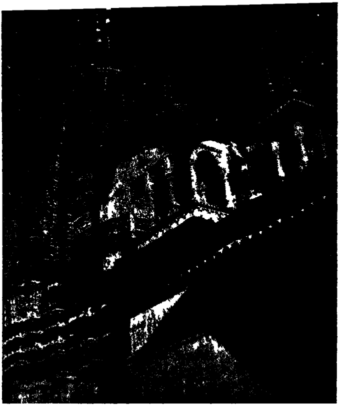
जैन साहित्य की दूसरी विशेषता यह है कि उसमे कथा प्रधान और चरित्र प्रधान काव्यो की सृष्टि अधिक हुई है। ऐसे काव्यो की कथा वस्तु का निर्माण तीन प्रकार मे हुआ है १. जैन धर्म से सम्बन्धित तीर्थकरों, मुनियों आदि की कथाओं को लेकर, २. किसी चरित्र विशेष को लेकर, उसके द्वारा किये गये कृत्यो का उल्लेख और उनका महत्व प्रतिपादन। अच्छे और बुरे अनेक चरित्र जैन काव्यो के आधार बने हैं। और ३. जन साधारण मे सम्बन्धित किसी चेतन या जड़ वस्तु को आधार बना कर काव्य रचना। कवि हीरकलश का 'मोनि कपामिया संवाद' और ऐसी हो संवाद नामधारी अनेकशः रचनाएं तत्कालीन जन साधारण की स्थिति का ही उल्लेख अधिक करती है। इसी प्रकार एक अन्य महत्वपूर्ण रचना कवि समय सुन्दर की गुजरात का दुष्काल वर्णन है। रामायण और कवितावली के उत्तरकाण्ड की भांति कविवर ने तत्कालीन गुजरात और राजस्थान का अत्यन्त मार्मिक चित्रण अपनी रचनाओं में किया है।

ऐसी रचनाओं का उद्देश्य जैन समाज और जैनेतर समाज में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना रहा है; किन्तु साथ ही मनोरंजन का साधन भी वे रही हैं।

इस साहित्य की तीसरी विशेषता अनेक काव्य रूपों के निर्माण की है। सम्भवतः किसी जाति विशेष और कवि विशेष ने इस दिशा में इतना बड़ा कार्य नही किया। यह हो सकता है कि किसी न किसी रूप में जैन साहित्य में प्रचलित काव्य रूप इतर विद्वानों और जन साधा–रण की सम्पत्ति भी रही हो किन्तु अब वह सब काल कवलित हो गई प्रतीत होती है। प्रमुख काव्य रूपों मे रास, चौपाई, चौपई, संधि, चर्चरी, ढाल, पवाड़ो, फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, वेलि, धवल, मंगल, संवाद, कक्का–मात्रिका, बावनी, कुलक, हियाली, स्तुति,



श्रवणबेलगोला (मैसूर) में भगवान बाहुबलि स्वामी की ५७ फुट ऊंची मूर्ति ।





श्री दिगम्बर जैन मंदिर झालरापाटन के कलापूर्ण एवं प्राचीन मंदिर के दो दृश्य

स्तवन–स्तोत्र–सज्झाय, बोनती, गीत, नमस्कार आदि तथा सख्या परक बीसी, चौबीसी, पच्चीसी बत्तीसी, छत्तीसी बावनी, बहत्तरी, छिहत्तरी, शतक आदि हैं।

इसकी चौथी विशेषता विभिन्न लोक प्रचलित कथानको के आधार पर जैन धर्म से सम्बन्धित काव्यो का निर्माण करना है। मध्य युग मे राजा विक्रम, राजा भोज और अल्लाउद्दीन अनेक कहानियो के आश्रय बन गये है। विक्रम और भोज न्यायी, परोपकारी, धर्मप्राण, नीतिज्ञ, व्यवहार कुशल, विद्वान, कर्तव्यपरायण और दयालु राजाओ के रूप मे चित्रित हुए हैं तथा अल्लाउद्दीन नृशस व आततायी के रूप मे। हिन्दी के भी अनेक महत्वपूर्ण काव्य इनसे सम्बन्धित है, इसमे सन्देह नही। विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथा साहित्य दो रूप मे उपलब्ध है १ विक्रम मे सम्बन्धित साहित्य और २ विभिन्न कथाओ का साहित्य। साधु कीर्ति, उदयभानु, धर्मसिह, मगलमाणिक्य आदि कवियो ने पहले प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। दूसरे प्रकार के साहित्य के दर्शन हमे वैताल पच्चीसी, पचदण्ड चौपाई, सिंहासन बत्तीसी, विक्रम खापरा चोर चौपई, विक्रम लीलावती चौपाई आदि के रूप मे उपलब्ध होते है जिनके रचयिता अनेक जैन कवि है। इन तीनो चरित्रो के अतिरिक्त, अम्बड सिहलसी, कर्पूर मजरी, ढोला मारू, पचाख्यान, नन्द बत्तीसी, पुरन्दरकुमार, श्रीपाल, बिल्हण, शशिकला, विद्याविलास, सदैवच्छ, चन्दन राजा मलयागिरी आदि आदि से सबधित अनेकश, रचनाएँ जैन कवियो ने प्रस्तुत की।

सैकडो राजस्थानी लोक गीतो की प्राचीनता का पता जैन कवियो की रचनाओ द्वारा मिलता है और यह इस साहित्य की पाचवी विशेषता है। बहुत से जैन कवियो ने अत्यन्त प्रसिद्ध व प्राचीन लोकगीतो की देशियो की चाल मे अपनी रचनाए ढालबद्ध की है। उन्होने बहुत म लोक गीतो की प्रथम पक्तियो का उल्लेख किया है जिनकी तर्जों पर उन्होने अपने अपने रास गीतो या स्तवनो की ढाल बनाई। इनसे किसी लोक गीत की प्राचीनता और प्रसिद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। राजस्थानी लोक गीतो का ऐतिहासिक अध्ययन अभी नही हुआ है जिसके होने की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन कवियो का इस ढग से लोक गीतो के सरक्षण का काम अत्यन्त महत्वपूर्ण साबित होगा, इसमे सन्देह नही। (देखे राजस्थानी भाषा और साहित्य–डा० हीरालाल माहेश्वरी–पृष्ठ २२१–२२३)

राजस्थानी साहित्य के इतिहास मे जैन साहित्य का स्थान महत्वपूर्ण है। राजस्थानी साहित्य की कुछ निजी विशेषताए है जिनको इसकी जातीय विशेषताए कह सकते हैं। प्रधानतया राजस्थानी का पद्य साहित्य चार विशाल धाराओ मे प्रवाहित हुआ मिलता है। पहली धारा जैन साहित्य की, दूसरी चारण साहित्य की, तीसरी लौकिक साहित्य की और चौथी भक्ति साहित्य की है। जब जैन साहित्य का नाम लिया जाता है तो एक विशिष्ट शैली का ध्यान भी सहसा मन मे आ जाता है। इसका कारण है जैन कवियो द्वारा प्रयुक्त भाषा और उसमे 'अई' और 'अउ' का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग। इसलिये न केवल विषय वस्तु की दृष्टि से बल्कि भाषा की दृष्टि से भी जैन साहित्य राजस्थानी की महत्वपूर्ण निधि है। हा, यह सही है कि केवल जैन रचनाओ के आधार पर ही राजस्थानी, कि जिसका मूलाधार मारवाडी है, का सही स्वरूप चित्रित नही किया जा सकता।

राजस्थानी गद्य की रचनाए १४ वी शताब्दी के प्रथम चरण से मिलने लगती हैं। तब से आज पर्यन्त निर्बिच्छिन्न रूप से वे उपलब्ध होती है। राजस्थानी के वाक्य-विन्यास के ऐतिहासिक अध्ययन के लिये ये कितनी उपादेय हैं, इसके कहने की आवश्यकता नही। यह इनकी छठी विशेषता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी जैन साहित्य का महत्व अनेक दृष्टियो से है। इस बात की महती आवश्यकता है कि हस्तलिखित पोथियो के रूप मे उपलब्ध जैन साहित्य को प्रकाश मे लाया जाय। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि विशेषत स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक जैन सस्थाए जैन एव जैनेतर विद्वान् इस कार्य को करने मे सलग्न है।

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया स वा।
विणओ सिक्खाए फल णिणयफन सव्वकल्लाण॥

विनय रहित मनुष्य की सारी शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय के फल सारे कल्याण है।

ज्ञान का महत्व

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो।
दीवेइ खेत्तमप्प सूरो णाण जगमसेस॥

ज्ञान का उद्योत ही सच्चा उद्योत है, क्योकि उसके उद्योत मे कही रुकावट नही है। सूरज भी उसकी समता नही कर सकता क्योकि वह अल्पक्षेत्र को प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान सम्पूर्ण जगत को।

इतिहास के संदर्भ में भ० ऋषभदेव

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

[ईस्वी सन् ४७५ पूर्व कलिंग के महान् पराक्रमी शासक सम्राट एल खारवेल ने खण्डगिरी उदयगिरी पहाड़ियों की हाथी गुफा पर अठारह पक्तियों का लेख खुदाया था। उसमें उसने अपनी विजय, राज्य-विस्तार व राज्याभिषेक आदि का सविस्तार उल्लेख करते हुए यह भी लिखा है कि तीन सौ वर्ष पूर्व कलिग राज-परिवार स मगधेश द्वारा अपहृत अग्रजिन (भगवान ऋषभदेव) की मूर्ति को मै (एल खारवेल) मगध को जीत कर पुनः कलिग में लाया।

—स०]

जैन धर्म अनादि है। प्रत्येक काल-चक्रार्ध के उत्सर्पण और अवसर्पण मे चौबीस तीर्थंकर होते है जो कालक्रम स अपवर्तन के चक्र मे फसे हुए धर्म को उद्वर्तन देते है। उद्वर्तन और अपवर्तन की नाना प्रक्रियाओ को कुछ एक अनुसन्धाना ऐतिह्य तथ्यो के आधार पर परखने के अनन्तर जब कुछ तथ्य प्रकट करते है, तब वह केवल श्रद्धा-गम्य ही नही रह जाता, अपितु तर्क-गम्य भी हो जाता है। चौबीस तीर्थंकर श्रद्धागम्य तो है ही, पर तेवीसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर की ऐतिहासिकता म अब सन्देह नही रह गया है तथा बावीसवे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी कुछ एक विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक पुरुष मान आ चुके है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय तक इतिहास अभी नही पहुच पाया है, फिर भी जहा तक वह पहुचा है, भगवान् ऋषभदेव के बारे मे भी अच्छा प्रकाश पडता है।

मोहनजोदडो की खुदाई म प्राप्त होने वाली मुहरो म कुछ एक पर एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति है और दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है। वृषभ भगवान् ऋषभदेव का लाछन था, अत वह अनुमान सहज ही हो जाता है कि उस समय म भी उनकी पूजनीयता प्रसिद्ध थी।

ईस्वी सन् ४७५ पूर्व कलिग के महान् पराक्रमी शासक सम्राट एल खारवेल ने खण्डगिरि, उदयगिरि पहाडियो की हाथी गुफा पर अठारह पक्तियो का लेख खुदवाया था। उसमे उसने अपनी विजय, राज्य-विस्तार व राज्याभिषेक आदि का सविस्तार उल्लेख करते हुए यह भी लिखा है कि तीन सौ वर्ष पूर्व कलिग राजपरिवार से मगधेश द्वारा अपहृत अग्रजिन [भगवान् ऋषभदेव] की मूर्ति का मै [एल खारवेल] मगध को जीत कर पुन कलिग म लाया।

दो हजार वर्ष पूर्व के राजा कनिष्क तथा हुविष्क आदि के शासन के सम्बन्ध मे मे हुई खुदाई मे प्राप्त शिलालेख मथुरा के सग्रहालय की आज भी शोभा बढा रहे है। डा० फुहार ने उन शिलालेखो से प्राचीन इतिवृत्त का अनुसधान कर यह निर्णय दिया था कि प्राचीन समय म जैनी ऋषभदेव की मूर्तिया बनाते थे।

श्री विंसेन्ट ए० स्मिथ का कहना है—मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी यह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वास था।"[1]

जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा०[2] हर्मन जेकोबी, जिन्होंने तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किया था, अपनी गवेषणा के अनन्तर कहते हैं "पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन-परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।"

श्री स्टीवेन्सन की गवेषणा डा० हर्मन जेकोबी के अभिमत की पुष्टि करती है। वे लिखते हैं—"जब जैन और ब्राह्मण; दोनों ही ऋषभदेव को इस कल्पकाल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।"[3]

वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम० ए० ने विभिन्न ग्रन्थों तथा शिलालेखों का अध्ययन करने के अनन्तर आत्म-विश्वास के साथ यह अभिमत प्रकट किया था—"लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।"[4]

---

1. The discoveries have to a very large extent supplied Corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present from. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the christian era.

   —The Jain Stup—Mathura. Intro. p. 6

2. There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first-Tirthankara (as its founder) there may be some thing historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

   Indian Antiquary VOL IX p. 163

3. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they, do so.

   —Kalpasutra-Intro. p. XVI

4. जैन धर्म की प्राचीनता, पृ० ८।

कुछ एक विद्वानों व गवेषकों ने तीर्थंकरों के बारे में तो अपना अभिमत प्रकट नहीं किया हैं, पर वे अपने अनुसन्धान के आधार पर जैन धर्म को सृष्टि का आदि धर्म, प्रागैतिहासिक धर्म, अति प्राचीन धर्म तथा स्वतन्त्र धर्म प्रमाणित करते हैं।

सन् १८१७ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे० ए० डुबाई द्वारा फ्रांसीसी भाषा में लिखित पुस्तक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था। जैन धर्म के बारे में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए वहां लिखा गया है—"निस्सन्देह जैन धर्म ही सारे संसार में एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मनुष्यों का आदि धर्म है।"[1]

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैन धर्म को अनादि मानते हुए लिखते हैं—"ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं।........जैन धर्म प्राचीनता में पहले नम्बर है। प्रचलित धर्मों में जो प्राचीन धर्म है, उनमें भी यह प्राचीन है।"[2]

संस्कृत कालेज वाराणसी के प्राध्यापक महामहोपाध्याय पं० राममिश्र शास्त्री ने जैन धर्म की प्राचीनता को सप्रमाण स्वीकार करते हुए कहा है—"जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। इसमें मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है।"

सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० मेक्समूलर जैन धर्म को किसी भी धर्म की शाखा मानने को तैयार नहीं हैं। वे लिखते हैं—"विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतंत्र है। उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।"

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मेजर जनरल जे० सी० आर फर्लांग ऐफ० आर० एस० ई० ने जैन धर्म के बारे में जो अपना अभिमत व्यक्त किया है, वह पूर्व विचारों की अच्छी तरह से पुष्टि कर देता है। उनकी सुदृढ़ मान्यता थी की ईसा से अनगिनत वर्ष पूर्व भारत में जैन धर्म फैला हुआ था। आर्य लोग जब भारत में आये तब यहां जैन धर्म के अनुयायी अवस्थित थे। बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कैसा प्रभावित किया, इस प्रश्न को समाहित करते हुए वे लिखते हैं—"बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कौन से ऐतिहासिक साधनों से प्रभावित किया इसकी गवेषणा करते हुए यह निस्संदेह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म ने जैन

---

1. Yea, his (Jain) religion is the only true one upon earth, the premitive faith of all mankind.

   —Description of the character, manners & customs of the people of India and of their institutions religious & civil.

2. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ४, जुलाई '५६ पृ० १६७-१६८।

धर्म को स्वीकार किया था जो वास्तव में अरबों-खरबों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था।[1]

"जैन धर्म के प्रारम्भ को जान पाना असम्भव है।"[2]
"भारतवर्ष का सबसे प्राचीन धर्म जैन धर्म ही है।"[3]

१९ सितम्बर १९५९ को जापान के शिगिजू नगर में विश्व धर्म परिषद् की आयोजना की गई। बर्मा उच्चन्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मा० यूवान तुन आंग ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए वहां कहा था—"जैन धर्म संसार के ज्ञात सभी प्राचीन धर्मों में से एक है और उसका घर भारत है।"[4]

डा० जिम्मर जैन धर्म को प्राग ऐतिहासिक व वैदिक धर्म से स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं:—"ब्राह्मण आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु वह बहुत प्राचीन, प्राग्-आर्य उत्तर पूर्वी भारत की उच्चश्रेणी के सृष्टि-विज्ञान और मनुष्य के आदि, विकास तथा रीति-रीवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है।"[5]

जैन धर्म की प्रागैतिहासिकता, अतिप्राचीनता तथा अनादिता में विश्वास होने से भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व में भी सहज आस्था हो जाती है।

---

1. Through what historical channels did Budhism influence early christianity, we must widen this enquiry by making it embrace, Jainism the undoubtedly prior faith of very many millions through untold millennions. —I. Bid P. I.
2. It is impossible to find a beginning for Jainism. —I. bid. P. 135
3. Jainism thus appears an earliest faith of India. —I, bid P. 157
4. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ७, अक्टूबर १९५९, पृ० ३०५।
5. Jainism, does not derive from Brahman Aryan Sources, But reflects the cosmology and anthropology of a much older, Pre Aryan upper class of north—eastern India. --The Philosophies of India. P. 217

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की विशिष्ट हिन्दी जैन कृति जंबू स्वामी सत्कवस्तु

डा० हरीश, एम. ए., डी. फिल्.

[संसार नश्वर है, विविध योनियों में जीव परिभ्रमण कर कर्म के चक्कर से मुक्ति नहीं पा सकता, सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान जीवन मुक्त बनने के लिए परमावश्यक है यौवन धन सब रिथर है, मनुष्य को शाश्वत संपत्ति प्राप्त करनी चाहिए, जो कैवल्य है, अक्षुण्ण है आदि दार्शनिक बातों को कवि ने प्रवाह से संजोया है। —सं०*]*

सत्कवस्तु नाम से अभी तक कोई दूसरा काव्य नहीं मिलता है। यह रचना जैसलमेर भंडार[1] में है तथा श्री नाहटाजी ने इसे प्रकाशित कर दिया है। पूरी रचना में आदर्श महा-पुरुष जम्बू स्वामी के जीवन चरित्र का वर्णन है। जम्बू स्वामी सुधर्मा स्वामी के पट्ट शिष्यों में से हुए थे। जैन धर्म के अनुसार वे ही अंतिम केवली थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के कवियों ने जम्बू स्वामी के जीवन को अपने काव्यों का विषय बनाया है। अपभ्रंश में वीर कवि का 'जम्बू-सामी-चरिय' विशेष उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत रचना का नामकरण कवि ने-जम्बू स्वामी सत्कवस्तु किया है। सत्कवस्तु शब्द पर विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि इस शब्द का तथा इस नाम से अभिहित की हुई रचनाओं की परम्परा का अलग से इतिहास नही मिलता। कवि ने जम्बू स्वामी के चरित वर्णन करने की पद्धति तथा नाम में नवीनता प्रस्तुत करने के लिए ही संभवतः रचना का यह नामकरण किया हैं। दूसरी प्रमुख बात इसके नामकरण के लिए यह भी कही जा सकती है कि क्योंकि कवि ने पूरी रचना वस्तु छन्दों में लिखी है अतः जम्बू स्वामी सत्कवस्तु उसका नाम करण कर दिया है। वास्तव में पूरी रचना जम्बू स्वामी के जीवन, तप, दीक्षा और साधना तथा केवल मोक्षादि का वर्णन है। पूरी रचना एक ही छन्द में होने से वस्तु छन्द की लोक प्रियता की ओर तो प्रकाश डालती ही है साथ ही जम्बू स्वामी के जीवन को भी कवि ने सरलता से प्रवाहपूर्ण भाषा में ढाला है।

रचना जैसलमेर की सं० १४३७ की स्वाध्याय प्रति में से उपलब्ध हुई है अतः यह कहा जा सकता है कि यह अवश्य १३ वीं शताब्दी की होगी। भाषा के रूप को देखते हुए रचना की प्राचीनता सिद्ध होती है। चरित संज्ञक काव्यों में से एक जम्बू स्वामी विषय चरित काव्य पर पहले विचार किया जा चुका है। जम्बू स्वामी सत्कवस्तु कुल २१ वस्तु छन्दों में लिखी गई है। अतः पूरी रचना छन्द प्रधान है।

प्रारम्भ में कवि ने नमस्कार आदि की पद्धति का प्रयोग न कर एकदम काव्य प्रारम्भ कर दिया हैं। रूपवान जम्बू कुमार विविध आभूषणों से सुसज्जित विवाह कर आजाते हैं कवि

---

१. देखिए जैसलमेर बड़ा भंडार—प्रति विभाग सं. १४३७ की स्वाध्याय पुस्तिका: तथा प्रति की प्रतिलिपि अभय जैन ग्रंथ-माला में सुरक्षित है।

ने यहीं से रचना का प्रारम्भ किया है। रचनाकार ने जम्बू स्वामी के इससे पूर्व के चरित पर आंशिक भी प्रकाश नहीं डाला। कवि पहले ही—

कणय कुण्डल कणय कुण्डल मउड वर हार
चीणंसुय वत्थतहि विविहिं मंगि सिंगारू भावहिं
परिणाई वर कन्त तहि अटेठ पवरू मंगल वयरिहिं
नव नवकोडि सुवन्न तहिं परिणिउ आविउ बारि
ठावि ठावि लगुतरइ पइसइ घरइ मझारि (२)

जम्बू स्वामी के आदर्श जीवन के आधार पर कवि ने नश्वर संसार की कथा को विविध निर्वेदात्मक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया है। कथा सूत्र इन दृष्टान्तों में अत्यन्त सबल है। कथा के माध्यम से कवि ने जैन दर्शन के कठिन सिद्धान्तों को जन सुलभ बनाया है। जम्बू स्वामी राजगृह के श्रेष्ठि भारत तथा धारिणी के पुत्र थे। परिजनों के अनुरोध से इन्हें नगर के धन पतियों की आठ कन्याओं सिंधुपति, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नागसेना, कनकश्री जयश्री और कमलावती से विवाह करना पड़ा। उनके दहेज में सोने के हार कुण्डल चीनांकुश तथा ६।६ कोटि स्वर्ण मिला जैसा कि उक्त पद में स्पष्ट है। रात्रि को प्रभव नामक चोर ने अपने ५०० शिष्यों सहित घर में चोरी करने को प्रवेश किया। पर जम्बू स्वामी के तप ने उसे स्तंभित कर दिया और उसकी समस्त विद्याएं व्यर्थ सिद्ध हुई। जम्बू स्वामी के इस प्रभाव के कारण वह भी अपने ५०० शिष्यों सहित दीक्षित हो गया। रचना में कवि ने प्रत्येक स्त्री के साथ विविध दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया है। भाषा की प्राचीनता, काव्य की दार्शनिकता, तथा कथा तत्व का उपयोग और काव्य का प्रवाह रचना की विशेषताएं हैं। उदाहरणार्थ कुछ उत्कृष्ट पदों को एतदर्थ देखा जा सकता है।

यौवन की अस्थिरता पर देखिए:—

एहु जोवणु एहु जोवणु अथिरु मन्नेहिं
बोलावइ समसरिसु, पंचदीइ पाहुणय तुल्लउं
विसयाण सुह सुहरसिय, कांइ चित्तु तुह एहु भुल्लउ
मुणि सुन्दरि जम्बू भणइ, जोवण विसमय हारि
चंचल जोवणु एहुफल धम्मिवि किज्जइ नारि (७)

पूरा काव्य संवाद शैली में लिखा गया है। उत्तर प्रत्युतर शैली के कारण रचना के प्रवाह में अपूर्व वृद्धि हुई है। वर्णन के इस क्रम को नाटकीय संलाप कहा जा सकता है।

कंत जीविय कंत जीविय तणउ फल एहु
ज रमइ घर घरणि. नव विलास रस हाव भाविय
सिंगार रस रंग हुई विविह भंगरय भंग मारहि
पउमसेण जंपेइ सुण सामिय तव इन दीहु
विद्ध समइ दुक्कर चरणु करतुंहु होयउ सीहु (८)

जम्बूस्वामी का उत्तर:—

जम्बू कुमारू पयणेहि कम्मि कांतह हत्थु
कहहि अवलेहु चालिसइ नवि संबलु नवि सत्थु (६)

संसार नश्वर है, विविध योनियों में जीव परिभ्रमण कर कर्म के चक्कर से मुक्ति नहीं पा सकता, सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान जीवन्मुक्त बनने के लिए परमावश्यक है यौवन, धन सब अस्थिर है, मनुष्य को शाश्वत संपत्ति प्राप्त करनी चाहिए, जो कैवल्य है, प्रभुत्व है आदि दार्शनिक बातों को कवि ने प्रवाह से संजोया है:—

विविह जोणिहि विविह जोणिहि भमिउ संसारि
भुंजे विणु दुक्ख सय जम्म मरण बंधव विमोयणु
कहकहवि कम्मह विवरि मणुय जम्म लद्धउ सुसोहणु
सिंघुमई मह एहमहु महि इतिन्न किर सारू
जेनवि घरणिहि सउरवइ छलहिति कलु संसारू ४
सो पुण वुच्चइ वाणियउ लो लाह इ वणिजेइ
तुच्छ ऋद्धि जा पहिहरइ, सासय संपइ लेह ११

दार्शनिक भावनाओं का परिचय कराने के साथ कवि ने नारियों के नख शिख का भी मनोहर वर्णन किया हैं। जीवन का आनन्द और विलास सम्बन्धी सुन्दर उक्तियों से काव्य को प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक हुई हैं:—

कुडिल कुंतल, कुडिल कुंतल; चंदसमवयणि
खामोयरि हंसगइ कमल नयणि उन्नय पयोहरि
सुपमाण वर रुवधर नागसेणि जंपइ मणोहरि
सरिसगुण संपत्त नहि अत्थि न महिला सार
सिद्धिहि कारणि कंत तुहं खिज्जिम बारहवार १२
सुणिउ सुन्दर सुणिउ सुन्दर हास सविलास

अन्त में जम्बू स्वामी आठों रानियों को संसार और यौवन की अस्थिरता का विभिन्न दृष्टान्तों से प्रतिबोध देकर तथा साथ ही प्रभव को ५०० साथियों सहित ज्ञान देकर स्वयं कैवल्य को प्राप्त करते हैं। रचना शांत रस में समाप्त होती हैं:—

धम्मु निम्मलु धम्मु निम्मलु हक्कु संसारि
धम्मेण वि सिद्धि सुर धम्मु सयल सुह इत्थ कारणु
संसारि धयवड चवलि मणुय जम्म धम्मह सधारण
मिल्हिवि माया मोहपुण थिरमणु वयणिहि कांइ
धम्मु हक्कु निम्मुलु करउं सेस पाणिउ वाउ १९

रचना के अन्त में लेखन प्रशस्ति मै उसके रचनाकाल पर सरलता से विचार किया जा सकता है। वस्तु छन्द जैन कवियों का प्रिय छन्द रहा है। भाषा को देखते हुए रचना की प्राचीनता निर्भ्रांत है। अपभ्रंश के शब्दों की अधिकता रचना को प्राचीन भाषाकृति कहलाने में सक्षम सिद्ध करती है। पूरी रचना में विविध दृष्टान्तों अंतरकथाओं, उत्तर प्रत्युत्तर शैली कथा तत्व और प्रभव चोर आदि सभी की कथाओं आदि ने कृति को दर्शन की ठोस बातों को भी सरलता से प्रस्तुत कर जन सुलभ बनाने में पर्याप्त योग दिया हैं।

जैन-तत्वज्ञान के विशिष्ट आख्याता—योगिन्दु मुनि

डा० वासुदेवसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

[यह निरंजन देव ही परमात्मा है............इसको प्राप्त करने के लिए वाह्याचार की आवश्यकता नहीं। जप, तप, ध्यान, धारणा, तीर्थाटन आदि व्यर्थ हैं। इसको तो निर्मल चित्त व्यक्ति अपने में ही प्राप्त कर-लेता है। मान सरोवर में हंस के समान निर्मल मन में ही ब्रह्म का वास होता है। उसे देवालय, शिल्प अथवा चित्र में खोजना व्यर्थ है:—

देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखड णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥१४॥

(पर. प्रकाश १२५-१२४) —सं०]

अपने अन्तःप्रकाश से सहस्त्रों मानवों के तमःपूर्ण जीवन में ज्योति की शिखा प्रज्वलित करने वाले अनेक भारतीय साधकों, विचारकों और संतों का जीवन आज भी तिमिराच्छन्न है। ये साधक अपने सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भवतः अपने स्वभाव और परिपाटी के विरुद्ध समझते थे। इसीलिए वे अपने कार्यों और चरित्रों को अधिकाधिक गुप्त रखने का प्रयास करते थे। यही कारण है कि आज हम उन मनीषियों के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक और विस्तृत तथ्य जानने से वंचित रह जाते हैं और अब तक पहुंचने के लिए परोक्ष मार्गों का सहारा लेते हैं, कल्पना की उडानें भरते हैं और अनुमान की बातें करते हैं।

नामकरण

श्री योगीन्दु देव भी एक ऐसे साधक और कवि हो गए हैं, जिनके विषय में प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। यहां तक कि उनके नामकरण, काल-निर्णय और ग्रन्थों के सम्बन्ध में काफी मत भेद है। परमात्मप्रकाश में उनका नाम 'जोइन्दु' आया है। ब्रह्मदेव 'परमात्म प्रकाश' की टीका में आपको सर्वत्र 'योगीन्द्र' लिखा है। श्रुतसागर ने भी 'योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण' कहा है। 'परमात्मप्रकाश' की कुछ प्रतियों में 'योगेन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'योगसार' के अन्तिम दोहे में 'जोगिचन्द' नाम आया है। 'योगसार' की दो हस्तलिखित प्रतियां मुझे जयपुर के शास्त्र-भण्डारों में देखने को मिलीं। एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार के गुटका नं० ५४ में और दूसरी ठोलियों के मन्दिर में शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। इस प्रति का लिपिकाल सं० १८२७ है। ठोलियों के मन्दिर वाली प्रति के अन्त में लिखा है—'इति योगेन्द्र देव कृत प्राकृत दोहा के आत्मोपदेश सम्पूर्ण।'

कवि ने अपने को 'जोइन्दु' या 'जोगचन्द' (जोगिचन्द) ही कहा है, यह 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' में प्रयुक्त नामों से स्पष्ट है। 'इन्दु' और 'चन्द्र' पर्यायवाची शब्द हैं।

व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायवाची प्रयोग भारतीय काव्य में पाए जाते हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने भागेन्दु (भागचन्द्र) शुभेन्दु (शुभचन्द्र) आदि उद्धरण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है। गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरित मानस' में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है। 'सुग्रीव' का 'सुकण्ठ', हिरण्यकशिपु' का 'कनक कशिपु', 'हिरण्याक्ष' का 'हाटकलोचन', 'मेघनाद' का 'वारिदनाद', 'घननाद' और 'दशानन' का 'दशमुख' आदि प्रयोग देखने को मिल जाते हैं। श्री ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में 'जोइन्दु' का संस्कृत रूपान्तर 'योगीन्द्र' कर दिया है। इसी आधार पर परवर्ती टीकाकारों और लिपिकारों ने 'योगीन्द्र' शब्द को मान्यता दी। किन्तु यह प्रयोग अशुद्ध है। कवि का वास्तविक नाम 'जोइन्दु' 'योगीन्दु' या 'जोगिन्द' ही है। तीनों एक ही शब्द के भिन्न भिन्न रूप हैं।

कालनिर्णय

'जोइन्दु' के नामकरण के समान ही उनके कालनिर्णय पर भी मतभेद है और उनको ईसा की छठी शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी तक घसीटा जाता है। श्री गांधी 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' की भूमिका में 'जोइन्दु' को प्राकृत वैयाकरण चंड से भी पुराना सिद्ध करते हैं। इस प्रकार वे इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी मानते जान पड़ते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आपको आठवीं नवीं शताब्दी का कवि मानते हैं। श्री मधुसूदन मोदी ने आपको दसवीं शती में वर्तमान होना सिद्ध किया है। श्री उदयसिंह भटनागर ने लिखा है कि 'प्रसिद्ध जैन साधु जोइन्दु, जो एक महान् विद्वान् वैयाकरण और कवि था, सम्भवतः चित्तौड़ का ही निवासी था। इसका समय विक्रम की दशवीं शती था। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास (भाग १) में आपको ११ वीं शती से पुराना माना गया है। श्री कामता प्रसाद जैन आपको १२ वीं शताब्दी का 'पुरानी हिन्दी' का कवि बताते हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने कई विद्वानों के तर्कों का सप्रमाण खण्डन करते हुए योगीन्दु को ईसा की छटी शताब्दी का होना निश्चित किया है। योगीन्दु के आविर्भाव सम्बन्धी इतने मतभेदों का कारण, उनके सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक तथ्य का अभाव है। श्री ए० एन० उपाध्ये को छोड़कर अन्य किसी ने न तो योगीन्दु पर विस्तार से विचार किया है और न अपनी मान्यता के पक्ष में कोई सबल कारण ही उपस्थित किया है। किन्तु श्री उपाध्ये जी ने जो समय निश्चित किया है, उसको भी सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः योगिन्दु की रचनाओं में कुछ ऐसे दोहे मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि यह सिद्धों और नाथों के विचारों से प्रभावित थे। वही शब्दावली, वही बातें, वही प्रयोग योगीन्दु की रचनाओं में पाये जाते हैं, जो बौद्ध, शैव, शाक्त आदि यौगियों और तान्त्रिकों में प्राप्त होते है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा हैं कि "आज उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा लिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगे। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूमफिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं।" (मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४४) इसके काव्य और सिद्ध साहित्य में 'आत्मतत्व' की उपलब्धि के सम्बन्ध में लगभग एक ही प्रकार की बातें दिखाई पड़ती हैं। बाह्याचार का विरोध,

चित्त शुद्धि पर जोर, शरीर को ही समता साधनाओं का केन्द्र बिन्दु समझना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग दोनों को स्वीकार्य है ।

सिद्ध युग ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं शती तक माना जाता है और 'सरहपाद' आदि सिद्ध माने जाते हैं । राहुलजी के अनुसार आपकी मृत्यु तिथि सन् ७८० ई० हैं । इसी शताब्दी से बौद्ध धर्म, हीनयान और महायान के विकास की चरम सीमा पर पहुंचकर अब एक नई दिशा लेने की तैयारी कर रहा था, जब उसे मन्त्रयान, वज्रयान, और सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी और जिसके अगुआ स्वयं सरहपाद थे । कहने का तात्पर्य यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में नए विचारों का समावेश प्रारम्भ होता हैं । और विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों के संत प्रायः एक ही स्वर में आत्मा, परमात्मा आदि विषयों पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं । यहां तक कि जैन धर्म भी इससे अछूता नहीं रह जाता है । योगीन्दु सम्भवतः ऐसे प्रथम जैन मुनि है, जो इस प्रभाव में आते हैं । अतएव उनका समय आठवीं सदी से पूर्व नहीं हो सकता । आठवीं शती के एक धार्मिक मोड पर विचार करते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं—"जैन धर्म के बारे में यह बात उतने जोर से नहीं कही जा सकती, पर वहां भी योगीन्दु, रामसिंह जैसे सन्तों को हम नया राग अलापते देखते हैं, जिसमें समन्वय की भावना ज्यादा मिलती है ।" (दोहा कोष, पृ० ५) राहुल जी के अन्य कथन से भी यह ध्वनि निकलती है कि योगीन्दु और मुनि रामसिंह, आठवीं शती के पूर्व नहीं हुए होंगे ।

पुनश्च भाषा की दृष्टि से विचार करने पर भी योगीन्दु का रचनाकाल आठवीं-नवीं शती ही ठहरता है । आपके 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ हैं । अपभ्रंश भाषा एक परिष्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में कब आई ? इस पर विद्वान एक मत नहीं हैं । वैसे अपभ्रंश शब्द काफी प्राचीन हैं । संभवतः उसका प्रथम प्रयोग ईसा पूर्व दूसरी शती के 'पातञ्जल महाभाष्य' में मिलता है । इसके पश्चात् व्याडि दण्डी आदि के द्वारा 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग हुआ है । किन्तु भाषा के लिए इसका प्रयोग छट्ठी शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता । "भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से छठी शती ईस्वी में प्राकृत वैयाकरण चण्ड, बलभी के राजा द्वितीय धरसेन के ताम्रपत्र, भामह और दण्डी के अलंकार ग्रन्थों में मिलता है ।" (डा० नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० ६) ।

भाषा का यह नियम है कि वह संयोगात्मक अवस्था से वियोगात्मक अवस्था और फिर वियोगात्मक अवस्था से संयोगात्मक अवस्था के रूप में विकसित होती रहती है । संस्कृत, श्लिष्ट भाषा थी । उसके पश्चात् पालि, प्राकृत और अपभ्रंश क्रमशः अधिकाधिक अश्लिष्ट होती गई । उनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आती गई । धातु रूप, कारक रूप आदि कम होते गए । अपभ्रंश तक आते आते भाषा का अश्लिष्ट रूप अधिक स्पष्ट हो गया । वास्तव में अपभ्रंश, संस्कृत–पालि–प्राकृत के श्लिष्ट भाषाकुल से उत्पन्न पर अश्लिष्ट होने से एक नये प्रकार की भाषा है और हिन्दी के बहुत निकट है । श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तो अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी ही माना है और अपभ्रंश साहित्य के अनेक उद्धरणों का विश्लेषण करके वह इस

निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यह उदाहरण अपभ्रंश कहे जाय, किन्तु यह उस समय की पुरानी हिन्दी ही है। वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ से स्थान स्थान पर स्पष्ट होगा।" (पुरानी हिन्दी पृ० १३०)।

भाषा के विकास क्रम में ऐसा समय भी आता है जब कि एक भाषा अपने स्थान से हटने लगती है और दूसरी भाषा उसका स्थान ग्रहण करने के लिए सक्रिय हो उठती है। इसको भाषा का संक्रान्ति-युग कहते हैं। ऐसे संक्रान्ति युग, संस्कृत-पालि, पालि-प्राकृत, प्राकृत-अपभ्रंश और अपभ्रंश-हिन्दी के समय में आए हैं। छठी शताब्दी को प्राकृत-अपभ्रंश का संक्रान्ति-युग माना जाता है, जब कि प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी। और कविगण अपभ्रंश की ओर झुक रहे थे। किन्तु अभी अपभ्रंश का स्वरूप निर्देश नहीं हो सका था। उसके अनेक प्रयोग हिन्दी के से थे। योगीन्दु मुनि के 'परमात्म प्रकाश' और विशेष रूप से 'योगसार' की जो भाषा है, उसे हम छठी शताब्दी की भाषा नहीं मान सकते; क्योंकि उस समय की भाषा में अचानक इतनी वियोगात्मकता और सरलता आ जाय, जैसी कि योगसार में है, इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। योगसार के कुछ दोहों से स्पष्ट हो जायगा कि वे हिन्दी के कितने निकट हैं:—

देहादिउ जे परि कहिया, ते अप्पणु ण होहिं।
इउ जाणे विण जीव तुहं अप्पा अप्प मुणेहिं ॥११॥
चउरासी लक्खहिं फिरिउ कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मतु ण लद्धु जिय, एहउ जाणि णिमंतु ॥२१॥

उक्त दोहों मे देहादिउ, जे, परि, ते, होहिं, जीव, तुहं, चउरासी, कालु, जिय आदि शब्द बिल्कुल हिन्दी के ही हैं।

हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण पर विचार किया है। उन्होंने व्याकरण की विभिन्न विशेषताओं के प्रमाण रूप में अपभ्रंश की रचनाओं को उद्धृत किया है। ये उद्धरण पूर्ववर्ती और समकालीन व्यक्तियों की रचनाओं से लिए गए हैं। हेमचन्द्र का समय सम्वत् ११४५ से सं० १२२६ माना जाता है। अधिकांश उद्धरण आठवीं नवीं और दसवीं शताब्दी के हैं। 'परमात्म प्रकाश' के भी तीन दोहे थोड़े अन्तर के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में पाए जाते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने आठवीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक की अपभ्रंश पर विचार किया है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि योगीन्दु मुनि ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ में हुए होंगे। डा० हरिवंश कोछड़ ने भी योगीन्दु का समय आठवीं नवीं शताब्दी माना है। उन्होंने डा० उपाध्ये के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि "चण्ड के प्राकृत लक्षण में परमात्म प्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया हुआ मिलता है, जिसके आधार पर डा० उपाध्ये योगीन्द्र का समय चण्ड से पूर्व ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं। किन्तु संभव है कि वह दोहा दोनों ने किसी दूसरे स्रोत से लिया हो। इसलिए इस युक्ति से हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुंच सकते। भाषा के विचार से योगीन्द्र का समय आठवीं शती के लगभग प्रतीत होता है।" (अपभ्रंश साहित्य पृ० २६८)

ग्रंथ

योगीन्दु मुनि के नामकरण और आविर्भाव के समान, उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने ऐसे नौ ग्रन्थों की सूची दी है, जो योगीन्दु के नाम से अभिहित किए गए हैं। वे ग्रन्थ हैं (१) परमात्म प्रकाश, (२) योगसार, (३) नौकार श्रावकाचार, (४) अध्यात्म-संदोह, (५) सुभाषित-तन्त्र, (६) तत्वार्थ टीका, (७) दोहा पाहुड, (८) अमृताशीति, (९) निजात्माष्टक। इनमें से नं० ४, ५ और ६ के विषय में विशेष विवरण का पता नहीं चल रहा है। 'अमृताशीति' एक उपदेश प्रधान रचना है। अंतिम पद में 'योगीन्द्र' शब्द आया है। यह रचना योगीन्दु मुनि की ही है, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। 'निजात्माष्टक' प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। इसके रचयिता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

नौकार श्रावकाचार या सावयधम्म दोहा में जैन श्रावकों के आचरण सम्बन्धी नियम है। इसके रचयिताओं में तीन व्यक्तियों—योगीन्दु, लक्ष्मीधर और देवसेन का नाम लिया जाता है। हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास' में योगीन्दु को 'सावयधम्मदोहा' का कर्त्ता बताया गया है। इस पुस्तक की कतिपय हस्तलिखित प्रतियों के अंत में 'जोगेन्द्र कृत' लिखा भी है। 'सावयधम्म दोहा' की तीन हस्तलिखित प्रतियां ऐसी है, जिसमें कवि का नाम 'लक्ष्मीचन्द्र' दिया हुआ है। किन्तु इसका सम्पादन डा० हीरालाल जैन ने किया है और उसकी भूमिका में सम्पादक 'देवसेन' को ग्रन्थ का कर्ता प्रामाणिक ढंग से सिद्ध कर दिया है। अतएव अब इसमें संदेह नहीं रह गया है कि 'सावयधम्मदोहा' देवसेन की रचना[1] है। देवसेन दसवीं शताब्दी के कवि थे। उन्होंने दर्शनसार, भाव संग्रह आदि ग्रन्थों की रचना की थी।

'दोहापाहुड' के सम्बन्ध में दो रचयिताओं का नाम आता है—मुनि रामसिंह और योगीन्दु मुनि। डा० हीरालाल जैन ने इसका भी संपादन किया है और मुनि रामसिंह को इसका कवि माना है।

अब दो ग्रन्थ–परमात्म प्रकाश और योगसार ही ऐसे रह जाते हैं, जिनको निश्चित रूप से योगीन्दु मुनि की रचना माना जा सकता है। परमात्म प्रकाश में दो महाधिकार हैं। प्रथम महाधिकार में १२३ तथा दूसरे में २१४ दोहे हैं। इस ग्रन्थ की रचना योगीन्दु मुनि ने अपने शिष्य भट्ट प्रभाकर के आत्मलाभ के लिए की थी। प्रारम्भ में भट्ट प्रभाकर पंचपरमेष्ठी तथा योगीन्दु मुनि की वन्दना करके निर्मल भाव से कहते हैं कि 'मुझे संसार में रहते हुए अनन्त काल व्यतीत हो गया, फिर भी सुख नहीं मिला। अतएव हे गुरु! चतुर्गति के दुःखों को निवारण करने वाले परमात्म का वर्णन कीजिए:—

'भावि पणविवि पंच गुरु सिरि जोइन्दु जिणाउ।
भट्ट पहायरि विण्णिविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

---

१. जहां तक मेरा ख्याल है इस ग्रंथ का कर्ता लक्ष्मीचंद्र ही है।

—सम्पादक

गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु प्रणंतु ।
पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥
चउगइ दुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोई ।
चउ गइ दुक्ख विणासयरु कहउ पसाएं सो वि ॥१०॥

(परम० प्रकाश)

भट्ट प्रभाकर की इस प्रार्थना को सुनकर योगीन्दु मुनि 'परम तत्त्व' की व्याख्या करते हैं। आत्मा के भेद—बहिरात्मा, परमात्मा, अन्तरात्मा का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, निश्चयनय, व्यवहारनय, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हैं। स्थान स्थान पर भट्ट प्रभाकर शंका उपस्थित करते हैं। इसीलिए अंत में उन्होंने कहा है कि पंडितजन इसमें पुनरुक्ति दोष पर ध्यान न दें, क्योंकि मैंने भट्ट प्रभाकर को समझाने के परमात्म तत्त्व का कथन बार बार किया है:—

इत्थु ण होवउ पंडियहिं गुण दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्ट पहायर कारणइं मइ पुणु पुणु वि पवुत्तु ॥२११॥

'योगसार' आपकी दूसरी रचना है। इसमें १०८ दोहा छन्द हैं। इसका विषय भी वही है, जो 'परमात्मप्रकाश' का है। ग्रन्थ के अंत में कवि ने स्वयं कहा है कि 'संसार के दुःखों से भयभीत योगीन्दु देव ने आत्म संबोधन के लिए एकाग्र मन से इन दोहों की रचना की :—

संसारहँ भयभीतएण जोगिचन्द मुणिएण ।
अप्पा संबोहण कया दोहा इक्क मणेण ॥१०८॥

दोनों ग्रन्थ भी ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित होकर 'रामचन्द्र जैन शास्त्र माला' से प्रकाशित हो चुके हैं।

महत्त्व

योगीन्दु मुनि उच्च कोटि के साधक थे। आपने जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों का विशद अध्ययन किया था। आप संकीर्ण विचारों से सर्वथा मुक्त थे। आपने अनुभूति को ही अभिव्यक्ति का आधार बनाया। आपने आत्मा की उतनी अवस्थाओं को आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही स्वीकार किया है और कहा है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक होने पर भी पर्याय दृष्टि से तीन प्रकार का हो जाता है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीर को ही आत्मा समझने वाले मूढ़ या बहिरात्मा होते हैं। ऐसे मिथ्या दृष्टि पुरुषों को यह विश्वास रहता है कि मैं गोरा हूं या श्याम वर्ण का हूं। मैं स्थूल शरीर का हूं या मेरा शरीर दुर्बल है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि विभिन्न वर्णों की अयथार्थता में भी निष्ठा रखते हैं:—

हउं गोरउ हउं सामलउ, हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु अंगउं थूलु हउं, एहउ मूढउ मण्णु ॥८०॥

हउं वर बंभणु वइसु हउं, हउं खत्तिउ हउं सेसु।
पुरिस णउंसउ इत्थु हउं, मण्णइ मूढ़ विसेसु ॥८१॥

(पर० प्रकाश पृ० ८६)

किन्तु जो कर्मकलंक से विमुक्त हो जाता है, सम्यक् दृष्टा हो जाता है, सत्यासत्य विवेकी हो जाता है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, उसे शरीर और आत्मा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आत्मा की यही अवस्था 'परमात्मा' कहलाती है। यह परमात्मा ही निरंजन देव है, शिव, ब्रह्मा, विष्णु हैं। एक ही तत्त्व के ये विभिन्न नाम हैं।

योगीन्दु मुनि ने परमात्मा को ही निरंजन देव कहा है। और निरंजन कौन है? इसका वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि निरंजन वह है, जो वर्ण, गंध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है, जन्म मरण से परे है। निरंजन वह है, जिसमें क्रोध, मोह, मद, माया, मान का अभाव है। निरंजन वह है, जो पाप, पुण्य, राग-द्वेष, हर्ष-विषाद आदि भावों से अलिप्त हैं:—

'जासु ण वण्णु ण गंधु रसू जासु ण सद्दु ण प्फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१६॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिस विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो णिरंजणु भाउ ॥२१॥

(परम० प्र० पृ० २७–२८

योगीन्दु मुनि का यह निरंजन, 'निरंजन मत' की याद दिला देता है। निरंजन मत आठवीं–नवीं शताब्दी में बिहार, बंगाल आदि के कुछ जिलों में काफी प्रभावशाली रूप में फैला था। यह मत 'धर्म सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता था। धर्माष्टक नामक एक निरंजन स्तोत्र में 'निरंजन' की ठीक इसी प्रकार के शब्दों में स्तुति की गई है:—

ओं न स्थानं न मानं न चरणारविंदं रेखं न रूपं न च धातुवर्णं।
दृष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ॥
ओं स्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्ण कर्णं।
न चन्द्रार्कवह्नि उदयं न ग्रस्तं तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ॥

(धर्म पूजा निधान, पृ० ७७–८८)

यह निरंजन देव ही परमात्मा है। इसे जिन, विष्णु, बुद्ध और शिव आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्ध सिय संतु।
स्पे परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥६॥

(योगसार, पृ० ३७३)

इसको प्राप्त करने के लिए बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। इसको तो निर्मल चित्त व्यक्ति अपने में ही प्राप्त कर लेता है। मान सरोवर में हंस के समान निर्मल मन में ही ब्रह्म का वास होता है। उसे देवालय, शिला अथवा चित्र में खोजना व्यर्थ है:—

देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥१२३॥

(पर० प्रकाश १२५–१२४)

जब मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से तब पूजा विधान की आवश्यकता भी नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों एकाकार हो जाते हैं—

'मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥१२५॥

(पर० प्रकाश पृ० १२५)

इस सामरस्य भाव के आने पर हर प्रकार का वैषम्य समाप्त हो जाता है, द्वैतभाव का विनाश हो जाता है। वस्तुतः मन का, जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक को किसी प्रकार के बाह्य आचरण या साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

इस प्रकार श्री योगीन्दु मुनि आठवीं–नवीं शती के अन्य साधकों के स्वर में स्वर मिला कर ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का मोहक विवरण प्रस्तुत करते हैं। आपका महत्व इस बात में भी है कि आपने प्राकृत भाषा को न अपनाकर, जन सामान्य में व्यवहृत भाषा को स्वीकार किया। इससे आपकी उदार मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त हो जाता है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने ठीक ही लिखा है कि उच्च कोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जाने वाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को छोड़कर योगीन्दु का उस समय की प्रचलित भाषा अपभ्रंश को अपनाना महत्व से खाली नहीं है। इस दृष्टि से वे महाराष्ट्र के संत ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और रामदेव तथा कर्णाटक के बसवन्न आदि साधकों की कोटि में आते हैं क्योंकि वे भी इसी प्रकार मराठी और कन्नड़ में अपनी अनुभूतियों को बड़े गर्व से व्यक्त करते हैं।

यशस्तिलक चम्पू का परिचयात्मक अध्ययन

डा० छविनाथ त्रिपाठी, एम. ए., पी-एच. डी.,

[यशस्तिलक चम्पू का महत्त्व केवल एक साहित्यिक रचना मात्र के कारण नहीं है। वह अपने युग (१० वीं शताब्दी) का एक प्रतिनिधि काव्य है, जिसमें तत्कालीन समाज, राजनीति, युद्ध-व्यवस्था, संधि-विग्रह राजकीय चर्चा, विलास, सामयिक इतिहास, आचार-विचार आदि का चित्रण तो है ही, जैन धर्म के मूल तत्त्वों, उसकी प्रयोगात्मक पद्धतियों आदि के वर्णन के कारण वह धार्मिक रचना भी है। इसके सांस्कृतिक मूल्यों का पृथक् अध्ययन किया जा सकता है। —सं०]

अन्तः और बहिः साक्ष्य के आधार पर यशस्तिलक चम्पू काव्य के रचयिता आचार्य सोमदेव का निम्नलिखित परिचय उपलब्ध है—

सोमदेव, देव संघ की शिष्य-परम्परा में नेमिदेव के शिष्य थे। स्याद्वादाचलसिंह तार्किकचक्रवर्तिन्, वादीभपंचानन, वाक्कल्लोल-पयोनिधि, कविकुलराज आदि इनकी प्रशस्ति परक उपाधियां थीं। षण्णवतिप्रकरण, महेन्द्रमातलिसंजल्प, युक्तिचिन्तामणिस्तव तथा नीतिवाक्यामृत, इनकी अन्य रचनाएं हैं। नीतिवाक्यामृत की रचना यशस्तिलक के बाद हुई। इसमें ३२ परिच्छेद हैं तथा इस पर किसी एक जैनेतर अज्ञात व्यक्ति की टीका है।

सोमदेव, यद्यपि राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय के समकालिक एवं उनके आश्रित कवि थे, फिर भी यशस्तिलक की रचना राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट में न होकर कृष्णराज के सामन्त चालुक्यवंशी अरिकेसरिन् के पुत्र वाग्राज की राजधानी में हुई थी। इस काव्य की समाप्ति सिद्धार्थ संवत्सर की चैत्र मास की मदन त्रयोदशी को शक ८८१ (सन् ९५९ ई०) में हुई थी। अरिकेसरी चतुर्थ ने शक ८८८ में सोमदेव को एक ग्राम दान में दिया था, जिसकी आय से वह एक जिनालय की मरम्मत करा सकें।

सोमदेव अपने समय के महामान्य विद्वानों एवं कवियों में से एक थे। अनेक सामन्त उन्हें सिर झुकाते थे (अखिलमहासामन्तसीमन्तप्रान्त····)। यशस्तिलक चम्पू के तृतीय उच्छ्वास में वर्णित राज दरबार का दृश्य, इस बात का साक्षी है कि सन्त होते हुए भी राष्ट्रकूट दरबार से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। और इसी लिए ही उन्होंने—अथ धर्मार्थ-काम-फलाय राज्याय नमः—नीतिवाक्यामृत में यह कह कर राजा की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्त्व दिया।

सोमदेव, कृष्णराज तृतीय के मन्त्री भरत के आश्रित कवि पुष्पदन्त के समकालिक है। यशस्तिलक के टीकाकार श्रुतसागर सूरि के कथनानुसार जैन कवि वादिराज और वादीभ

सिंह, दोनों सोमदेव के शिष्य थे। उक्त दोनों कवियों ने अपने अपने गुरु का नाम भिन्न भिन्न अर्थात् मतिसागर, एवं पुष्प सेन लिखा है।

यशस्तिलक चम्पू में कुल आठ आश्वास हैं, जिनमें महाराज यशोधर का चरित वर्णित है। इसमें काव्य, दर्शन और राजनीति का मंजुल समन्वय दिखाई पड़ता है। यह उनकी प्रौढ़ावस्था की प्रौढ़ रचना है। स्वयं सोमदेव ने कहा है—

आजन्मसमभ्यस्तात् शुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ।।१।१७५.

शुष्क सैद्धान्तिक तत्वों को सरस काव्य में परिणत करने का श्रेय सोमदेव को ही प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त तर्क और काव्य का सुन्दर समन्वय, एक मात्र अन्य प्रसिद्ध कवि श्री हर्ष में दिखाई पड़ता है जिन्होंने नैषधीयचरित और खण्डनखण्डखाद्य की रचना की। सोमदेव की गर्वोक्तियां जिस प्रकार तर्क के सम्बन्ध में उपलब्ध होती हैं, वैसी ही काव्य सम्बन्ध में भी—

मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः। ३।५१२ यश०
लोक वित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः।
सोमदेवकवेः सूक्तीः समभ्यस्यन्तु साधवः ५।२।३ यश०

यशोधर का चरित जैन धर्म के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में अत्यन्त लोकप्रिय है और इसकी कथा को आधार बना कर अनेक जैन कवियों ने संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश प्राचीन गुजराती, तमिल, कन्नड़ और हिन्दी में अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। हरिभद्र से लेकर लक्ष्मीदास (१७२८ ई०) तक यशोधर चरित को आश्रित कर २६ रचनायें लिखी गईं, जो उल्लिखित विविध भाषाओं मे प्रस्तुत की गई हैं। (द्रष्टव्य श्री पी० एल० वैद्य लिखित जसहर चारिउ की भूमिका)

यशस्तिलक चम्पू की कथावस्तु

यशोधर की कथा कितनी प्राचीन है इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह दसवीं शताब्दी से पूर्व जैन धर्म की एक पौराणिक कथा के रूप में अवश्य प्रचलित थी। उद्योतन सूरि (७७७ ई०) के कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ में प्रभंजन रचित यशोधर चरित का उल्लेख हुआ है। उद्योतन के गुरु हरिभद्र की प्राकृत रचना "समराइच्च कहा" में भी यशोधर का चरित वर्णित है (द्रष्टव्य चतुर्थ भव)। सोमदेव एवं पुष्पदन्त ने अपनी अपनी रचनाओं में जिस प्रकार की कथा वर्णित की है, वह हरिभद्र द्वारा वर्णित कथा से सर्वथा भिन्न है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन दोनों की कथावस्तु का स्रोत कोई अन्य रहा होगा। हरिभद्र की कथा से इन दोनों की वर्णित कथा की भिन्नता निम्न लिखित है—

१. हरिभद्र की कथा में पात्रों के नाम भिन्न-भिन्न हैं—

यशोधर के स्थान पर कथा का नायक—सुरेन्द्रदत्त है। दोनों के माता-पिता के नाम भिन्न-भिन्न हैं। सुरेन्द्रदत्त की पत्नी नयनावली है और यशोधर की पत्नी अमृतमति। प्रथम का पुत्र गुणभद्र है और दूसरे का यशोमति।

२. घटनाओं में रूप सादृश्य तो है, परन्तु सोमदेव ने ब्राह्मण-परम्परा का खण्डन करने के लिए कहीं कहीं उनमें परिवर्तन कर लिया है।

(क) सुरेन्द्रदत्त विशाला[1] का राजा था और यशोधर उज्जयिनी का।

(ख) अमृतमति का प्रेम एक हस्तिपाल से हुआ था और नयनावली का अन्तःपुर के रक्षक एक कुब्जे से।

(ग) सुरेन्द्रदत्त की हत्या का कारण नयनावली की संन्यास ग्रहण की अनिच्छा और गुणभद्र की शैशवावस्था में राज्य-शासन का लोभ बताया गया है जब कि अमृतमति आत्म-रक्षा एवं लोकापवाद के भय से पति की हत्या करती है।

(घ) कुक्कुट बलि के समय सोमदेव ने जिस प्रकार दो पक्षों का विवाद प्रस्तुत किया है हरिभद्र ने नहीं।

(ङ) सबसे मुख्य बात तो यह है कि हरिभद्र वाली कथा में राजा मारिदत्त और उससे सम्बद्ध घटनाएं नहीं हैं।

हरिभद्र एवं सोमदेव—दोनों द्वारा निर्मित कथाओं का लक्ष्य समान है—जैन धर्म का प्रचार एवं जनजीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा, किन्तु दोनों की पद्धति तथा दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। हरिभद्र ने हिंसा का एक ही अवसर दिखाया है, सोमदेव ने मारिदत्त द्वारा चण्डमारि के मन्दिर में बलि की व्यवस्था करवा कर हिंसा के उग्र एवं क्रूर स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया है।

वस्तुतः यशस्तिलक चम्पू काव्य में सोमदेव ने दो कथाओं को संश्लिष्ट कर दिया है:—

(१) पहली कथा मारिदत्त की है। यह क्रूरकर्मा राजा विश्व विजयिनी असि की सिद्धि के लिए संसार के सभी प्राणि युगल की बलि की व्यवस्था करता है। अभय रुचि और अभयमति भी मानव-युगल के रूप में बलि दिये जाने के लिये राजा के सैनिकों द्वारा लाये जाते हैं। वे दोनों पहले तो संगीत एवं राजा की स्तुति द्वारा उसके चित्त को कोमल बनाते हैं—एक मानसिक हिंसा भी किस प्रकार अनेक जन्मों में दुःख का कारण बनती है—इसकी पुष्टि वे अपने ही दुःखमय जन्म-जन्मान्तरों की कथायें सुनाकर स्पष्ट करते हैं और राजा मारिदत्त को हिंसा से विरत बना कर मुनि सुदत्त से दीक्षा ग्रहण के लिए तैयार करते हैं।

(२) दूसरी कथा यशोधर की कथा है जिसका विस्तृत वर्णन यशस्तिलक में हुआ है। कवि की दृष्टि में यही मुख्य कथा है। इसी के नाम पर काव्य का नाम करण हुआ है।

---

१. कालिदास के मेघदूत के व्याख्याकार मल्लिनाथ के अनुसार 'विशाला' उज्जयिनी का ही दूसरा नाम है। —सम्पादक

कवि ने यद्यपि मारिदत्त की कथा को पूर्व पीठिका के रूप में प्रस्तुत किया है फिर भी वह अपने आप में एक पूर्ण कथा है जिस प्रकार मारिदत्त की कथा मुख्य यशोधर–कथा की पोषक है, उसी प्रकार मुख्य कथा भी मारिदत्त कथा की पोषक है। मारिदत्त की मनःस्थिति के परिवर्तन में वह साधक बन जाती है। उसकी क्रूर हिंसात्मक मनोवृत्ति में परिवर्तन मुख्य कथा को सुन लेने पर ही होता है। यह कथा अपने आप में एक सबल और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया (Process) की द्योतक बन जाती है। मारिदत्त की कथा और उसका चरित्र दोनों ही यशोधर की कथा और उसके चरित्र से सबल हैं। यशोधर, कई जन्मों में जिस कल्याणपथ को नहीं प्राप्त कर पाता, उसे मारिदत्त एक ही जन्म में प्राप्त कर लेता है, यद्यपि वह यशोधर से अधिक क्रूर तथा हिंसक है।

यशोधर की कथा को मुख्यता देने पर वह एक पौराणिक कथा का रूप ग्रहण कर लेती है, जिसका वक्ता अभयरुचि, श्रोता मारिदत्त एवं उपस्थित अन्य व्यक्ति, तथा मारिदत्त की हिंसा से विरति और सभासदों सहित जैन धर्म का ग्रहण, उस कथा श्रवण का फल है। मारिदत्त की कथा को मुख्यता देने पर, वह एक अत्यन्त क्रूर तथा हिंसक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति की मन स्थिति के परिवर्तन को चित्रित करने वाली मनोवैज्ञानिक कथा बन जाती है सोमदेव की कुशलता इन दोनों कथाओं को एक ही उद्देश्य–सूत्र में सफलता पूर्वक गूंथ देने में दिखाई पड़ती है।

सोमदेव ने जब यशस्तिलक चम्पू काव्य की रचना की, उस समय उनके सामने संस्कृत और प्राकृत का विशाल साहित्य–भंडार खुला पड़ा था। एक से एक उत्तम जगमगाते रत्न उन्हें दिखाई पड़े, अतः स्वाभाविक ही था कि काव्य–रचना के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के उपरान्त ही अपना काव्य रत्न उस विशाल भण्डार में सम्मिलित करते। उन्होंने बड़ी विनम्रता से पूर्ववर्ती कवियों के महत्त्व को स्वीकार किया है, किन्तु साथ ही वह मानते हैं कि बौद्धिक प्रतिभा किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं है। किन्हीं भी दो कवियों की कल्पना की उडान एवं भावाभिव्यक्ति में सादृश्य हो सकता है। उनकी दृष्टि में गद्य और पद्य तो अभिव्यक्ति की शैलियां मात्र हैं, काव्य के मुख्य तत्त्व तो वे अनुभूतियां ही हैं, जो स्वसंवेद्य होती हैं और जिन्हें अभिव्यक्ति दी जाती है। सच्चे कवि की वाणी से निस्सृत सुन्दर और मार्मिक अनुभूतियों में अपूर्वता आ ही जाती है। एक सुकवि की वाणी सभी प्राणियों को आनन्द से रोमांचित कर देने की क्षमता रखती है। ईर्ष्या–भाव से मुक्त होकर काव्य का रसास्वादन करने वाला पाठक ही काव्य का सच्चा परीक्षक है। प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु केवल मनोरंजन की की दृष्टि से ही नहीं ग्रहण की जानी चाहिए, उसमें दोषों के प्रक्षालन की क्षमता भी होनी चाहिए। यशस्तिलक चम्पू में इस उक्त दृष्टिकोण को अधिकाधिक प्रयोगात्मक रूप दिया गया है। इसीलिए इस काव्य के सम्बन्ध में सोमदेव ने स्वयं कहा है—

उक्तयः कविताकान्ताः सूक्तयोऽवसरोचिताः।
युक्तयः सर्वशास्त्रान्तास्तस्य यस्यात्र कौतुकम् ॥ १।१५॥
आजन्म समभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कातृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥१।१७॥

पूर्ववर्ती गद्य काव्यों का प्रभाव

सोमदेव के पूर्व ही वासवदत्ता, हर्षचरित, कादम्बरी आदि प्रमुख गद्य काव्यों का निर्माण हो चुका था। वह इन प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचनाओं से अपरिचित रहे हों, यह उन जैसे विद्वान के लिए असम्भव प्रतीत होता है। किसी कवि पर पूर्ववर्ती रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इन रचनाओं की उपस्थिति कविप्रतिभा के लिए एक चुनौती भी होती है, जिसे स्वीकार कर वह और भी उत्तम काव्य के सृजन में तत्पर होती है। सोमदेव, भावापहर्ता को चोर और पातकी समझते हैं (१।१२-१३।) फिर वह इसी कार्य में क्यों प्रवृत्त होंगे। अनुकरण की रुचि न रखते हुए भी प्रायः सभी संस्कृत-काव्य-निर्माताओं को एक बंधी हुई परम्परा का पालन करना पड़ा है, जो उस काव्य की प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए भी साधन समझा जाता था।

यशस्तिलक चम्पू में कथावस्तु को प्रस्तुत करने का जो क्रम रखा गया है वह क्रम भी कादम्बरी के क्रम से प्रभावित है। कादम्बरी में शूद्रक और शुक की कथा पूर्व पीठिका के रूप में प्रस्तुत कर मूल कथा से उसे संश्लिष्ट कर दिया गया है। यही स्थिति यशस्तिलक में मारिदत्त की कथा और मुख्य कथा (यशोधर चरित) के सम्बन्धों में दिखाई पड़ती है। दोनों ही कृतियां जन्मान्तर कथाओं एवं लघु प्रवान्तर-अन्तरकथाओं-को समेटे हुए हैं। उपसंहार में पात्रों का जन्मान्तर ज्ञान भी एक सादृश्य है।

दोनों कृतियों में-जनपद, ग्राम, नगर, राजा उसकी दैनिकचर्या विलास क्रीडा-आदि के वर्णन क्रम में भी बहुत कुछ साम्य है। थोड़े से परिवर्तन के साथ कादम्बरी में भी इस वर्णनानुक्रम की आवृत्ति हुई है। (शूद्रक, तारापीड चन्द्रापीड़ के वर्णन) और यशस्तिलक में भी (यशोर्ध और यशोधर के वर्णन)।

वर्णन-सादृश्य होते हुए भी कादम्बरी प्रणय कथा है पर यशस्तिलक धार्मिक कथा है, उसमें जन्मान्तर तक चलने वाली अनेक दुर्बलताओं तथा मानसिक विकृतियों के संस्कारों का भी चित्रण हुआ है। कादम्बरी की कथा को ही नहीं, चरित्रों को भी बहुत कुछ अति मानवीय कर दिया गया है, परन्तु यशस्तिलक की रचना मानवीय गृहस्थ जीवन की यथार्थ-पृष्ठ भूमि पर हुई है। मुनि सुदत्त को छोड़ कर सभी पात्र मानवीय सुख दुख के अनुभोक्ता हैं। अनेक गद्य तथा चम्पू काव्यों में यशस्तिलक चम्पू ही एक ऐसा काव्य ग्रन्थ है जो मानवीय धरातल पर अत्यन्त मार्मिक एवं करुण-कथा को आधार बना कर लिखा गया है।

वर्णन साम्य-वैषम्य

यशस्तिलक के चतुर्थ आश्वास में-"आहारः साधुजननिन्दितो मधुमांसादिरिति कथं चेदं मृगयोपयोगानन्दं शबरवृन्दं निन्दितमादिबाणेन" यह कह कर सोमदेव ने सूचित कर दिया है कि वह कादम्बरी और उसके शबर-सैन्य वर्णन से परिचित हैं। पंचम आश्वास का वन-वर्णन वासवदत्ता के (पृ०२२८-२३८) वन-वर्णन से बहुत साम्य रखता है। रूढ़िगत वर्णनों में साम्य होते हुए भी सोमदेव ने नवीनता लाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए मधुमास वर्णन की एक पंक्ति देखी जा सकती है—

'उन्मदकोकिलकुलकलालापकोलाहलिभिः' कादम्बरी पू० भा.११४

'कान्तारकुहरविहरत्कोकिकलकुलकोलाहलोत्था पितानंगव्यालव्याकुलितकामुकेषु' यशस्तिलक प्रथमाश्वासे।

वर्णन–साम्य–वैषम्य के लिए निम्नलिखित स्थल तुलनीय बन सकते हैं:–

(१) राजा मारिदत्त, यशोर्घ एवं यशोधर का वर्णन–क्रमशः कादम्बरी के शूद्रक, तारापीड एवं चन्द्रापीड के वर्णनों से—

(२) मुनि सुदत्त का वर्णन जाबालि के वर्णन से–

(३) प्रमदवन का वर्णन–महाश्वेता के शिवमन्दिरोद्यान से–

(४) सुवेल पर्वत के महावृक्ष का वर्णन कादम्बरी के शाल्मलि वृक्ष वर्णन से–

(५) यशोर्घ एवं शंखनक द्वारा यशोधर को दिए गए उपदेशों की तुलना शुकनासोपदेश से।

(६) यशस्तिलक में वर्णित चतुर्दश सम्प्रदायोत्पत्ति का वर्णन–कादम्बरी के इसी प्रकार के वर्णन से।

(७) यशस्तिलक में भी कादम्बरी, हर्षचरित, वासवदत्ता की भांति ही चित्रमय नाम मिलते हैं—

कुरंगिके! कल्पयकुरंगशावकेभ्यः शष्पांकुरम्'''''''''वासवदत्ता

हरे! व्रतोकविनासव्यसनिनिवासन्तिके''''''''यशस्तिलक०

सोमदेव ने सभी सम्बोधित नामों में अनुकूल विशेषणों को जोड़ कर उन्हें विशिष्ट बना दिया है पर वर्णन में गतिशीलता और त्वरा लाने के लिए धीरे धीरे इन विशेषणों को छोड़ दिया गया है और केवल नाम सम्बोधन मात्र रह गये हैं।

'कुब्ज न्युब्ज शुभाशय विशिष्टासु चेष्टासु। वामन श्रामन'''' ।

यशस्तिलक चम्पू की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं

रूप चित्रण—कादम्बरी और वासवदत्ता सहित अन्य गद्य काव्यों से पुरुषों के रूप चित्रण के साथ स्त्रियों का नख–शिख एवं रूप चित्रण भी उपलब्ध होता है, परन्तु यशस्तिलक में पुरुषों का रूप चित्रण तो हुआ है, पर चेलिनी की बधुओं और पुष्पदन्त की स्त्री के साधारण रूप चित्रण को छोड़ कर अन्य स्त्री–पात्रों का रूप चित्रण नहीं किया गया है। जैन सन्त होने के कारण दो चार विशेषणों के द्वारा ही ऐसे अवसरों को निभा लिया गया है। अपनी रूप चित्रण की अतुलनीय क्षमता का प्रदर्शन उन्होंने चण्डमारि देवी, महायोगिनियों एवं उज्जयिनि के राज पथ पर विचरण करते हुए यशोधर के एक चर के वर्णन में किया है। दीनता और कुरूपता का जैसा चित्रण उन्होंने हस्तिपाल का वर्णन करते हुए प्रस्तुत किया हैं वैसा संस्कृत साहित्य के अन्य काव्य–ग्रन्थों में शायद ही मिले। व्यक्तियों के ही नहीं, पशु पक्षियों के वर्णन में भी उन्होंने अनुपम चित्रात्मकता प्रस्तुत की है। पंचम आश्वास में ऐसे कई वर्णन हैं।

प्रकृति चित्रण एवं वातावरण का प्रस्तुतीकरण—वन वर्णन के समय पशुओं का वर्णन, शिप्रा,–सौन्दर्य का वर्णन आदि कुछ मनोरम स्थल हैं, शेष, ऋतु या प्रकृति वर्णन रूढ़िगत ही हैं, परन्तु विविध अवसरों पर वातावरण प्रस्तुत कर उन्होंने भावों की जो अनुकूलता और प्रतिकूलता का मोड़ प्रस्तुत किया है वैसा मनोवैज्ञानिक वर्णन अन्यत्र दुलर्भ है। चण्डमारि देवतायतन के वातावरण एवं उसके पड़ने वाले वलिपशुओं और मानवमन पर प्रभाव को जिस रूप में सोमदेव ने प्रस्तुत किया है वह उनकी अद्भुत काव्य–प्रतिभा का ही नहीं उनके सफल मनोवैज्ञानिक होने का भी प्रमाण है। रौद्र–रूप, वन्य–जीवन तथा कापालिक साधना आदि का ऐसा यथार्थ चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

सैन्यवर्णन—यशस्तिलक चम्पू का उत्कृष्टतम एवं संस्कृत–साहित्य का अत्यन्त उच्च श्रेणि का वर्णन–यशोधर की सेना का वर्णन है। इसमें सोमदेव ने केवल परम्परा मात्र का ही पालन नहीं किया है, अपितु सैनिकों के रूप–चित्रण, उनके प्रमुख आयुधों तथा गौरव–वर्णन के साथ साथ विविध देशों के सैनिकों की कतिपय परम्पराओं का भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ

"किर्मीरमणिविनिर्मितत्रिशरकण्ठिकं महामण्डलावगुण्ठितगलनालमाग्यमीशान सैन्यमिव ·······आनाभिदेशोत्तम्भितासि धेनुकम्····ऊर्ध्वनखरेखालिखितदेहप्रासादं देव इदम नेक दोलिकाविलं द्रामिलं बलम्।।"

अन्य विशिष्ट वर्णन—स्त्रीचरित्र की दुरूहता (४।६१) मानव प्रकृति एवं उसकी क्रूरता (३।१७४–७५) शिष्ट हास्य (आश्वास ३) व्यापारी सागरदत्त की कंजूसी (७।३२) यशोधर का अन्तर्द्वन्द्व (आश्वास ४) आदि विविध स्थलों पर सोमदेव की वर्णन कुशलता झलकती है।

यशस्तिलक की गद्य शैली—सोमदेव ने इस काव्य के गद्य भाग में मुख्य रूप से समास बहुला गौडी रीति का ही प्रयोग किया है। गद्य के चतुर्विध रूपों में उत्कलिका प्राय की ही बहुलता है। वर्ण्य विषय के अनुकूल ही उन्होंने कहीं समास बहुला, कही अल्प समास युक्ता और कहीं समास रहिता पदावली का प्रयोग किया है। वृत्तगन्धोज्झित का उपयोग उपदेशों में उत्कलिका प्राय और चूर्णक का उपयोग लगभग सभी आश्वासों में हुआ है। वृत्तगन्धि के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे—

विकचकर्णोत्पल स्पर्धितरलेक्षणाः।
कोलितालक्वणत्कनकमयकंकणाः ।।
सरसनखराजिविच्छुरित भुजमण्डलाः।
कांचिकोल्लासवशदर्शितोरुस्थलाः ।।

यशस्तिलक चम्पू में यह अंश गद्य खण्ड के रूप में ही प्रस्तुत किया गया हैं, परन्तु डा० ए० वेंकट सुब्बिया के कथनानुसार यह तेलुगु और कन्नड में प्रयुक्त होने वाला–ललित रगड नामक छन्द है।

यशस्तिलक में कई स्थलों पर संवादों का प्रयोग किया गया है। कहीं तो पात्रों के नाम दे दिये गये हैं, कहीं बिना नाम दिए भी संवाद चलते हैं। इन संवादों में पूर्ण नाटकीयता है (उदाहरणार्थ द्रष्टव्य भट्टिनी और धात्री का संवाद)।

यशस्तिलक के पद्य—इसके पद्य प्रायः कथा वस्तु को आगे नहीं बढ़ाते अपितु स्वतंत्र मुक्तकों का सा आनन्द प्रदान करते हैं। मुक्तकों के भेद कुलक (आ०१।४–८) और युग्मकों (३।४०६–१०) का ही उपयोग हुआ है। काव्यात्मक पद्य भी हैं और सूक्ति परक भी। अन्य कवियों एवं सूक्तिकारों के पद्य भी स्थान स्थान पर उद्धृत हुए हैं। कवि दरबार का भी एक दृश्य है।

यशस्तिलक चम्पू ही एक ऐसा संस्कृत काव्य ग्रन्थ है जिसमें मत्तभविक्रीडित जैसा काव्य में अल्प प्रयुक्त छन्द (२।२२६) मिलता है। जिसमें मात्रिक छन्दों का अधिक एवं संभवतः सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है। वर्ण, मात्रा, चतुष्पदी, पद्धतिका, घत्ता, द्विपदी, मदनावतार जैसे मात्रिक छन्द केवल इसी संस्कृत काव्य ग्रन्थ में मिलते हैं जिनका प्रयोग आगे चल कर वीरगाथा कालीन हिन्दी काव्यों में ही उपलब्ध होता है। इनमें से कुछ छन्द अपभ्रंश की रचनाओं में अवश्य मिल जाते हैं। गद्य और पद्य दोनों में ही अनेक अलंकारों का उपयोग हुआ है। शाब्दी क्रीडा और प्रहेलिका का भी अभाव नही है।

यशस्तिलक चम्पू का महत्व केवल एक साहित्यिक रचना मात्र के कारण नहीं हैं। वह अपने युग (१०वीं शताब्दी) का एक प्रतिनिधि काव्य है, जिसमें तत्कालीन समाज, राजनीति, युद्ध व्यवस्था, संधि विग्रह, राजकीय चर्या, विलास, सामयिक इतिहास, आचार विचार आदि का चित्रण तो है ही, जैन धर्म के मूलतत्त्वों, उसके प्रयोगात्मक पद्धतियों आदि के वर्णन के कारण वह धार्मिक रचना भी है। इसके सांस्कृतिक मूल्यों का पृथक अध्ययन किया जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से यशस्तिलक चम्पू एक युग प्रतिनिधि रचना तो है ही इसने सभी परवर्ती चम्पू काव्यों का पथ-प्रदर्शन भी किया है जिनकी संख्या लगभग ढाई सौ है। आचार्य सोमदेव की विद्वता, अगाध ज्ञान और उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा का निदर्शक यशस्तिलक चम्पू, भगवान महावीर की वाणी को काव्यात्मक रूप देने वाला एक स्तुत्य प्रयास है।

एडिंग्टन का वैज्ञानिक अभिमत और जैन दर्शन

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय'

[एडिंग्टन के दर्शन और जैन दर्शन में कितना साम्य-वैषम्य है, यह अब सरलतया स्पष्ट हो सकता है। एडिंग्टन ने अपने दर्शन का आधार ज्ञान-मीमांसिक विश्लेषण को बताकर यह प्रतिपादित किया है कि चैतन्य एक वस्तु सापेक्ष वास्तविकता है, जो हमारे सारे ज्ञान, अनुभूति, विचार, स्मृति, आदि का स्रोत है। जैन-दर्शन भी "आत्मा" का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है और उसको ही सभी चेतनामय प्रवृत्तियों का स्रोत मानता है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के विषय में तथा उसके चैतन्य-गुण के विषय में दोनों दर्शनों का सदृश प्रतिपादन रहा है। —सं०]

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन वास्तविकतावाद के कड़े विरोधी रहे हैं। उन्होंने वास्तविकतावाद को विरोधी विचारधारा के रूप में मानकर ही अपनी विचार धारा का प्रतिपादन किया है। वास्तविकतावाद का यह साधारण प्रतिपादन है कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व वस्तुसापेक्ष है तथा उनमें रहे हुए रस, स्पर्श, गंध, वर्ण आदि गुण भी वस्तुसापेक्ष है। एडिंग्टन के कथनानुसार—"भौतिक पदार्थों में स्पर्श आदि वास्तविक गुण धर्म होते हैं, यह बात वैज्ञानिक प्रतिपादन के विरुद्ध है। उदाहरण-स्वरूप, वास्तविक 'सेव' का अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिष्क के बाहर स्वतन्त्र रूप से होता है, इस बात का मैं विरोध नहीं करता और न मैं इस बात का भी विरोध करता हूं कि 'रस' का वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विरोध तो वास्तविकतावादियों की इस मान्यता से है कि "वास्तविक सेव के भीतर ही वास्तविक रस का अस्तित्व है, जो ज्ञाता से सर्वथा निरपेक्ष है।[1] एडिंग्टन स्वयं यह मानते हैं कि अनुभूति में आने वाली बातों में 'ज्ञाता' अथवा 'मन' सर्व प्रथम और प्रत्यक्ष है, शेष सब उत्तरवर्ती अनुमान होने से परोक्ष हैं। प्रत्येक मनुष्य की अनुभूति में यह बात तो आती ही है कि उसकी चेतना में क्रमगत परिवर्त्तन होता रहता है—स्मृति, कल्पना, भावना आदि की अनुभूति भी इसके साथ साथ होती रहती है। इस प्रकार किसी भी प्रकार की अनुभूति में एक ऐसा तत्त्व रहता है जो यद्यपि व्यक्तिगत चैतन्य से भिन्न है, बहिर्जगत् के पदार्थों से भी भिन्न है; बहिर्जगत् के पदार्थ और उनकी ऐन्द्रिय अनुभूति तो इससे बहुत बाद के हैं तथा परोक्ष हैं।"[2] इस प्रकार देखा जा सकता है कि एडिंग्टन की विचारधारा में ज्ञाता को प्रधानता दी गई है; वह इसलिए कि उनके अभिमत में ज्ञाता की कोई भी अनुभूति नई नहीं होती; पुरानी अनुभूति के साथ

१. दी न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० २८१

२. वही, पृ० २८०

कुछ-न-कुछ सादृश्य रखती ही है। ज्ञाता वही रहता है और पुरानी अनुभूति के आधार पर नई अनुभूति को जन्म देता है। यह नई-पुरानी का चक्र चलता रहता है और पुनः इसमें वही अनुभूति होती है, जो पहले हो चुकी थी।[1] भौतिक विज्ञान इसी बात पर आधारित है कि भिन्न-भिन्न अनुभूतियों का ज्ञाता एक ही है और इसलिए ही भौतिक विज्ञान ज्ञाता–सापेक्ष विश्व का प्रतिपादन करता है।[2]

एडिंग्टन ने अपनी विचार धारा को सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद कहा है और बरकले के ज्ञाता-सापेक्षवाद से उसको भिन्न बताया है, इसकी चर्चा की जा चुकी है।[3]

नितान्त आत्मवाद (Solipsism) में केवल 'स्व' को ही वास्तविक माना गया है। एडिंग्टन की विचारधारा के अनुसार हमारी चेतना के अतिरिक्त भी अन्य चेतना का वास्तविक अस्तित्व हो सकता है; क्योंकि मेरे कान और वाचा की अनुभूति (सुने जाने वाले और पढ़े जाने वाले शब्दों की) का जो मेरे लिए प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह दूसरों के लिए नितान्त भिन्न अनुभूति का परोक्ष ज्ञान हो सकता है। किन्तु नितान्त आत्मवाद यह स्वीकार नहीं करता। अतः भौतिक–विज्ञान नितान्त आत्मवाद का विरोधी हो जाता है।[4] एक स्थान में वास्तविकतावादी विचारधारा को उद्धृत करके, उन्होंने लिखा है कि इस प्रकार की विचारधारा बीसवीं सदी के दर्शन का आधार कैसे बन सकती है, यह मेरी समझ में नही आती।[5]

इस प्रकार एडिंग्टन के ज्ञातासापेक्षवाद का तात्पर्य यही लगता है कि चेतना या मन (Mind) वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, जब कि भौतिक जगत् (Physical world) वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। यद्यपि एडिंग्टन ने अपनी पुस्तकों में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनकी विचारधारा बरकले के ज्ञाता सापेक्षवाद से भिन्न है, नितान्त आत्मवाद से भी भिन्न है और वास्तविकतावाद से तो भिन्न है ही, फिर भी विज्ञान के अनुसार भौतिक पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप किस प्रकार का है और ज्ञाता अथवा चेतना पर उसका अस्तित्व किस प्रकार आधारित है, इसको वे स्पष्ट नहीं कर पाये हैं, एडिंग्टन की विचारधारा में रही हुई अस्पष्टता के अनेक उदाहरण उनकी पुस्तकों में उपलब्ध होते हैं। प्रो० स्टेबिंग ने एडिंग्टन की विचार-धारा की कटु आलोचना की है।[6] प्रो० स्टेबिन्ग ने एडिंग्टन के शब्द-प्रयोगों की अस्पष्टता के के विषय में एक स्थान में लिखा है—''एडिंग्टन के लिए मेरी यही आलोचना है कि उनका चिन्तन ही स्वयं अस्पष्ट है और इस अस्पष्टता के परिणाम स्वरूप ही वे शब्दों का प्रयोग करते हैं, यह जाने बिना ही कि वे कहां तक समानार्थक है।''[7]

---

१. वही, पृ० २८६
२. वही, पृ० २८७
३. देखें, दी फिलोसोफी एण्ड फिजिकल साइन्स, पृ० २७
४. वही. पृ० १९८; १९९
५. वही, पृ० २११, २१२
६. देखें, एल. सुसन स्टेबिंग द्वारा लिखित 'फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स'
७. वही, पृ० १११

यद्यपि एडिंग्टन ने इस आलोचना के बाद में लिखी हुई अपनी पुस्तक में[1] इन शब्दों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है और प्रो० स्टैबिंग की आलोचना का उत्तर देने का प्रयत्न भी किया है, फिर भी उनकी विचारधारा तो अस्पष्ट-सी ही रही है। 'फिलोसोफी आफ फिजिकल साइन्स' में वास्तविकतावाद के विरोध में उन्होंने जो तर्क दिये हैं, वे स्वयं ही अस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ—एक स्थान[2] में वास्तविकतावादियों की विचारधारा के रूप में सी० ई० एम० जोड के कथन[3] को अस्वीकृत करके एडिंग्टन ने उसका खण्डन करने का प्रयत्न किया है। जोड के कथन में बताया गया है कि ज्ञाता द्वारा ज्ञेय का विषय-ग्रहण (Perception) होने पर उस प्रक्रिया के निमित्त से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अब, एडिंग्टन इसके विरुद्ध तर्क करते हुए लिखते है—"मैंने जो उद्धरण दिया, उसमें यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि उस क्रिया के निमित्त से ज्ञाता (मन) में भी कोई परिवर्तन होता है या नहीं। यदि ज्ञाता विषय ग्रहण (Perception) की प्रक्रिया के कारण परिवर्तित होता है, तो विषय-ग्रहण को (ज्ञाता और ज्ञेय के बीच) 'सम्बन्ध' के रूप में बताना गलत होगा; अतः (ज्ञाता और ज्ञेय के बीच) एक से अधिक प्रकार के 'संबंध' वाला तर्क भी व्यर्थ हो जाता है। दूसरी ओर, यदि विषय-ग्रहण की प्रक्रिया से ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है तो विषय-ग्रहण होने के पश्चात् ज्ञाता और ज्ञेय के बीच एक नये प्रकार के सम्बन्ध जैसे 'स्मरण रखना' 'कल्पना करना' आदि का स्थापित होना कैसे सम्भव हो सकता है?........"[4] इस उद्धरण में एडिंग्टन ने जो तर्क दिया है, वह स्वयं ही अस्पष्ट है। इसमें न तो एडिंग्टन ने यह बताया है कि यदि विषय-ग्रहण की क्रिया के पश्चात् ज्ञाता में परिवर्तन होना मान लिया जाये तो भी विषय-ग्रहण को ज्ञाता तथा ज्ञेय के बीच सम्बन्ध रूप मानना गलत क्यों है और न उन्होंने इसका ही स्पष्टीकरण किया है कि यदि ज्ञाता और ज्ञेय विषय-ग्रहण की क्रिया के पश्चात् परिवर्तित न होते हों तो भी स्मृति, कल्पना आदि रूप क्रियाएं होने में क्या आपत्ति है? इस प्रकार के अनेक स्थल उनकी कृतियों में पाये जाते हैं। कुछ भी हो, एडिंग्टन द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचार धारा यद्यपि उनके स्वयं के अभिमतानुसार आधुनिक भौतिक विज्ञान के दर्शन को निरूपित करती है, वस्तुतः तो उनकी व्यक्तिगत रूढ़मान्यताओं से प्रभावित है। इसी तथ्य के आधार पर उनके दर्शन की आलोचनाएं हुई हैं। प्रो० स्टैबिंग ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि सर आर्थर एडिंग्टन के दार्शनिक ग्रन्थों में यह बात पाई जाती है कि उनकी स्वयं की रूढ़ दार्शनिक भावना उन्हें इस बात के लिए चिन्तित करती है कि उनके वैज्ञानिक दर्शन को वे किस प्रकार से उनके जीवन के दर्शन के साथ सम्बन्धित कर सकें। किन्तु ऐसा करने में जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ा है, वह उनकी धारणा से अत्यधिक है।[5] इस प्रकार एडिंग्टन के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा उनका स्वयं का दर्शन है।

---

१. देखें, दी फिलोसोफी एण्ड फिजिकल साइन्स
२. वही, पृ० २११
३. माइंड टू फिलोसोफी पृ० ७४ से उद्धृत
४. दी फिलोसोफी आफ फिजिकल साइन्स, पृ० २१५
५. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, प्रिफेस, पृ० १०

जैन दर्शन

एडिंग्टन के दर्शन की जैन दर्शन के साथ तुलना करते समय हमें जैन दर्शन की ज्ञान मीमांसा (epistemology) और तत्त्व-मीमांसा (metaphysics) को ध्यान में रखना होगा। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्षण 'उपयोग' अर्थात् चैतन्य व्यापार है।[1] चैतन्य की प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा द्रव्यों को जानता है। प्रत्येक द्रव्य में सहज रूप से अनन्त गुण विद्यमान होते हैं, जो मुख्यतया दो प्रकार के हैं: सामान्य और विशेष। यह गुण द्रव्य में वस्तु-निष्ठ होते हैं इनको आत्मा जब जानता है तब वह जानना क्रमशः दर्शन[2] (अनाकार उपयोग) और ज्ञान (साकार उपयोग) कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु (ज्ञेय) के वस्तु निष्ठ गुणों के कारण ही ज्ञाता (आत्मा) का अवबोध दो प्रकारों में विभक्त हो जाता है। दूसरी जो जैन ज्ञान-मीमांसा की अपनी मौलिक और विशिष्ट बात है, वह यह है कि—ऐन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त 'अतीन्द्रिय ज्ञान का होना भी वह स्वीकार करता है। जहां ऐन्द्रिय ज्ञान में आत्मा वस्तुओं को इन्द्रिय और मन की सहायता जानता है वहां अतीन्द्रिय ज्ञान में बिना इनकी सहायता से अपने आप ज्ञेय वस्तु को जान लेता है। जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद बताये गये हैं।[3] उनमें से प्रथम दो—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तो ऐन्द्रिय हैं और शेष तीन—अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान अतीन्द्रिय हैं। प्रथम दो आत्मा के अतिरिक्त बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं (चाहे वे साधन इन्द्रिय अथवा मन के रूप में हों, चाहे भौतिक उपकरणों के रूप में हों) जब कि शेष तीन में बाह्य साधनों की किंचित् भी अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रत्यक्ष माने जाते हैं और मतिश्रुत परोक्ष माने जाते हैं।

दूसरी ओर जैन तत्त्व-मीमांसा का यह स्पष्ट निरूपण है कि जीवास्तिकाय (आत्मा) और पुद्गलास्तिकाय, दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं और वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताएं हैं। चैतन्य

---

१. उपयोग-लक्षणो जीवः।
चेतनाव्यापार उपयोगः। —श्री जैनसिद्धान्तदीपिका, २-१, २

२. 'दर्शन' शब्द जैन ज्ञान-मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है वस्तु (द्रव्य) के सामान्य गुणों का अवबोध। यह सामान्यतया प्रयुक्त दर्शन शब्द से नितान्त भिन्न है।

३. (१) मतिज्ञान—इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सहायता से होने वाला ज्ञान।
(२) श्रुतज्ञान—स्व और पर को अवबोध कराने में समर्थ ज्ञान।
(३) अवधिज्ञान—बाह्य साधनों की अपेक्षा के बिना केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला पौद्गलिक पदार्थों का ज्ञान।
(४) मनः पर्यय ज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला संज्ञी प्राणियों के मनोभावों का ज्ञान।
(५) केवल ज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला समस्त द्रव्यों व पर्यायों का साक्षात्कार।
इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखें, जैन सिद्धांत दीपिका प्रकाश दूसरा तथा भिक्षुन्यायकर्णिका, विभाग, ३)

आत्मा का असाधारण गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण, ये पुद्गल के अनिवार्य गुण हैं और वस्तु-सापेक्ष हैं। पुद्गल तत्त्व की परिभाषा ही इस प्रकार दी गई है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिसमें हों वह पुद्गल है।[२]

तुलनात्मक अध्ययन

एडिंग्टन के दर्शन और जैन दर्शन में कितना साम्य-वैषम्य है, यह अब सरलतया स्पष्ट हो सकता है। एडिंग्टन ने अपने दर्शन का आधार ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषण को बता कर यह प्रतिपादित किया है कि चैतन्य एक वस्तु सापेक्ष वास्तविकता है, जो हमारे सारे ज्ञान, अनुभूति विचार, स्मृति आदि का स्रोत है। जैन दर्शन भी 'आत्मा' का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है और उसको ही सभी चेतनामय प्रवृत्तियों का स्रोत मानता है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व तथा उसके चैतन्य-गुण के विषय में दोनों दर्शनों का सदृश प्रतिपादन रहा है।

बाह्य विश्व अथवा भौतिक जगत् के 'अस्तित्व' का जहां तक प्रश्न है—दोनों ही दर्शन इसको स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के विषय में दोनों में मौलिक मतभेद प्रतीत होता है। एडिंग्टन मानते हैं कि भौतिक पदार्थ के वर्ण, रस आदि सभी गुण वस्तु-निष्ठ न होकर केवल चैतन्य की प्रवृत्ति के निमित्त ही उसमें आरोपित होते है, जब कि जैन दर्शन के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व चैतन्यजन्य नहीं, अपितु पुद्गल में स्वाभाविक रूप मे ही होता है। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण, एवं गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते है।[१] परमाणु का अस्तित्व जिस प्रकार वस्तु सापेक्ष है—ज्ञाता-सापेक्ष नहीं, इस प्रकार स्पर्शादि गुण-चतुष्टय भी परमाणु के वस्तु-सापेक्ष गुण हैं और ज्ञाता की अपेक्षा बिना ये सदा परमाणु में रहते हैं। इतना ही नही स्पर्शादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व भी ज्ञाता-सापेक्ष नहीं है। विश्व में अस्तित्ववान अनन्त परमाणुओं में अनन्त प्रकार मे वैविध्य और तारतम्य होता है। उदाहरणार्थ हम वर्ण को लें—काला, नीला, रक्त, पीत और श्वेत—पांच प्रकार के वर्ण मौलिक माने जाते हैं। प्रत्येक परमाणु में इन पांच वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अवश्य होता है। इसमें भी फिर समान वर्ण वाले परमाणुओं में उस वर्ण की मात्रा का तारतम्य होता है। कुछ एक परमाणु केवल एक गुण (Unit) वाले होते हैं, कुछ एक परमाणु दो गुण वाले, कुछ अनन्त गुण वाले भी होते हैं। इस प्रकार से अन्य वर्णों की तथा रस आदि गुणों की भी विविधता और तारतम्य वस्तु-सापेक्ष रूप में परमाणुओं में होती है। इस प्रकार वर्णादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व न तो चेतना द्वारा आरोपित है और न चेतना पर आधारित ही है। यह जैन परमाणुवाद की तात्त्विक रूप रेखा है। इसके अनुसार 'सेव', जिन परमाणुओं का बना हुआ है, उनमें प्रत्येक परमाणु में कोई न कोई रस तो होता ही है और इन सब परमाणुओं के समूह रूप सेव का रस भी वास्तविक अस्तित्व रखता है।

---

२. स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः। —श्री जैन सिद्धांतदीपिका, १-११

१. एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च। —पञ्चास्तिकायसार

आधुनिक विज्ञान भौतिक पदार्थ की अन्तिम ईकाई तक पहुंच नहीं पाया है, फिर भी अणुस्थित करण—ऋणाणु, धनाणु, आदि व्यावहारिक रूप में भौतिक पदार्थों की इकाईयों के रूप में माने जाते है। एडिंग्टन इन कणों के वास्तविक अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं, पर इनमें वर्णादि वास्तविक गुणों का अस्तित्व है, ऐसा वे नहीं मानते। उनको यह बात समझ में नहीं आती कि ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी स्वयं परमाणु और पदार्थ वर्णादि को किस प्रकार धारण कर सकते हैं। किन्तु यह केवल उनकी रूढ़ आदर्शवादी विचारधारा के कारण से है, ऐसा लगता है। वर्णादि की विविधता प्रत्यक्षतया हमारी अनुभूति में आती है और एडिंग्टन भी इसका निषेध नहीं कर सकते। अब, यदि यह विविधता वस्तु-निष्ठ न होती, तो एक ही चैतन्य को विभिन्न पदार्थ विविध वर्णादि वाले किस प्रकार अनुभव होते? साथ ही यदि वर्णादि को बुनने वाला चैतन्य ही होता और पदार्थ अपने आप में निर्गुण ही होता[1] तो फिर एक ही पदार्थ नाना ज्ञाताओं के द्वारा समान ही वर्णादि वाला क्यों अनुभूत होता?[2] अर्थात् यदि

१. देखें, दी न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० ८८

२. यह सही है कि कभी कभी एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं को भिन्न-भिन्न वर्णादि वाला अनुभूत होता है, किन्तु इसका कारण व्यक्तिगत क्षमता और साधनों की भिन्नता है। जैसे—वर्ण अन्ध (Colour blind) व्यक्तियों को वर्णों में विविधता का कोई पता नहीं चलता इस प्रकार मुझे जो वस्तु स्वाद में मीठी लगती है, वह दूसरे व्यक्ति को खारी भी लग सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तु-निष्ठ कोई रस उस वस्तु में है ही नहीं। अनुभूति में रसों की भिन्नता का होना इन दोनों की रसनेद्रिय की क्षमता और रचना-भिन्नता का द्योतक है। जो 'रस' हमें अनुभूति में ज्ञात होता है, वह वस्तु-निष्ठ उसके साथ रसनेन्द्रिय के रासायनिक और भौतिक प्रक्रिया के फलस्वरूप निष्पक्ष 'रस' है। अतः यदि मेरी और दूसरे व्यक्ति की रस-नेन्द्रियों में थोड़ा-सा भी अन्तर होता हो तो अनुभूत 'रस' दोनों के लिए भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसको हम गाणितिक समीकरण के द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं यदि अ वस्तु-निष्ठ गुण हो $ब_1$ और $ब_2$ दो ज्ञाताओं की इन्द्रियों की रचना के द्योतक अचल हो और $क_1$ और $क_2$ क्रमशः दोनों ज्ञाताओं द्वारा अनुभूत गुण हों, तो

$$अ + ब१ = क१$$

होगा, और

$$अ + ब२ = क२$$

होगा। इस समीकरणों से स्पष्ट हो जाता है कि यदि

$$ब१ = क२$$

हो, तो

$$क१ = क२$$

होगा। अर्थात् दोनों ज्ञाताओं को समान अनुभूति होगी। सामान्यतया यही

पदार्थ में स्वयं किसी भी प्रकार का भी वैशिष्ट्य न हो तो सभी ज्ञाता उसे समान रूप से अनुभव करें, यह सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—दूब का रंग सभी मनुष्यों को हरा दीखता है। अब, एडिंग्टन का मत है कि इसमें दूब की स्वयं की कोई विशिष्ठता नहीं है। ज्ञाता अपनी विशिष्ट चैतन्य शक्ति के कारण ही दूब को हरी देखता है। किन्तु यह न तो सामान्य तर्क के आधार पर सही लगता है, न वर्तमान में उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर और न जैन दर्शन की तत्त्व–मीमांसा के आधार पर भी। सामान्य बुद्धि हमें यही बताती है कि दूब का चैतन्य से सम्बन्ध न हो तो भी वह हरी ही रहती है।

दूसरी ओर विज्ञान 'रंग' की प्रक्रिया को तरंग सिद्धांत के आधार पर समझाता है। विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि सूर्य के सफेद प्रकाश में समग्र चाक्षुष वर्णपट का समावेश हो जाता है। अब, सूर्य से प्रसारित होने वाले प्रकाश तरंग जब पदार्थ में हो कर गुजरते हैं, तब उस पदार्थ की स्वयं की विशिष्टता के कारण एक विशेष तरंग–दैर्घ्य को छोड़कर शेष सभी उस पदार्थ के द्वारा शोषित हो जाते हैं। इस प्रकार जब दूब में से प्रकाश की तरगें गुजरती है, तब दूब की विशिष्टता के कारण ही हरे रंग को सूचित करने वाली शोषित (absorved) हो जाती हैं; हमारी आंख तक केवल वहीं तरंगें पहुंचती हैं, जिनका तरंग–दैर्घ्य हरे रंग को सूचित करता है और इसीलिए हमें दूब हरी दिखाई देती है। इस तरह वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार भी हमारा—चैतन्य का—ज्ञाता का—दूब को हरा, गुलाब को लाल और संतरे को नारंगी देखना, हमारे चैतन्य पर आधारित नहीं है, किन्तु इस बात पर आधारित है कि कौन सा तरंग–दैर्ध्यों का शोषण पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर हैं अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाये तो पदार्थ के स्वरूप में ही पदार्थ का वर्ण निहित है। इसलिए एडिंग्टन का यह मन्तव्य कि वर्ण को बुनने वाला चैतन्य है, वैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर भी गलत ही सिद्ध हो जाता है।

होता है, क्योंकि अधिकांश रूप में मनुष्यों के लिए ब१,ब२ आदि भिन्न-भिन्न नहीं होते। इन समीकरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अ और क समान तभी हो सकते हैं जब कि ब का मूल्य शून्य हो अर्थात् इन्द्रिय रूप धारण की रचना और क्षमता का बिल्कुल ही प्रभाव हमारे ज्ञान पर न पड़े तभी हमारी अनुभूति में आने वाले गुण पदार्थ के वस्तु निष्ठ गुण हो सकते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान से यह सम्भव हो जाता है। साथ ही यह भी सम्भव है कि एक ही ज्ञाता के लिए एन्द्रिय रचना और क्षमता परिवर्तित हो जाये, अर्थात् ब का मूल्य अचल न र। तब एक ही ज्ञाता को एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न रूप से अनुभूत होगा। जैसे—एक मनुष्य यदि चीनी मिलाया हुआ दूध पीता है तो उसे वह मीठा लगता है। वही मनुष्य यदि मिष्ठान्न खाने के बाद उसी दूध को पीता है, तो वह फीका लगता है। इसका अर्थ यही होता है कि ब का मूल्य दोनों परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न हो गया। किन्तु सामान्य परिस्थिति में ब के मूल्य को सभी ज्ञाताओं के लिए सम माना जा सकता है।

जैन दर्शन तो यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पुद्गल स्वयं ही स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त होता है। दूब के परमाणुओं में सभी वर्ण वाले परमाणु मौजूद हैं; इस लिए वस्तुतः तो दूब का रंग हरा ही नहीं है, किन्तु हरे रंग वाले परमाणुओं की संख्या अधिक होने के कारण दूब हमें हरी दिखाई देती है। वस्तुतः तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जैन दर्शन के दृष्टिकोण में अधिक अन्तर ही नहीं रह जाता; क्योंकि पदार्थ का वर्ण दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार पदार्थ की रचना में ही निहित होता है। पदार्थ के द्वारा कौन कौन से तरंग-दैर्घ्य का शोषण होता है, इसका आधार पदार्थ की रचना ही है—पदार्थ स्थित परमाणुओं का मूल वर्ण ही है। वर्णादि गुणों से रहित ऋणाणु किस प्रकार का अस्तित्व रखता है, इस विषय में एडिंग्टन ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। सम्भवतः उनके अभिमतानुसार संहति (mass) या विद्युत आवेश (electric Charge) ही केवल भौतिक पदार्थ (ऋणाणु आदि) का वास्तविक गुण है। वर्णादि गुण केवल चैतन्य द्वारा आरोपित होते हैं। जैन दर्शन 'संहति' को 'स्पर्श'[1] गुण मानता है। अकेले परमाणु में संहति होती ही नही है। अकेले परमाणु में दो स्पर्श होते हैं। स्निग्ध रूक्ष के युग्म में से एक और शीत-उष्ण के युग्म में से एक। इस प्रकार 'संहति' तो लघु-गुरु स्पर्श गुणों से उद्भव होती है, परमाणु पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है।

अब तक हमने केवल इन्द्रिय ज्ञान की चर्चा की। जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान का विस्तृत रूप से विवेचन उपलब्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में पदार्थ के वस्तु-निष्ठ गुण उसी रूप में जाने जाते हैं, जिस रूप में वे वस्तुतः ही हैं, क्योंकि यहां आत्मा का ज्ञेय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में आत्मा किसी भौतिक साधन की सहायता बिना पदार्थ के गुणों का ज्ञान करता है। अतः इन्द्रिय आदि साधनों के हस्तक्षेप के कारण जो भिन्नता अनुभूत गुण और वस्तु-निष्ठ गुण में उत्पन्न हो जाती है, वह यहां नहीं होती, इन प्रकार की सहायता से परमाणु और स्कन्ध में रहे हुए वस्तु सापेक्ष वर्णादि गुण का ज्ञान मनुष्य कर सकता है।

'भौतिक विश्व' पौद्गलिक जगत् है, जिसमें परमाणु और स्कन्ध अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, एक दूसरे के साथ जुड़ते हैं और एक दूसरे से पृथक् होते हैं—यह भेद और सन्धान की क्रिया वस्तु-सापेक्ष रूप से चलती रहती है। जब इस विश्व को हम अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते हैं, तब हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व भी 'भौतिक विश्व' के सदृश ही होता है। किन्तु जब इन्द्रिय, मन और बाह्य उपकरणों की सहायता से हम 'भौतिक विश्व' को

१. स्पर्श पुद्गल का मूल गुण है। उसके आठ भेद हैं—स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण, लघु, गुरु, मृदु, कठोर। इनमें से स्निग्ध-रुक्ष व शीत-उष्ण ये चार स्पर्श मौलिक है और शेष चार परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं। रुक्ष, स्निग्ध आदि केवल स्पर्श की अभिव्यक्ति के प्रकार नहीं है, किन्तु परमाणु में वस्तु सापेक्ष (Objective) रूप से रहने वाले गुण हैं। चैतन्य की अनुभूति के साथ इनकी स्थाई सत्ता नहीं बदलती।

जानते हैं, तब हमारे ज्ञान में आने वाले विश्व और 'भौतिक विश्व' में कुछ अन्तर रह जाता है। यह अन्तर हमारे अथवा ज्ञाता के इन्द्रिय, मन और अन्यान्य साधनों तथा सीमितता के कारण उत्पन्न होता है। 'भौतिक विज्ञान' भी इस प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान का ही विशिष्ट प्रकार है। अतः इसके द्वारा जाने वाले विश्व को हम 'भौतिक विज्ञान का विश्व' कह सकते हैं। इस दृष्टि से उसके नियमों को 'ज्ञाता-सापेक्ष' मानना भी अनुचित नहीं है। इस प्रकार 'भौतिक विज्ञान के विश्व' को यदि एडिंग्टन ज्ञाता-सापेक्ष कहते हैं, तो वह जैन दर्शन की दृष्टि से भी सही है।

एडिंग्टन के दर्शन में 'भौतिक विश्व' और 'भौतिक विज्ञान के विश्व' के बीच के अन्तर के विषय में जो अस्पष्टता रही है, उसका एक कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है—पदार्थ में रहे हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुणों का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ही मनुष्य करता है। प्रत्येक इन्द्रियों में अपने अपने विषय को ग्रहण करने वाले संवेदनशील ज्ञान-वस्तुओं की विशिष्ट प्रकार की रचना होती है। इस प्रकार ऐन्द्रिय रचना और पदार्थ के गुणों में जो प्राकृतिक सादृश्य है, वह यह प्रश्न उत्पन्न कर देता है कि क्या स्पर्शनेन्द्रिय आदि ऐन्द्रिय विशिष्टता मौलिक है और इनके निमित्त से ही पदार्थ स्पर्शादि गुण वाले बन जाते हैं अथवा पदार्थ स्वभावतया स्पर्शादि गुणों को धारण करने वाले हैं और स्पर्शनेन्द्रिय आदि की रचना स्वतन्त्र तथ्य है? एडिंग्टन ज्ञाता की ऐन्द्रिय विशिष्टता को मौलिक मानकर ज्ञाता-सापेक्षवाद को स्थापित करते हैं, किन्तु वस्तुतः तो 'भौतिक विश्व' में स्पर्शादि गुण ही मौलिक और प्रधान हैं। 'भौतिक विज्ञान के विश्व' में ऐन्द्रिय रचना के वैशिष्ट्य को प्रधान माना जा सकता है; फिर भी यह केवल ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र से सम्बन्धित तथ्य है। जहां तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न है, वहां तो ऐन्द्रिय रचना को एक स्वतन्त्र तथ्य के रूप में ही मानना उपयुक्त होगा।

एडिंग्टन के दर्शन का सबसे अधिक निर्बल पक्ष यह है कि जिस भौतिक विज्ञान पर वह आधारित है, वह भौतिक विज्ञान अब तक, 'भौतिक पदार्थ की चरम इकाई क्या है ?, 'उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ?' आदि प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहा है। जिन संज्ञाओं का प्रयोग भौतिक विज्ञान में किया जाता है, उन संज्ञाओं के तात्त्विक स्वरूप के विषय में वह कुछ भी नहीं बताता। उदाहरणार्थ—वर्ण को समझाने के लिए भौतिक विज्ञान में प्रकाश के तरंगों के दैर्ध्य का विवेचन किया गया है, किन्तु प्रकाश स्वयं क्या हैं—तरंग-रूप है या कण रूप ? पदार्थ प्रकाश-तरगों को किस कारण से शोषित करता है ? आदि प्रश्नों का समाधान भौतिक विज्ञान अब तक नहीं दे पाया है और तब तक नहीं दे पायेगा जब तक कि भौतिक पदार्थ का चरम रूप स्पष्ट नहीं हो जाता। वर्तमान में इस विषय में अनेक प्रकार की उपधारणायें और परिकल्पनाएं विज्ञान-जगत् मे प्रचलित हैं। भौतिकवादी वैज्ञानिक जहां ऐसी परिकल्पनाओं के आधार पर वर्ण को ज्ञाता-सापेक्ष गुण के रूप में प्रतिपादित करते हैं, वहां एडिंग्टन का दर्शन ऐसी ही कोई परिकल्पना का आधार लेकर वर्ण को ज्ञाता-सापेक्ष गुण के रूप में निरूपित करता है इस प्रकार का प्रतिपादन केवल आनुमानिक है, अनाधारित है और प्रत्यक्ष अनुभव का प्रतिरोधी है।

जैन दर्शनकारों ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अपने अतीन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जाना है और इसके आधार पर ही परमाणुवाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वर्ण आदि गुण वस्तुतः ही वस्तु–निष्ठ होते हैं, इत्यादि प्रतिपादनों का आधार उनका वस्तु–स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। जैन दर्शन के अनुसार तो इस स्वरूप को ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाना ही नहीं जा सकता है। अतः भौतिक विज्ञान केवल ऐन्द्रिय ज्ञान के आधार पर कभी भी इसको जानने में समर्थ नहीं बनेगा, ऐसा जैन दर्शन के आधार पर कहा जा सकता है।

एडिंग्टन के दर्शन की विविध दृष्टिकोणों के आलोक में समीक्षा करने का प्रयत्न हमने किया। विश्व के तत्त्व–मैमांसिक पहलू की चर्चा एक स्वतन्त्र और अति विस्तृत विषय है। यहां पर तो इसकी चर्चा गौण रूप में ही की गई है। इस चर्चा का उपसंहार इन छः तथ्यों में किया जा सकता है।

१. ज्ञान–मैमांसिक विश्लेषण के आधार पर एडिंग्टन ने चेतन तत्त्व का वस्तु–सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन दर्शन भी जीवास्तिकाय को स्वतन्त्र वास्तविक तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है।

२. भौतिक विज्ञान के द्वारा इस वस्तु–सापेक्ष वास्तविकता को जानना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है—यह एडिंग्टन का स्पष्ट अभिप्राय है। जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि आत्मा आदि अरूपी द्रव्य सकल ज्ञान (केवल ज्ञान) का विषय है; विकल ज्ञान (मति आदि चार) के द्वारा ये नहीं जाने जा सकते।

३. अनुभूति, स्मृति, कल्पना, संवेदना आदि चेतन तत्त्व के ही लक्षण हैं। एडिंग्टन के दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन को भी मान्य है।

४. एडिंग्टन अपने दर्शन को वर्तमान भौतिक विज्ञान द्वारा आधारित मानते हैं; अतः वे उसको 'वैज्ञानिक दर्शन' की संज्ञा देते हैं। किन्तु यह उपयुक्त नहीं लगता। वस्तुतः यह विचारधारा उनकी व्यक्तिगत रूढ़ मान्यताओं पर आधारित है, अतः इसको वैज्ञानिक दर्शन न मानकर 'एडिंग्टन का दर्शन' मानना ही अधिक उपयुक्त लगता है।

५. यद्यपि एडिंग्टन का दर्शन भौतिक जगत् का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है, फिर भी उसके स्वरूप के विषय में अस्पष्ट रहा है। अपने दर्शन को वे 'सीमित ज्ञाता–सापेक्षवाद (Selective Subjectikism) के रूप में प्रतिपादित करते है; इसका तात्पर्य यही लगता है कि भौतिक पदार्थ के अस्तित्व को तो वे वस्तु–सापेक्ष मानते हैं, किन्तु वर्ण, गन्ध आदि गुणों को ज्ञाता–सापेक्ष मानते है। इस विषय में जैन दर्शन भिन्न अभिमत रखता है। जैन दर्शन पुद्गलास्तिकाय को स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त वस्तु–सापेक्ष वास्तविकता के रूप में मानता है।

६. भौतिक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को अब तक भौतिक विज्ञान नहीं जान सका है। इस प्रकार एडिंग्टन का दर्शन वर्तमान भौतिक विज्ञान के अपूर्ण और सम्भवतः गलत ज्ञान पर आधारित है। जैन दार्शनिकों ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जानकर अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन के अनुसार तो पुद्गल (भौतिक तत्त्व)

का चरम स्वरूप ऐन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं बन सकता[1] और इसलिए भौतिक विज्ञान के आधार पर इसका वास्तविक ज्ञान होना सम्भव नहीं है।[2] इस दृष्टि से एडिंग्टन का यह अभिमत कि भौतिक विज्ञान के द्वारा वस्तु–सापेक्ष वास्तविकता को जानना अशक्य है, भी सही तथ्य का ही उच्चारण है, ऐसा कहा जा सकता है।

---

१. 'छउमत्थे णं भन्ते। मणुसे परमाणु पोग्गलं किं जाणति
पासति उदाहु न जाणति न पासति?'
'गोयमा? अत्थेगतिए जाणति न पासति, अत्थोगतिए न जाणति न पासति।'
—भगवति सूत्र, १८-८-६४१

२. सुविख्यात विज्ञानविद् सर डब्ल्यू० सी० डैम्पियर ने विज्ञान के इतिहास पर लिखी अपनी पुस्तक में भी वैज्ञानिक पद्धति की इस सीमितता का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है—"जब हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते हैं तो हर हालत में हम कोई न कोई बाहरी उपकरण उपयुक्त करते हैं। यह उपकरण किसी न किसी रूप में परमाणु को प्रभावित करता है और उसमें परिवर्तन ला देता है और हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते है, वास्तविक परमाणु नहीं
—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी अनुवाद) पृ० २९९

अजेय महावीर

(मेघराज मुकुल)

हे मानव-महत्त्व के सृष्टा, जन-जन की समता के ध्येय।
तुम जीवन के सतत युद्ध में, महावीर बन रहे अजेय॥
तुम आध्यात्म साधना के स्वर, सत्य अहिंसा के शुभ गीत।
दानवता की हिंस्र-शक्ति से, लड़कर तुमने पाई जीत॥

तत्वचिन्तना और तपश्चर्या की संस्कृति के तुम वीर।
वीतराग, संयम के पालक, केवल ज्ञान-प्रकाश, सुधीर॥
तपोभूमि भारत की गोदी, धन्य हुई पा तुमसा लाल।
संस्कृति-गौरव के शिविरों का, किया तुम्हीं ने उन्नत भाल॥

क्षमा तुम्हारा सहज धर्म था, करुणा के तुम थे अवतार।
दिव्य तुम्हारी वाणी सुनकर, विश्व मानता है आभार॥
यद्यपि अब विज्ञान अंध बन, सर्वनाश पथ पर आरूढ़।
किन्तु मनुज की मृत्यु न होगी, हारेगा हिंसक-युग मूढ़॥

तेरे ही प्रकाशमें पनपी, जीवन दर्शन की अनुभूति।
सृजन विश्व का हुआ सुवासित, ऊंची उठी आचरण-नीति॥
श्रमण-संस्कृति के वैभव का, निशिदिन अविरल बहा प्रवाह।
व्यक्ति कर्म की ऊंच-नीच से, लेने लगा सजग हो थाह॥

जन्म-जातिगत परम्पराएं टूटीं, मानव हुआ प्रणम्य।
पूज्य हुआ वह, जो कि कर्म से छू लेता आध्यात्म अगम्य॥
प्राणीमात्र सदा रक्षित हो, मंगलमय हों सबके प्राण।
महावीर! तुमने समाज का, किया नृशंस पाप से त्राण॥

आज राष्ट्र को पुनः चाहिये, तुम जैसा ही मनुज महान।
जो कि ध्वंस की अंध-शक्ति को, करे अहिंसा से ही म्लान॥
शत सहस्र शस्त्रों की ज्वाला, तेरे स्मरण मात्र से शांत।
सहज सुपथ पर हुआ अग्रसर, सदियों से जो मानव भ्रान्त॥

महावीर सा वीर देश यह, संयत बल का पुण्य प्रतीक।
हिंसा पर अब विजयी होगा, क्योंकि सदा से वह निर्भीक॥
युद्ध जनित भय आशंकाएं, सर्वनाश के कुटील प्रहार।
आज अहिंसा के बल से ही, होगी उनकी निश्चित हार॥

जैन कोष साहित्य की उपलब्धियां

डा० नेमीचन्द्र शास्त्री आरा

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोश के अभाव में शासन सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्दकोश के बिना अर्थ ग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों में संकेत ग्रहण की क्षमता कोश द्वारा जितनी सुलभ और स्पष्ट है, अन्य साधनों के द्वारा उतनी नहीं। अतः कोश का महत्त्व व्याकरण की अपेक्षा भी किसी दृष्टि से अधिक है।

जिन शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं, उनके ज्ञान के लिए कोषों की आवश्यकता होती है। कोष ग्रन्थों में शब्दों के जो अर्थ दिये जाते हैं, उन अर्थों को उन शब्दों का अर्थ समझा जाता है। कोष ग्रन्थ शब्दों के पर्यायवाची शब्द देकर उनके अर्थ स्पष्ट करते हैं। पांतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में बतलाया है कि—"अथगत्यर्थः शब्दप्रयोगः अर्थं संप्रत्यमिष्यमीति शब्द प्रयुज्यते" (महा० १,१,४३) अर्थात् अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। किस अर्थ के लिए कौनसा शब्द और किस शब्द के लिए कौनसा अर्थ है, इस बात की जानकारी को वृत्तिज्ञान या शक्तिज्ञान कहते हैं। शक्ति ग्रहण के लिए आठ साधन माने गए हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः ॥

(१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोष, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार, (६) वाक्यशेष (प्रकरण), (७) विवरण एवं (८) ज्ञातपद का साहचर्य इन आठ साधनों से शक्ति का ज्ञान होता है।

समाज और संस्कृति से विकास से साथ भाषा के अंग और उपांगों में भी विकास होता है और भावाभिव्यञ्जना के लिए नये-नये शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। हम देखते हैं कि अशोक और गुप्तकालीन शिलालेखों में अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग हुआ है, भुक्ति (प्रान्त), विषय (जिला), युक्त (जिले का सर्वोच्च अधिकारी), विषयपति (जिलाधीश), शौल्किक (चुंगी विभाग का अध्यक्ष), गौल्मिक (जंगल विभाग का अध्यक्ष), बलाधिकृत (सेनाध्यक्ष), महाबलाधिकृत (फील्ड मार्शल), अक्षपटलाधिकृत (रेकार्ड कीपर), भोगिक (अश्वशालाध्यक्ष), उपरिक (गवर्नर) आदि ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग गुप्तकाल के पहले नहीं मिलता है।

कोष साहित्य का सबसे बड़ा कार्य यही है कि वह नवीन और प्राचीन सभी प्रकार के शब्द समूह का रक्षण और पोषण प्रस्तुत करता है। कोष की महत्ता के सम्बन्ध में बतलाया गया है—

कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि ।
उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन बिना भवेत् ।।

जिस प्रकार राजाओं व राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोश के अभाव में शासन सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्द कोश के बिना अर्थ ग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों में संकेत ग्रहण की क्षमता कोश द्वारा जितनी सुलभ और स्पष्ट है, अन्य साधनों के द्वारा उतनी नहीं। अतः कोश का महत्त्व व्याकरण की अपेक्षा भी किसी दृष्टि से अधिक है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार के उपयोगी और सार्वजनीन साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किन कारणों से उत्पन्न होता है? कोशगत शब्द-सम्पत्ति पर जैन, बौद्ध और वैदिक विचारधाराओं की साम्प्रदायिक छाप किस प्रकार संभव है? ऐसा तो कभी संभव नहीं होता कि जैन आम्नाय में शब्दों का प्रयोग किसी अर्थ में होता हो और इतर आम्नाय में अन्य किसी अर्थ में। जल शब्द का अर्थ मानव मात्र के लिए पिपासा शान्त करने वाला शीतल पदार्थ है, न कि किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए किसी भिन्नार्थ का द्योतक है। अतः कोश साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किस प्रकार संभव है? इस प्रश्न का समाधान निम्न निष्पत्तियों के आधार पर सहज में ही किया जा सकता है।

१. प्रत्येक दर्शन की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओं के अनुसार शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरण से प्रभावित रहती है, अतः उन शब्दावलियों का तात्त्विक अर्थ उस सम्प्रदाय के आचार्य ही अवगत कर पाते हैं। फलतः जैन दर्शन के प्रकाश में शब्दों के अर्थों का विवेचन जैन कोशों में ही सम्भव है। शब्दों के वास्तविक अर्थ बोध के लिए जैन दर्शन, जैनाचार एवं जैन तत्त्वज्ञान का अवलम्बन आवश्यक है।

२. प्रत्येक दर्शन या आम्नाय में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दों का गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावों की अभिव्यञ्जना में सफल नही हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उस प्रकार की शब्दावलियों का चयन करते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि अर्हत्, जिन, नामिज, वर्गणा, द्रव्य, नारायण प्रभृति सहस्रों ऐसे शब्द हैं, जिसके पर्यायवाची शब्द अमरकोश, वैजयन्ती, मेदिनी, विश्व प्रकाश कोश आदि में नहीं है। यद्यपि जैन कोशकारों ने उक्त प्रकार के नये और अजनबी शब्दों को स्थान दिया है। यद्यपि जैन कोशकारों ने साधारणीकरण के धरातल पर उतर कर ऐसे सार्वजनीन कोशो का निर्माण किया है, जो समान रूप से सभी के लिए उपादेय है, तो भी कुछ मौलिक और नवीन शब्द आ गये हैं।

३. अपने सम्प्रदाय में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, संकलन और प्रतिपादन करना भी साम्प्रदायिक कोशकारों का एक लक्ष्य होता है।

४. साम्प्रदायिक क्षितिज में आविष्ट व्यक्तियों के नाम, वस्तुओं के नाम भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियों के अर्थों का निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशों में ही संभव है।

५. प्रत्येक धर्म का किसी एक भाषा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। वह भाषा उस सम्प्रदाय के धर्म ग्रन्थों की अपनी भाषा मान ली जाती है, यथा वैदिक धर्म के लिए संस्कृत, बौद्ध धर्म के लिए पाली एवं जैन धर्म के लिए प्राकृत। जैन और बौद्ध आम्नाय के जो ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं, उनकी भाषा पर भी कम या अधिक रूप में पाली अथवा प्राकृत की छाया है। कई ऐसे शब्द हैं, जो मूलतः प्राकृत के हैं. पर संस्कृत के प्रत्यय जोड़कर उनका व्यवहार किया गया है। बौद्ध ग्रन्थों की संस्कृत को मिश्र भाषा कहा गया है और उसका व्याकरण भी पृथक् है। हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में अनेक प्राकृत शब्दों की संस्कृत के नियमों द्वारा व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने धर्म ग्रन्थों में व्यवहृत भाषा की शब्दावलियों को भी स्थान देते हैं। यही कारण है कि जैन कोशकारों ने संस्कृत कोश ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत और देशी भाषा में भी कोश ग्रन्थों की रचना की है।

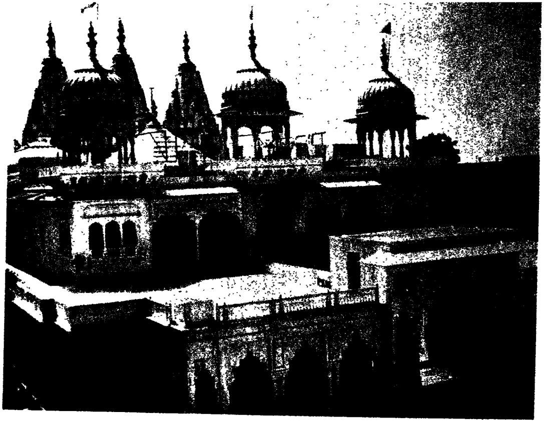
इतना होने पर भी इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि जैन कोष ग्रंथों में सार्वजनीन उपयोगिता की रंचमात्र भी कमी नहीं है। साहित्य के अर्थ बोध के लिए जैन कोषों में प्रचुर सामग्री वर्तमान है।

जैन कोष साहित्य की उत्पत्ति और विकास

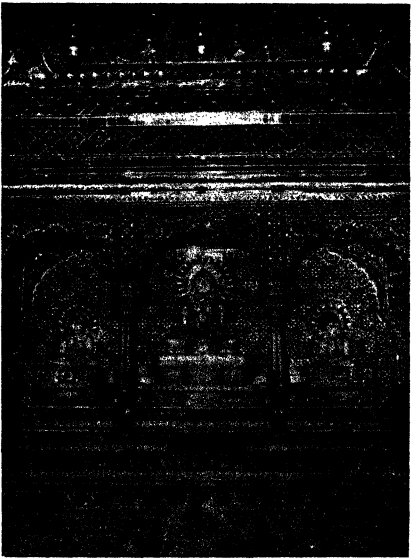
द्वादशाङ्ग वाणी के अन्तर्गत सभी प्रकार का साहित्य समाविष्ट हो जाता है, अतः कोश साहित्य की रचनाएं भी सत्यप्रवाद पूर्व और विद्यानुवाद की पांच सौ महाविद्याओं में से अक्षर विद्या में सम्मिलित हैं। आरम्भ में एकादश अंगों और चतुर्दश पूर्वों के भाष्य, वृत्तियां, चूर्णियां एवं विभिन्न प्रकार की टीकाएं ही कोश-साहित्य का काम करती रही हैं। कालान्तर में जब चूर्णियों और भाष्यों के शब्दार्थों की पूर्णतः जानकारी न रही, तो शब्दकोषों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सबसे पहले कौन सा जैन कोश लिखा गया, यह कहना कठिन है। उपलब्ध जैनकोश साहित्य में धनञ्जय कवि का नाम-माला कोश ही सबसे प्राचीन है। संघदास गणिकी वसुदेव हिण्डी के "चत्तारि अट्ठ" गाथा के १४ अर्थ किये गये हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थ कोष की बुनियाद हैं। जैनों मे प्रचलित द्विसन्धान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, एवं चतुर्विंशति-सन्धान जैसे अनेकार्थक काव्यों की परम्परा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जैनों में कोष-साहित्य का सृजन भाष्य और वृत्तियों के पश्चात् तत्काल ही हुआ होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है, जब कोशों में शब्दों के विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिए जाते हैं। एक-एक श्लोक के कई-कई अर्थों की अभिव्यञ्जना करना असाधारण बुद्धि का चमत्कार है। अतः जैनकोश साहित्य का प्रारम्भकाल चौथी, पांचवीं शताब्दी अवश्य है।

महाकवि धनञ्जय के कोषविषयक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नाम माला, अनेकार्थ नाम माला और अनेकार्थ निघंटु। इन कोश ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित द्विसन्धान काव्य और विषापहार स्तोत्र भी हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम श्लोक से अवगत होता है कि इनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ था। ये गृहस्थ थे। कुछ प्रमाणों के आधार पर इन्हें अमरकोशकार अमर कवि का साला बताया जाता है और



श्री दिगम्बर जैन मन्दिरजी श्री महावीरजी



श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ मंदिर जयपुर (स्थापित वि. सं. १७८४) में
मूलनायक श्री सुमतिनाथजी की कलापूर्ण वेदी

अमरकोश के रचयिता को जैन कहा गया है। इनका समय ई० सन् ८१३ से पूर्व ही माना जाता है।

समयसरणि के अनुसार द्वितीय कोशकार धनपाल कवि हैं। धनपाल ने "पाइअलच्छी-नाममाला" नामक प्राकृत भाषा का एक अच्छा कोश लिखा है। ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से अवगत होता है कि विक्रम संवत् १०२६ में जब कि मालव नरेन्द्र को निर्वासित कर दिया गया था, धारानगरी के अन्तर्गत मानखेड गांव में कवि धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के अध्ययन के हेतु इस निर्दोष ग्रन्थ की रचना की। जो काव्यों का रसास्वादन करने वाले हैं, वे कवियों के द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकार की शब्दावली को इस कृति के द्वारा अवगत कर सकेंगे।

धनपाल के पिता का नाम सर्वदेव था। ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका मूल निवास स्थान शंकास्य नामक ग्राम था। ये आजीविका के निमित्त धारा नगरी में आये थे। इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे। आधी आयु बीत जाने पर ये महेन्द्र सूरि के निकट जैन धर्म में दीक्षित हुए थे। प्राकृत भाषा में कोष की रचना करने वालों में अभिमान चिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम गौरव के साथ लिए जाते हैं।

पाइअलच्छी नाम माला पद्यबद्ध कोश है, इसमें २७५ गाथाएँ और ६६८ शब्दों के पर्याय संग्रहीत हैं।

धनपाल के उपरान्त कोशकारों में काल क्रमानुसार हेमचन्द्र का नाम आता है। इनका जन्म अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण–पश्चिम कोण में स्थित धुंधका नगर में विक्रम संवत् ११४५ में कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात्रि को हुआ था। इनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था। इनका जन्म नाम चांगदेव और दीक्षा नाम सोमचन्द्र था। इन्होंने आचार्य देवचन्द्र से बचपन में दीक्षा धारण की थी। सूरिपद प्राप्त होने के पश्चात् ये हेमचन्द्र कहलाये। इनकी विद्वत्ता से सिद्ध राज जयसिंह और कुमारपाल दोनों ही प्रभावित थे। अगाध पाण्डित्य के कारण ही ये कविकाल सर्वज्ञ कहलाते थे। इन्होंने चार कोष ग्रन्थों की रचना की है—अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टु और देशी नाममाला। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत भाषा के कोष हैं और चौथा देशी शब्दों का संग्रह है। निघण्टु तो वनस्पति भाषा का कोश है। अभिधान चिन्तामणि में एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है तो अनेकार्थसंग्रह में एक शब्द के अनेक अर्थों का संकलन किया गया है। ये दोनों ही कोष गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके पश्चात् श्रीधरसेन का नाम आता है। इन्होंने विश्वलोचन कोश की रचना की है। इस कोश का दूसरा नाम मुक्तावलि कोश भी है। कोश की प्रशस्ति के अनुसार इनके गुरु का नाम मुनिसेन था, ये सेन संघ के आचार्य थे। श्रीधरसेन नाना शास्त्रों के पारगामी और बड़े-बड़े राजाओं के द्वारा मान्य थे। सुन्दरगणि ने अपने धातुरत्नाकर में विश्वलोचन कोश के उद्धरण दिये हैं। विक्रमोर्वशीय की रंगनाथ की टीका में विश्वलोचन कोश के उद्धरण मिलते हैं। अतः इसका रचनाकाल ई० ११०५, मेदिनी का समय इसके कुछ वर्ष

पश्चात् अर्थात् १२वीं शती का उत्तरार्द्ध और हेम का भी समय १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। अतः विश्वलोचन कोश का समय १३ वीं शती का उत्तरार्द्ध या १४ शती का पूर्वार्ध मानना उचित होगा।

इस कोश में २४५३ श्लोक हैं। स्वरवर्ण और ककारादि के वर्णक्रम से शब्दों का संकलन किया गया है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध कोश साहित्य के अतिरिक्त एकाक्षर नाममाला नाम की चार रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र हैं, इसमें एक एक अक्षर का वर्णमाला क्रम से अर्थ बतलाया गया है। दूसरी विश्वशम्भू द्वारा ११५ पद्यों में रचित है। तीसरी कृति राजशेखर के शिष्य सुधाकैलास द्वारा ५० पद्यों में लिखी गयी है। वर्णमाला क्रम से एक-एक वर्ण का पृथक् पृथक् अर्थ बतलाया गया है। चौथी कृति धनंजय की नाममाला के अमरकीर्त्ति कृत भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें कुल १९ पद्य हैं। रचना साधारण है, स्वर-विशिष्ट एक-एक अक्षर का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है।

रामचन्द्र का देश्यनिर्देश निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्द समुच्चय भी महत्त्वपूर्ण हैं। सं० १६४० में विमलसूरि ने देशी नाममाला के शब्दों का सार लेकर अकारादिक्रम से देश्य शब्द निघण्टु की रचना की है। पुण्यरत्नसूरि का द्वयक्षरकोश, असगकवि का नानार्थ कोश और हर्षकीर्त्ति का नाममाला कोश भी उपयोगी हैं। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने नाम संग्रह कोश की रचना की है। हर्षकीर्तिसूरि की लघु नाममाला भी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिए उपयोगी है। साधुकीर्त्ति उपाध्याय के शिष्य साधु सुन्दरगणि ने शब्द रत्नाकर की रचना की है। इस कोश में छः काण्ड और १०११ श्लोक हैं। अभिधान चिन्तामणि के पूरक के रूप में संवत् १४३३ में जिनदेव सूरि ने शिलोञ्छनाममाला की रचना १४० पद्यों में की है।

संस्कृत और प्राकृत भाषा के कोषों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने कन्नड़ हिन्दी आदि भाषाओ में भी कोशों की रचना की है। महाकवि बनारसीदास ने संवत् १६७० में विजया-दशमी के दिन अपने मित्र नरोत्तमदास के अनुरोध से हिन्दी नाममाला की रचना की है। इस रचना का आधार महाकवि धनञ्जय की नाममाला है। पर इतना सत्य है कि यह धनञ्जय नाम-माला का पद्यबद्ध अनुवाद नहीं है। इस नाममाला में ३५० विषयों के नामों का सुन्दर संकलन किया है। इस रचना में १७५ पद्य हैं। हिन्दी के अभ्यासियों के लिए इसका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन कोश साहित्य की उपलब्धियां

१. जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी प्रभृति विभिन्न भाषाओं में पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची कोशों की रचना कर उक्त भाषाओं के अध्ययन मार्ग को सुलभ बनाया है। प्राकृत और देशी भाषाओं के कोष तो एकमात्र जैनाचार्यों के ही उपलब्ध हैं। इन कोषों के अध्ययन, मनन और परिशीलन से भाषा विषयक विभिन्न समस्याओं का समाधान संभव है।

२. संस्कृति सूचक शब्दों का सुन्दर और अच्छा संकलन किया गया है। इन शब्दों के आधार पर उस काल की रहन-सहन एवं रीति-रिवाजों का लेखा-जोखा उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यहां कुछ शब्दों को उपस्थित किया गया है।

केश-रचना के लिए हेमचन्द्र ने अपनी देशी नाममाला में कई प्रकार के शब्द प्रयुक्त किये हैं। उन शब्दों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय केश-विन्यास के कई तरीके प्रचलित थे। सामान्य केशरचना के लिए बब्बरी (६/६०), सूखे केश-बन्ध के लिए फुंटा (६/८४); केशों का जूड़ा बांधने के लिए ओअग्गिअं (१/१७२); सीमांत सुन्दर ढंग से सजाये गये केश-विन्यास को कुंभी (२/३४); सूखे बालों को साधारण ढंग से लपेटने के अर्थ में दुमंतओ (५/४७); सिर पर रंगीन कपड़ा लपेटने के अर्थ में अणराहो (१/२४) एवं किसी लसदार पदार्थ को लगाकर सिर के अवगुंठन के अर्थ में णीरंगी (४/३१) शब्द आया है।

अषाढ़ मास में गौरी पूजा के निमित्त होने वाले उत्सव-विशेष का नाम भाउअं (६/१०३); श्रावणमास में शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को होने वाले उत्सव विशेष के लिए वोरल्ली (७/८१); भाद्रपदमास में शुक्लपक्ष की दशमी को सम्पन्न होने वाले उत्सव के लिए णेडुरिआ (४/४५); आश्विन कृष्ण पक्ष में सम्पादित होने वाले श्राद्धपक्ष के लिए महालवक्खो (६/१२७); आश्विनमास में शरत्पूर्णिमा जैसे महोत्सव के लिए पोअलओ (६/८१); इस उत्सव मे पति पत्नी के हाथ से पुओं का भोजन करता था; माघ महिने में एक प्रकार का ऐसा उत्सव सम्पन्न किया जाता था, जिसमें ऊख की दतवन की जाती थी, इस उत्सव के लिए अवयारो (१/३२); वसन्तोत्सव के लिए फग्गू (६/८२) एवं नवदम्पति परस्पर एक दूसरे का नाम लेते थे, उस समय जो उत्सव सम्पादित किया जाता था, उसके लिए लयं (७/१६) शब्द का प्रयोग किया है। पोअलओ, फग्गू और अवयारो उत्सव सार्वजनीन थे। इनमें सभी स्त्री पुरुष समान रूप से भाग लेते थे।

रीति-रिवाज-सूचक शब्दों को भी इन कोषों में बहुलता है। देशी नाममाला में एमिणिआ (१/१४५) शब्द उस स्त्री का वाचक है, जो अपने शरीर को सूत से नापकर उस सूत को चारों दिशाओं में फेंकती है। आणंदवडो (१/७२) शब्द आया है, इसका अर्थ है कि जिसका विवाह कुमारी अवस्था में हो जाय, वह स्त्री जब प्रथम बार रजस्वला हो, उसके रजोलिप्त वस्त्र को देखकर पति या अन्य कुटुम्बी जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द इस शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है।

खेल के वाचक शब्द भी आये हैं। जो खेल आंखों को थका देने वाला या आंखों को अति प्रिय लगने वाला होता था, उसके लिए गंदीणी (२/८३) शब्द आया है। लुकाछिपी के खेल के लिए आलुंकी (१/१५३); ऊना-पूरा—मुट्ठी में पैसे लेकर अन्य व्यक्ति से पैसों की संख्या सम है या विषम, यह पूछना और उसके उत्तर पर जय-पराजय का निर्णय करना; इस प्रकार के खेल के लिए अंबेट्टी (१/७) प्रयुक्त हुआ है।

गले के हार में अथवा वक्षः स्थल के आभूषण मे मोतियों के लगाने को अज्झोलिया (१/३३); कटि पर पहने जाने वाले वस्त्र के लिए अवअच्छं (१/२६); विवाह के अवसर

घर बहू को उसके पति की ओर से दिये जाने वाले उपहार के लिए अण्णाएं (१/७); बासी भोजन के अर्थ में अंबसमी (१/३७); खेत में जंगली पशुओं या हरिण आदि को डराने के लिए तृण की पुरुषाकृति खड़ी करने के लिए अबडओ (१/००, १/५३); धान कूटने के लिए काम में लाये जाने वाले मूसल के लिए अवहडं (१/३२); पशुओं की नाक में पहनाई जानेवाली नाथ के लिए अवयासिणी; पक्षियों को बन्द रखने के लिए बनाये गये पिंजड़े के लिए आयासलवो (१/७०); दरिद्र व्यक्ति—गरीबी के कारण जिसका समाज में कोई स्थान न हो और सम्भ्रान्त लोग जिसका सदा तिरस्कार करें, ऐसे व्यक्ति के लिए इल्लो (१/८२); अलंकार करने का घर (Dressing room) के लिए आमलयं (१/६७); घास-फूस की बनाई गई कुटिया के लिए इरिआ (६/८०); सोने के बने कर्णाभूषण के लिए उआली (१/६०); कौड़ियों के बने आभूषण के लिए उल्लरयं (१/११०); घास के बने छप्पर के लिए खुंपा घर में तैयार किए गये विशेष भोजन के लिए घरोलं (२/१०६); पानी भरने के लिए बने चमड़े के बर्तन मोट के लिए चिरिक्का (३/२१); जिस स्थान पर जूआ खेला जाता था, उस स्थान के लिए टेंटा (४/३); जूआ खेलने के लिए आफरो (१/६३); नारियल की बालटी के लिए डुंघो (४/११); नक्काशीदार मूल्यवान् पानदान के लिए डोंगिली (४/१२); घर से गंदा पानी बाहर निकालने के लिए बनी हुई नाली अथवा घर में बनी हुई पानी की नहर के लिए णिद्धमणं (४/३६); धनिक व्यक्तियों द्वारा ग्रीष्म ऋतु के जिस चन्दन चूर्ण का अधिक प्रयोग किया जाता था, उसके लिए वण्णयं एवं सुगन्धित द्रव्यों द्वारा बनाये गये चूर्ण या पाउडर के लिए वह शब्द का व्यवहार किया गया हैं। उक्त शब्दों से स्पष्ट है कि जैन कोशों में सांस्कृतिक शब्दों का बहुत ही महत्त्पूर्ण संग्रह वर्तमान हैं। रहन-सहन एवं खान-पान के द्योतक शब्दों की भी कमी नहीं है।

३. शब्द से शब्दान्तर बनाने की प्रक्रिया जैन कोषों में पाई जाती है। धनञ्जय और हेमचन्द्र दोनों ने इस पद्धत्ति का उपयोग किया है। अमरकोष, वैजयन्ती प्रभृति किसी भी जैनेतर कोष में यह शैली नही पाई जाती है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी से दूसरे प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी सहज मे हो जाती है। जैसे पृथ्वी के नामों के आगे 'धर' या 'धर' के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम; 'पति' शब्द या 'पति' शब्द के समानार्थक स्वामिन् आदि शब्द जोड़ देने से राजा के नाम एवं रुह 'शब्द' जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार जल शब्द के नामों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से मछली के नाम; वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से बन्दर के नाम; 'प्रद' शब्द जोड़ देने से बादल के नाम; उद्भव शब्द जोड़ देने से कमल के नाम और जल शब्द के नामों के आगे 'धि' शब्द जोड़ देने से समुद्र के नाम बन जाते हैं।[1]

हेमचन्द्र ने शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दों का विधान करते हुए "कविरूढया ज्ञेयोदाहरणावली" के अनुसार उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया है, जो कवि सम्प्रदाय में प्रचलित

१. तत्पर्यायचरो मत्स्यस्तत्पर्याय प्रदो घनः।
तत्पर्यायोद्भवं पद्मं तत्पर्यायधिरम्बुधिः॥ —धन० नाममाला श्लोक० १६

हैं। जैसे पतिवाचक शब्दों से कान्ता, प्रियतमा, बधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पत्नी के नाम और कलत्र वाचक शब्दों में वर, रमण, प्रणयी, श एवं प्रिय शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पतिवाचक शब्द बन जाते हैं। गौरी के पर्यायवाची बनाने के लिए शिव शब्द में उक्त शब्द जोड़ने पर शिवकान्ता, शिव प्रियतमा, शिवबधू, शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। निभ का समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिव परिग्रह नहीं। अतः कवि सम्प्रदाय में यह शब्द ग्रहण नहीं किया है।

कलत्रवाची गौरी शब्द में वर, रमण प्रभृति शब्द जोड़ देने पर गौरी या, गौरीरमण, गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते हैं, जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है, उस प्रकार गंगावर शब्द नहीं। यद्यपि कान्ता वाचक गंगा शब्द में वर शब्द जोड़ कर पतिवाचक शब्द बन जाते हैं, तो भी कवि सम्प्रदाय में इस शब्द की प्रसिद्धि नहीं होने से यह शिव के अर्थ में ग्राह्य नहीं है। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि की अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में उन सारी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

४. जैन कोशों में कुछ ऐसे शब्द आये हैं, जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। अमरकोश में सुन्दर के पर्यायवाची सुन्दरम्, रुचिरम्, चारुः, सुषमम्, साधुः, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यं, मनोज्ञं, मंजुः, मंजुलम्, ये बारह शब्द आये हैं। हेम ने अभिधान चिन्तामणि में इसी सुन्दर के पर्यायवाची चारुः, हारिः, रुचिरं, मनोहरं, वल्गुः, कान्तं, अभिरामं, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यं, सुषमम्, शोभनं, मंजुलम्, मंजुः, मनोरमम्, साधुः, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलं, हृद्यं, काम्यं, कम्नं, कमनीयं, सौम्यं, मधुरं, और प्रियं ये २६ शब्द बतलाये गये हैं। इतना ही नहीं हेम ने अपनी वृत्ति में 'लडह' देशी शब्द को भी संस्कृत शब्दों में सौन्दर्यवाची ग्रहण किया है। गेहूं के आटे के लिए समिता (३/६७) जूठन के लिए फेला और पिण्डोलि (३/६०), बड़ी साली के लिए ज्येष्ठश्वसा और कुली, छोटी साली के लिए हाली, यन्त्रणी और केलिकुंचिका (३/२१८–२१६) एवं बहुसंतानवाली माता के लिए कुमिला (३/२२२ शब्द आया है। इसी प्रकार श्रीधरसेन ने विश्वलोचन कोश में रुचक शब्द के बारह अर्थ बतलाये हैं, जबकि अमरकोश में चार और मेदिनी में कश अर्थ बतलाये गये हैं।

५. जैन पारिभाषिक और आम्नाय सम्मत शब्दावली के साथ जैन परम्परा की पौराणिक, धार्मिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं के विवरण भी उपलब्ध होते हैं। अभिधान-चिन्तामणि में तीर्थंकरों के नाम, प्रत्येक तीर्थंकर के पर्यायवाची शब्द, तीर्थंकरों के माता-पिताओं के नाम, तीर्थंकरों के अतिशय की नामावली, भूत–भविष्यत् वर्तमान कालीन चौबीसी, गणधरों के नाम, तीर्थंकरों के ध्वजचिह्न, अन्तिम केवली, श्रुतकेवली, तीर्थंकरों की जन्मभूमियां तथा जैन आम्नाय द्वारा सम्मत देव गति, तिर्यञ्चगति के जीवों का वर्णन किया गया है। चतुर्थकाण्ड में पृथ्वीकायिक जीव पर्याय, अप्कायिक जीव पर्याय, तेजस्कायिक जीव पर्याय, वायुकायिक जीव पर्याय और वनस्पतिकायिक जीव पर्याय का विस्तृत पर्यायाङ्कन किया गया है। दो इन्द्रिय जीवों की नामावली चार श्लोकों में दी गई है और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों

की नामावली पूरे विस्तार के साथ लगभग २० श्लोकों में वर्णित है। उदाहरणार्थ दो इन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची शब्दों को उपस्थित किया जाता है।

नीलंगु: कृमिरन्तर्जः क्षुद्रकीटो बहिर्भवः।
पुलकास्तूभयेऽपि स्युः कीकसाः कृमयोऽणवः ॥
काष्ठकीटो घुणः गण्डूपदः किंचुलकः कुसूः।
भूलता गण्डूपदी तु शिली अस्त्रपा जलौकसः ॥
जलालोका जलूका च जलौका जलसर्पिणी।
मुक्तास्फोटोऽब्धिमंडूकी शुक्तः कम्बुस्तुवारिजः ॥
त्रिरेखः षोडशावर्तः शंखोऽथ क्षुद्रकम्बवः।
शंखनकाः क्षल्लकाश्च शम्बूकास्त्वम्बुमात्रजाः ॥

कृमि, नीलंगु, क्षुद्रकीट, पुलक, अणुकृमि, कीकस, काष्ठकीट; घुण, गुण्डूपद, किंचुलक, कुसू भूलता, गुण्डूपदी, शिली, अस्त्रपा, जलौकस, जलालोक, जलूक, जलौक, जलसर्पी, मुक्तस्फोट, अब्धिमंडूकी, शुक्ति, कम्बु, शंख, वारिज, त्रिरेख, षोड़शावर्त, क्षुद्रकम्बव, शंखनक, क्षुल्लक, शम्बूक, कपर्द, हिरण्य, पणास्थिक, वराणट, दुर्नाम, और दीर्घकोश ये द्वीन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची शब्द हैं।

इस कोश के भूमिकाण्ड में त्रस और स्थावर जीवों के अनेक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। जैन परम्परा के जितने अधिक शब्द इस कोश में वर्तमान है, उतने अन्य किसी भी कोश में नहीं। अतः जैन कोशों में जैन संस्कृति की ऐसी शब्दावली उपलब्ध है, जिसका महत्व दर्शन और सैद्धांतिक ग्रन्थों से कम नहीं है।

६. भाषा विज्ञान की दृष्टि से जैन कोषों को अत्यधिक महत्त्व है। गुजराती, ब्रजभाषा राजस्थानी और खड़ी बोली हिन्दी के सहस्रों शब्दों की व्युत्पत्तियां इन कोशों के आधार पर प्रस्तुत की जा सकती हैं। अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञवृत्ति और धनञ्जय नाममाला का अमरकीर्त्ती का भाष्य इस दिशा में बहुत उपयोगी है। हेमचन्द्र की देशी नाममाला तो उक्त दृष्टि से बेजोड़ ग्रन्थ है। यहां हम कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

१. पोलिका (अभिधान चि० ३।६२)—गुजराती और राजस्थानी में पोणी, ब्रज भाषा में पोनी, खड़ी बोली में पिउनी।
२. मोदको लड्डुकश्च (अ० चि० शेष ३।६४)—हिन्दी लड्डू, गुजराती में लाडु।
३. चोटी (अ० चि० ३।३३१)—हिन्दी चोटी, गुजराती चोणी।
४. समौ कन्दुक गेन्दुकौ (अ० चि० ३।३५३)—हिन्दी में गेन्द, ब्रजभाषा में गेंद।
५. हेरिको गूढ पुरुषः (अ० चि० ३।३९७)—ब्रज भाषा में हेर या हेरना–देखना, गुजराती हेर।
६. तरवारि (अ० चि० ३।४४६) ब्रज भाषा में तरवार, राजस्थानी में तलवार तथा गुजराती में तरवार।
७. जंगलो निर्जलः (४।१६)—ब्रज भाषा में जंगल, हिन्दी में जंगल।

८. सुरंगा तु सन्धिलास्यद् गूढमार्गो सुवान्तेर (अ० चि० ३।५१)—ब्रज भाषा, हिन्दी तथा गुजराती तीनों भाषाओं में सुरंग ।

९. निश्रेणीस्वधिरोहिणी (अ० चि० ४।७८)—ब्रज भाषा नसेनी, गुजराती नीसरणी ।

१०. चालनी तितउः (अ० चि० ४।८४)—ब्रज, राजस्थानी और गुजराती में चालनी, हिन्दी में चलनी या छलनी ।

११. पेटस्यान्मयूजूषा (अ० चि० ४।८१)—राजस्थानी पेटी, गुजराती पेटी, पेपो और ब्रज भाषा में पिट री, पेटी ।

१२. उक्खलीपिठरम् (दे० १।८८)—अवधी ओखरी; राजस्थानी, ब्रजभाषा और भोजपुरी में ओखली, उखली, ओखरी और ओखड़ी; बुन्देली में उखरी ।

१३. चुल्लीइ उल्लिउल्लग (दे० १।८७)—भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रजभाषा और अवधी में चूल्हा; गुजराती में चूलो; बुन्देली में चूलौ और खड़ी बोली में चूल्हा ।

१४. उल्लुटं मिथ्या (दे० १।७९)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में उलटा ।

१५. उसीरं विसतन्तुः (दे० १।६४)—अवधि, भोजपुरी और ब्रजभाषा में उशीर; यह शब्द कमलनाल या खश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ,

१६. उडिदो माषधान्यम् (दे० १।९८)—ब्रजभाषा में उड़द, भोजपुरी में उरिद, खड़ी बोली में उड़द, गुजराती में अड़द, और राजस्थानी में उड़िद या उड़द तथा बुन्देली में उरदन ।

१७. उड्डसो मत्कुणः (दे० १।९६)—भोजपुरी में उड़िस या उड़ीस; बंगला और मैथिली में उड़ीस ।

१८. उत्थल्ल-पत्थल्ला पार्श्वर्वद्वयेन परिवर्तनम् (दे० १।११२)—हिन्दी में उथल-पुथल; गुजराती में उथल-पाथल ।

१९. ओज्भरी अन्भावरणम् (दे० १।१५७)—आंत या पेट ब्रजभाषा में ओभ, ओज्भर; भोजपुरी में ओभरी ।

२०. ओड्ढणं उत्तरीयम् (दे० १।५५)—राजस्थानी ओढणी, ब्रजभाषा, अवधी और गुजराती में ओढ़नी । ब्रजभाषा सूरकोश में बताया गया है कि ओढनी स्त्रियो के ओढने के वस्त्र, उपरैनी, चादर, फरिया है । संस्कृत के अवधान शब्द से इनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ।

२१. कट्टारी क्षुरिका (दे० २।४)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में कटारी । संस्कृत शब्द कर्त्तरी से इसका सम्बन्ध है ।

२२. काहारो जलादिवाही कर्मकारः (दे० २।२७)—हिन्दी की सभी ग्रामीण बोलियों में काहार या कहार ।

२३. खड्डुकी लघुद्वारम् (दे० २।८१)—खड़ी बोली में खिड़की; ब्रजभाषा में भी खिड़की; भोजपुरी में खिरकी और बुन्देली में खिरकी ।

२४. गोवरं करीषम् (दे० २।९६)—हिन्दी में गोवर ।

२५. घग्घरं जघनस्थवस्त्रभेदः (दे० २।१०७)—ब्रजभाषा और राजस्थानी में घाघरा ।

२६. घट्टी नदी तीर्थम् (दे० २।१११)—हिन्दी घाट ।

२७. छिणाली जारः (दे० ६।२७)—हिन्दी में छिनाल ।

२८. छेड़ी लघुरथ्या (दे० ३।३१)—ब्रजभाषा में छेड़ी।

२६. जोण्णलिम्रा धान्यम् (२।५०)—ब्रजभाषा जुगरी, जुणरी, जोणरी, भोजपुरी जनरी, जनरियाः राजस्थानी जुणरी या जोणरी और अंगिका जोणरा या जनेरा।

३०. झंकरो शुष्कतरुः (दे० ३।५४)—हिन्दी झंखर, झाड़-झंखार मुहावरा प्रसिद्ध है।

३१. झडी निरन्तरवृष्टिः (दे० ३।५३)—ब्रजभाषा, खड़ी बोली, भोजपुरी और राजस्थानी में झड़ी या झरी; बंगला तथा अंगिमा में झड़ड।

३२. डलो लोष्टकम् (दे० ४।७)—हिन्दी में डली, ढेला, डेला।

३३. हरिम्राली दूर्वा (दे० ८।६४)—हिन्दी में हरियाली।

अमरकीर्त्ति ने नाममाला के भाष्य में जो व्युत्पत्तियां प्रस्तुत की हैं, उनसे शब्दों के अर्थों की जानकारी के साथ संस्कृति और सभ्यता की अनेक बातें दृष्टिगोचर होती हैं। जीवन के मानदण्ड एवं जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण होता है। यहां उदाहरण के लिए कुछ कुत्पत्तियां प्रस्तुत की जाती है।

१. ननद शब्द का पर्यायवाची शब्द ननान्दा आया है। वैदिक युग में भौजाई के घर में आने पर सबसे अधिक ननद ही प्रसन्न होती थी, वह हृदय खोलकर उसका स्वागत करती थी तथा अपनी सहेली के रूप में भावज को मानती थी। पर कालान्तर में भौजाई और ननद का झगड़ा होने लगा—इसी दृष्टि के आधार पर अमरकीर्त्ति ने लिखा—न नन्दति भ्रातृजाया यस्यां सत्यां सा ननान्दा (अमरकीर्ति भाष्य पृ० २१)—अर्थात् जिसके रहते हुए भौजाई प्रसन्न न रह सके, वह ननन्दा है। अतः स्पष्ट है कि यह व्युत्पत्ति जीवन की एक नई दिशा की सूचना देती है।

२. दारक—पुत्र के लिए दारक शब्द का प्रयोग मिलता है। सन्तान उत्पन्न होने से माता का यौवन विगलित हो जाता है। अतः अमरकीर्त्ति ने लिखा है—"दारयति हरणाति वा मातुर्यौवनम्—इति दारकः (अ० मा० पृ० २०)।

३. श्यामा—रात्रि के पर्यायवाची शब्दों में श्यामा का नाम आता है। इसकी व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है—श्यायन्ते गच्छन्ति रात्रिञ्चरा अत्र श्यामा (अ० मा० पृ० २५) रात्रि में विचरण करने वाले पशु विहार करते हैं, इधर-उधर घूमते हैं, अतः रात्रि का नाम श्यामा है।

४. अश्व शब्द की व्युत्पत्ति में बताया गया है—अश्नुते व्याप्नोति वेगेनाभीष्टस्थान-मित्यश्वः अथवा अश् भोजने अश्नाति भक्षयति मुद्गादीनित्यश्वः (अ० मा० पृ० २७) अर्थात् जो शीघ्रतापूर्वक अभीष्ट स्थान पर ले जाय, वह अश्व है अथवा मूंग आदि का भक्षण करे वह अश्व है।

इस प्रकार सभी शब्दों की व्युत्पत्तियां ज्ञान वर्धक होने के साथ मनोरञ्जक भी हैं। इनसे भाषा और संस्कृति का अच्छा इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

जैन कोश साहित्य पर शोध की अत्यन्त आवश्यकता है। भाषा विज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से इसमें अनेक मौलिकताएँ विद्यमान हैं।

महावीर बुद्ध और गांधी की अहिंसक परम्परा

शशिबाला माथुर

अहिंसा परमोधर्म है, यह आर्षवाणी है। भारतीय जन मानस का इस पर अटूट विश्वास रहा है। वैदिक काल एवं जैन-बौद्ध काल से लेकर आज के गांधी युग तक इस अहिंसा दर्शन पर गम्भीर चिन्तन-मनन तथा असंख्य व्यावहारिक प्रयोग किये गये हैं। जैन धर्म के अन्तिम यशस्वी तीर्थंकर महावीर तो अहिंसा के साक्षात् अवतार ही माने जाते हैं। धर्म के नाम पर होने वाले हिंसक कर्म काण्डों तक का उन्होंने घोर विरोध किया था। धार्मिक संसार के बाह्य आचार–विचार से उत्पन्न होने वाले मत भेदों में भी उन्हें सूक्ष्मंहिसा के दर्शन हुये। एतदर्थ अनेकान्तवाद किंवा स्याद्वाद के समन्वय सूचक चिन्तन से हिंसा मूलक सम्प्रदायवाद की गुत्थी भी उन्होंने सुलझाई। समाज के अभिन्न अंग शूद्र जाति के साथ होने वाले अमानुषिक व्यवहार के विरुद्ध भी उन्होंने खुली बगावत की। हिंसा किसी भी क्षेत्र में उन्हें असह्य थी। वे शतशः अहिंसा के अप्रतिम अनन्य पुजारी थे। इतिहास में आज महावीर और अहिंसा एकार्थक अथवा पर्यायवाची शब्द बन गये हैं। भारतीय जन जीवन अहिंसा का व्यापक व्यवहारिक प्रयोग करने के कारण महावीर का यावच्चन्द्रदिवाकरौ आभारी रहेगा।

उसी अहिंसा दर्शन को राष्ट्रीय क्षेत्र तक सर्वव्यापी बनाने का सर्वतोमुखी श्रेय आधुनिक युग के अवतार महात्मा गांधी को मिला है। किसी भी देश के स्वतन्त्रता संग्राम में अहिंसा का व्यापक व्यावहारिक प्रयोग होने की इतिहास में सम्भवतः यह प्रथम घटना होगी। इस अहिंसावादी प्रयोग का असाधारण प्रभाव न केवल भारतीय जन जीवन पर ही पड़ा अपितु एशिया, अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों पर भी स्पष्ट परिलक्षित हुआ।

उसी अहिंसा की विकासशील कड़ी में प्रधान मन्त्री नेहरू के पंचशील का नामोल्लेख करना भी समीचीन होगा। वर्त्तमान युग अणु युग है। सारा संसार सिमट कर एक परिवार की तरह बन गया है। हजारों मीलों की दूरी वर्षों में नहीं दिनों में भी नहीं बल्कि घंटों से समाप्त की जा सकती है। विज्ञान के बढ़ते चरणों ने धरती पर स्वर्ग उतारने का जहां स्थूल प्रयास किया हैं, वहां ऐटमबम और हाइड्रोजन बमों के माध्यम से हमारे सुखी संसार को नरक की ओर भी धकेल दिया गया है। एक वैज्ञानिक के शब्दों में ढाईअरब जनसंख्या वाले संसार को ऐटमबमों के द्वारा ढाईमिनट में समाप्त किया जा सकता है। संसार के विभिन्न विरोधी विचार धाराओं वाले राष्ट्रों के सम्मुख एक और पंचशील व सहअस्तित्व का सिद्धान्त है, दूसरी ओर मौत। उनके सामने आज जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित है। वे त्रिशंकु की तरह बीच में नहीं लटक सकते। उन्हें जीवन मरण के सन्धि स्थल पर निश्चित निर्णय करना ही होगा। काश ! इस शाश्वत सत्य को चीन जैसा मदान्ध राष्ट्र भी समझ पाता। वही चीन जिसका भारत के साथ हजारों वर्षों से मित्रवत् पड़ौसी का व्यवहार रहा। अहिंसा और मैत्री के प्रतीक

बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव के काल से लेकर साम्यवादी शासन के ग्राविर्भाव तक जिसके साथ भ्रातृत्व का प्रगाढ़ प्रदर्शन होता रहा, उसी पड़ौसी चीन का हमलावर रूप उसकी तुच्छता और जघन्यता को ही प्रगट करने वाला है।

यद्यपि भारत में महावीर बुद्ध, और गांधी की अहिंसावादी परम्परायें उद्भूत हुई हैं और प्रवर्धमान भी। किन्तु उसका आशय अहिंसा के नाम पर स्वतन्त्रता को गिरवी रखकर पराधीनता का आलिङ्गन करना कदापि नहीं हो सकता। हम हमलावार के सामने अहिंसा की आड़ में कायर बनकर कभी भी घुटने नहीं टेक सकते। आइये, अब हम भारतवासी महावीर जयन्ती के आलोक में अंहिसादर्शन और आपत्त कालीन राष्ट्रीय परिस्थिति पर जागरूक प्रबुद्ध विचारक की तरह चिन्तन मनन करें और संसार को सत्यं, शिवं, सुन्दरं की ओर गतिशील बनाने में अपना भी यत्किंचित् योगदान करें।

देखहु जोर जग भटकौ,
जमराज महीपति की अगवानी।
उज्जल केस निसान धरें,
बहु रोगन की संग फौज पलानी
कायपुरी तजि भाजि चल्यौ जिहि,
आवत जोबन-भूप गुमानी।
लूट लई नगरी सगरी,
दिन वौय में खोय हैं निसानी॥

—कविवर सूरदास

भक्त कवि वृन्दावन की काव्य-साधना

डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम. ए. पी-एच. डी.

[यह आश्चर्य की बात है कि पूर्ण गृहस्थ होते हुये भी वृन्दावन ने एक भी शृंगार परक रचना नहीं लिखी। उसकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है जिनेश्वर के चरणों में जीवात्मा का आत्म-निवेदन, करुण क्रन्दन और समर्पण। एक ओर उसने सूर की भांति जिन-दर्शन के लिये नित्य नवीन स्रोत बनाकर जिनेश्वर का लीला-गान किया तो दूसरी ओर तुलसी की भांति युग की पीड़ा से संतप्त होकर लोक-रक्षक, भक्त-वत्सल, अधम-उद्धारक, पतित-पावन, दीन बन्धु भगवान को पुकारा उसके समक्ष अपनी लघुता, दुष्टता, नीचता को गा कर रखा। —सं०]

जैन भक्त-कवियों में वृन्दावन का विशिष्ट स्थान है। उन्नीसवीं शती का यह कवि अपनी विनय-भावना, स्वतःस्फूर्त काव्याराधना और आध्यात्मिकता के कारण उस समय रीति कालीन कवियों-पद्माकर, ग्वाल, जोधराज, ठाकुर, दीनदयाल गिरि आदि से अलग जान पड़ता है। कविता करना इस कवि का सहज संस्कार था। उसने काव्यमय जीवन जीया था और जीवनमय काव्य रचा था। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इस कवि का नामोल्लेख तक नहीं किया। कामताप्रसाद जैन ने इसे उन्नीसवीं शती का सर्वश्रेष्ठ जैन कवि माना है।[1] वृन्द नाम के दो और कवियों का विवरण हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मिलता है।[2] आलोच्य कवि वृन्दावन का समय उन दोनों के बाद का है।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : पृष्ठ १६०

२. (क) वृन्द;—ये मेड़ता के रहने वाले थे। इनका जन्म सं० १७०० में हुआ था। ये कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' जो सं० १७६१ में औरंगजेब के पौत्र शाहजादा अजीमुश्शान के विनोदार्थ लिखी गयी थी, लोकनीति सम्बन्धी दोहों के कारण बहुत प्रसिद्ध है—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहासः गुलाब राय, पृ० १६३

(ख) चाचा हित वृन्दावनदासः—ये पुठकर क्षेत्र के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६५५ में हुआ था। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हित-रूपजी के शिष्य थे। ये भक्तप्रवर महाराज नागरीदास के भाई बहादुरसिंह के यहां रहे थे। ये चाचा के नाम से प्रख्यात हैं। इन्होंने भगवान की लीलाओं का बड़ा विशद वर्णन किया है—राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्यः डा० विजयेन्द्र स्नातक।

जीवन वृत्त

वृन्दावन का जन्म सं० १८४८ माघ शुक्ला १४ सोमवार, पुण्य नक्षत्र, कन्या लग्न, भानु अंश २७ के शुभ मुहूर्त में[1] शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम में हुआ। ये गोयल गोत्री अग्रवाल थे। इनके पिता का नाम धर्मचन्द था। माता का नाम सिताबी और पत्नी का रुक्मिणी रुक्मिणी एक धर्मपरायणा और पतिव्रता महिला थी। इनके पितामह लालूबाबा अथवा लालजी प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके नाम से अब भी बारा में एक बाग है जो लालूबाबा का बाग कहलाता है। सं० १७६० में वृन्दावन-बारहवर्ष की अवस्था में-अपने पिता के साथ बारा से काशी आ गये और वहीं रहने लगे। काशी में इन्हें काशीनाथ आदि विद्वानों की सत्संगति मिली जिससे इनका आध्यात्मिक और वैचारिक विकास हुआ।

कवि वृन्दावन स्वभाव से संत थे। सिर से पैर तक सरलता की प्रतिमूर्ति। न लम्बे न नाटे, साधारण कद के पुरुष। रंग गेहुआ, धोती मिरजई सिर पर पगड़ी, कभी२ टोपी। यौवन की लहर मे भंग की तरंग और उससे प्राप्त काव्य-धारा का सतत प्रवाह पर गुलाबी नशा कविता-कामिनी के पैरों में विलास के नुपुर नही बांध सका। वह उसे पद्मावती[2] देवी के रूप में ही अपने हृदय सुमन चढाता रहा। जीवन में जो कवि गुप्त दानी रहा वही काव्य में दीन बन्धु-दीनानाथ से प्रेम दान मांगता रहा। अपने विश्वास में जो मंत्र-तंत्र को पूजता रहा[3] काव्य में वही मंत्रदाता बन गया। जीवन के अन्तिम वर्षों में भगवान् के प्रेम में इतनी तन्मयता कि बाह्य वेशभूषा की परवाह नहीं रही। केवल एक कोपीन और चादर से ही काम चलने लगा। पैरों में जूते भी न रहे।

काव्य रचना

कवि वृन्दावन प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी काव्य सरिता निम्नधाराओ मे प्रवाहित हुई है।

---

१. ठारै अड़ताल माघ सेत चौदै सोम पुष्य, कन्या लग्ने भानु अंश सत्ताईस धारा है।

२. पद्मावती कवि की इष्ट देवी थी। २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ने आग में जलते हुए नाग-नागिन की रक्षा की थी। वे ही आगे चलकर धरणेन्द्र और पद्मावती बने। जब कमठ के जीव ने पार्श्वनाथ को मूसलाधार वर्षा कर उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र और पद्मावती ने उनकी सहायता की। धरणेन्द्र ने पार्श्वनाथ के सिर पर फन फैलाया और पद्मावती ने उन्हें मस्तक पर उठा लिया।

३. कवि को मंत्रादि प्रयोगों पर दृढ़ विश्वास था। भदैनी सुपार्श्वनाथ का मुकद्दमा जीतने के लिए तथा हाथरस में विधर्मियों का तिरस्कार होने के लिए उसने भट्टारक ललित कीर्तिजी से अपना कोई मंत्र-प्रयोग करने की प्रार्थना की थी।

(क) पद्यानुवाद—कवि में अनुवादक की प्रतिभा थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही उसने कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'प्रवचनसार' का अमृतचन्द्रसूरि की संस्कृत टीका तथा पांडे हेमराज की भाषा-टीका के अनुसार—पद्यानुवाद करना प्रारम्भ कर दिया था। यह मूलग्रंथ का हूबहू अनुवाद है। नाथूराम प्रेमी ने इसे मूलग्रंथ की पद्यबद्ध टीका कहा है।[1] कवि ने इस ग्रंथ के प्रणयन में जितना परिश्रम किया उतना अन्य ग्रंथों में नहीं। इसे पहली बार सं० १८६३ में प्रारम्भ कर सं० १९०५ में तीसरी बार पूर्ण किया। इस प्रकार इसमें कवि की ४२ वर्षों की साधना का नवनीत और अनुभव का निचोड़ भरा गया है।

(ख) स्तवन एवं स्तुतिपरक रचनाएं:—इस प्रकार की रचनाओ में 'चौबीसी पाठ' और 'तीस चौबीसी पाठ' का विशेष महत्त्व है। 'चौबीसी पाठ' में २४ तीर्थंकरों का गुणानुवाद है। आज तक किसी भी पूजा-पाठ की इतनी प्रसिद्धि नहीं हुई जितनी इसकी। बिहारी की 'सतसई' किस प्रकार शृंगार-प्रेमी लोगों के हृदय का हार बनी हुई है, उसी प्रकार यह चौबीसी भजन-प्रेमी लोगों की माला। इसकी रचना सं० १८७५ कार्तिक कृष्णा अमावस्या गुरुवार को हुई। इसकी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार पश्चिम की ओर से जैन यात्रियों का बड़ा भारी संघ भेलुपुरा में आकर ठहरा था। उसमें से कुछ व्यक्तियों ने वृन्दावनजी से कोई नवीन पाठ लाने की बात कही। उसी बात पर रात भर में इसकी रचना हो गई। 'जिनेन्द्र स्तुति', जिन वचन स्तुति, गुरु स्तुति, संकट मोचन स्तुति, पद्मावती स्तोत्र, अरहंत स्तुति, श्रीपति स्तुति, आरत भंजन स्तोत्र आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

(ग) छन्द शास्त्रीय रचना:—कवि का लक्ष्य ग्रंथ लिखने में ही नही लगा रहा उसने लक्षण ग्रंथ भी लिखा है। 'छन्द शतक' इसी प्रकार का छन्द सम्बन्धी ग्रंथ है। इसमें काव्योपयोगी १०० प्रकार के छन्दों की निर्माण-विधि दी गई है। इसके पहले छन्द-शास्त्र का ऐसा सरल, सुपाठ्य और थोड़े में बहुत प्रयोजन सिद्ध करने वाला ग्रंथ दूसरा नहीं बना था। संस्कृत के वृत्त-रत्नाकर आदि ग्रंथों के समान प्रत्येक छन्द के लक्षण नामादि उसी छन्द में बतलाये हैं और विशेष खूबी यह है कि एक प्रकार से सारा ग्रंथ जिन शासन की अच्छी-अच्छी शिक्षाओं से भरा हुआ है।[2] इसकी रचना कवि ने केवल १८ दिन मे अपने पुत्र अजितदास को छन्द-ज्ञान देने के लिए सं० १८६८ में की थी।

(घ शकुन-विचार सम्बन्धी रचना:—'अर्हत्पासा केवली' नामक रचना इसी कोटि की है। पण्डित विनोदीलाल कृत संस्कृत ग्रन्थ के आधार से इसकी रचना हुई है। इसमें पासा डाल कर शुभाशुभ जानने की पद्धति निर्दिष्ट की गई है।

(ङ) आध्यात्मिक स्फुट पद:—इन पदो में तुलसी की विनय पत्रिका की भांति जिनेश्वर भगवान की सेवा में भक्त की करुण पुकार है। पण्डित नाथूराम प्रेमी ने ऐसे कुछ पदों का 'वृन्दावन-विलास' में संकलन किया है।

---

१. वृन्दावन-विलासः—प्रस्तावना पृ० २२।
२. वृन्दावन विलासः—प्रस्तावना—पृ० २६।

भक्ति-भावना

भक्त कवि वृन्दावन का स्थान उन कवियों में है जिन्होंने कभी काव्य को व्यवसाय नहीं बनाया बल्कि काव्य स्वयं जिनके जीवन का व्यसन बन गया। रीतिकालीन वातावरण में जन्म लेकर भी वह भक्त बने रहे। उसने किसी लौकिक पुरुष के आगे 'प्राकृत जन गुण गान' कर हाथ नहीं पसारा। कबीर की भांति उसने काव्य को जीवन-व्यापार के साथ मिला कर एकमेक कर दिया। काशी के राजघाट पर फुटही कोठी में गार्डन साहब सौदागर की दुकान पर वह मैनेजर बन गये तो क्या हुआ ? कवि-कर्म रुका नहीं। कारखाने में भी कागज-पैंसिल साथ रही। इधर कारखाने का काम देखा जाता उधर कविता का जन्मोत्सव मनाया जाता। कविता वृन्दावन के लिए वह बन्दरी थी जो उसके संकेतों पर नाचा करती थी। श्रम-भारती का यह मेल अद्‌भुत था, जो भी देखता चकित रह जाता।

यह आश्चर्य की बात है कि पूर्ण गृहस्थ होते हुए भी वृन्दावन ने एक भी शृंगारपरक रचना नहीं लिखी। उसकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है जिनेश्वर के चरणों में जीवात्मा का आत्म-निवेदन, करुण क्रन्दन और समर्पण। एक ओर उसने सूर की भांति जिन-दर्शन के लिए नित्य नवीन स्तोत्र बना कर जिनेश्वर का लीला-गान किया तो दूसरी ओर तुलसी की भांति युग की पीड़ा से संतप्त होकर लोक-रक्षक, भक्त-वत्सल, अधम-उद्धारक, पतित-पावन, दीनबन्धु भगवान को पुकारा, उसके समक्ष अपनी लघुता, दुष्टता, नीचता को गा गाकर रखा।

वृन्दावन का उपास्य राग-द्वेष से रहित होकर भी करुणा-निधान है,[1] शुद्ध शिव-स्वरूपी होते हुए भी कमलाधर है, रमापति है।[1] संकट पड़ने पर वह भक्त की सहायता करता है। उसने सीता के लिए अग्नि कुंड को लहरता सरोवर बना दिया,[2] द्रौपदी की लज्जा बचाने के लिए चीर बढ़ा दिया है[3] श्रीपाल के राजरोग को दूर

---

१. जद्‌पि तुमको रागादि नहीं, यह सत्य सर्वथा जाना है।
तद्‌पि भक्तन की भीति हरो, सुखदेत तिन्हें जु सुहाना है।

वृन्दावन वि०, पृ० ४

१. कमलाधरजी ! कमलाकरजी ! करिये कमला अमलाना है।
अब मेरि विथा अवलोक रमापति, रंच न बार लगाना है।।—पृ० ४

२. पावक प्रचंड कुण्ड में उमण्ड जब रहा, सीतासों सपथ लेने को तब राम ने कहा। तुम ध्यान धार जानकी पग धारती तहां, तत्काल ही सर स्वच्छ हुआ कौल लहलहा।

३. जब चीर द्रोपदी का दुशासनने था गहा,
सब ही सभा के लोग थे कहते हहा हहा।
उस वक्त भीर पीर में तुमने करी सहा,
परदा ढका सती का सुजस जक्त में था रहा।

किया,[४] सेठ सुदर्शन के लिए सूली को सिंहासन बना दिया[५] और ती और ग्राह से गजेन्द्र तक की रक्षा की। कवि के उपास्य का यह स्वरूप तटस्थ दर्शन का न होकर भक्त की पुकार पर दौड़ पड़ने वाले लोक-रक्षक का है। वह शक्ति, शील और सौन्दर्य का धनी है।

कवि ने ऐसे ही उपास्य के प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रकट की है। कहा जाता है कि एक दिन एक किरानी अंग्रेज कविवर की ससुराल में आया। कविवर ने उसे कारखाना बताने से इन्कार कर दिया और कहा जाओ तुम्हारे सरीखे बहुत किरानी देखे हैं" संयोग से वही किरानी बाद में काशी का कलेक्टर बन कर आया और उसने बदला लेनी की भावना से कविवर को (जो उस समय सरकारी खजांची के रूप में काम करते थे) एक षड़यन्त्र रचकर तीन वर्ष की जेल दे दी। कवि की काव्य-साधना और भक्ति-भावना वहां भी नियमित चलती रही। एक दिन सवेरे ही कलेक्टर साहब जेल देखने गये तो क्या देखते हैं कि कविवर ने जेल की कोठरी में पद्मासन लगा रखा है, उसकी आंखों से आंसू बह रहे हैं और मुँह से स्तुति-पाठ चल रहा है—

"हे दीनबन्धु श्रीपति करुणानिधानजी-।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी।।"

यह तन्मय अवस्था देखकर पाषाण हृदयी अंग्रेज भी पिघल गया और उसने तीन वर्ष की जेल को एक माह की करदी। 'शिवेतरक्षयते' के रूप में कवि को कविता का प्रतिफल मिला, समाज को न्याय मिला और साहित्य को मिला भक्ति का प्रोज्ज्वल रूप।

कवि के आध्यात्मिक पदों को पढ़ने से पता चलता है कि वह तुलसी की 'विनय पत्रिका' से अत्यधिक प्रभावित है। तुलसी ने 'विनय पत्रिका' के रूप में अपने को तथा अपने समाज को तत्कालीन मुगल शासकों के अत्याचारों का शिकार बनाकर प्रस्तुत किया है तो कवि वृन्दावन ने अपने आध्यात्मिक पदों में तत्कालीन समाज की उस वाणी को स्वर दिया है जो अंग्रेजी शासकों के दमन चक्र में पीसी जा रही थी। दोनों ने रक्षा के लिए, सहायता के लिए, भगवान को पुकारा है। भगवान की महत्ता का बखान करने में और अपनी लघुता का प्रदर्शन करने में दोनों कवियों को आनन्द आया है। दोनों ने भगवान की दास्य-भाव से उपासना की है। भावावेश में आकर उसे उपालंभ दिये हैं और जवाब तलब किया है कि क्यों नहीं अब तक उसका उद्धार किया ?

---

४. जब राजरोग था हुआ श्रीपाल राज को,
मैना सती तब आपको पूजा इलाज को।
तत्काल ही सुन्दर किया श्रीपाल राज को,
वह राज रोग भागि गया मुक्त राज को।

५. जब सेठ सुदर्शन को मृषा दोष लगाया,
रानी के कहे भूपने सूली पै चढ़ाया।
उस वक्त तुम्हें सेठ ने निज ध्यान में ध्याया,
सूली से उतारुको सिंहासन पै बिठाया

यहां दोनों कवियों के कुछ ऐसे पद उद्धृत किये जाते हैं जिनसे पता चलता है कि कवि वृन्दावन भक्ति-भाव में ही नहीं बल्कि शब्द-चयन और शैली में भी तुलसी से प्रभावित हैं--

(१) क्यों न दीन पर द्रवहु दयावर, दारुण विपति हरो करुणाकर।
हो अपार उदार महिमाधर, मेरी बार किम भये हो कृपनतर ।।
वेद पुरान भनत गुन गनधर, जिन समान न आन भव भयहर ।।
सहि न जात त्रयताप तरलगर, हे दयालु गुनमाल भालवर ।
भविक वृंद तब शरन चरन तर, भो कृपाल प्रतिपाल क्षमाकर ।।

—वृन्दावन-विलासः पृ० ४६-४७

कसन दीन पर द्रवहु उमावर, दारुन विपति हरन करुनाकर ।
वेद पुरान कहत उदार हर, हमरि बेर कस भयेहु कृपिनतर ।।
कवनि भगति कीन्ही गुननिधि द्विज, होइ प्रसन्न दींन्हेहु सिव पद निज ।
जो गति अगम महामुनि गावहिं, तव पुर कीट पतंगहु पावहिं ।
देहु काम-रिपु ! राम-चरन-रति । तुलसीदास-प्रभु ! हरहु भेद-मति ।।

—विनय पत्रिका, पद संख्या-७

(२) जाऊं कहां तजि चरन तिहारे, हे जिनवर मेरे प्रान अधारे ।
तुम्हरो विरद विदित संसारे, अशरन शरन हरन भव भारे ।।

—वृन्दावन विलासः पृ० ४७

जाऊं कहां तजि चरन तुम्हारे
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे ।

—विनय पत्रिका : पद संख्या १०१

(३) ऐसी तोहि न चाहिए, जिनराज पियारे ।
मो दुख द्वन्द्व निकंद में, क्यों बार किय रे ।।

—वृन्दावन विलास: पृ० ५२

ऐसी तोहि न बूझिये हनुमान हठीले ।
साहेब कहूं न राम से तोसे न उसीले ।।

—विनय पत्रिकाः पद संख्या ३२

(४) दीन को दयाल देव दूसरो न कोई ।
तुम सरवज्ञ उदार दयानिधि, तुमहीतें हित होई ।।

—वृन्दावन विलास : पृ० ४७

देव ! दूसरो कौन दीन को दयालु ।
सील निधान सुजान-सिरोमनि, सरनागत-प्रिय प्रनत-पालु ।।

—विनय पत्रिका : पद संख्या १५४

काव्य-कला

कवि वृन्दावन अनुभूति में जितना सच्चा है अभिव्यक्ति में उतना ही खरा। वह चमत्कारवादी नहीं है। काव्य में जो कल्पना सौन्दर्य और सरसता का पुट है वह शास्त्रीय रूढ़िबद्धता का प्रतिफल न होकर कवि की सहानुभूति का परिणाम सादृश्यमूलक अलंकारों का

प्रयोग भावों को मधुर से मधुरतर और स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने के लिए किया गया है। जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए कहा गया है कि वे रोग रूपी महसर्प के लिए गरुड़, दारिद्र रूपी हाथी के लिए सिंह, संकट रूपी कानन के लिए कृशानु और विघ्न रूपी महातम के लिए सूर्य है—

रोग महोरग के विनतासुत, दारिद-कुंजर-केहरि नामो।
संकट कानन भानन को, हो कृशानु प्रधान जिनेश्वर स्वामी॥
विघ्न महातम को तरिनीपति, हो तुम श्रीपति कीरतिधामी।
भो जिननाथ गहो मम हाथ, निरन्तर द्यो सुख अंतरजामी॥५५

—वृन्दावन विलास : पृ० ३५

'पद्मावती स्तोत्र' में पद्मावती देवी के सौन्दर्य का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। उसके मुखचन्द को देखकर चन्द्रमा स्तम्भित हो गया है और रंभा अचम्भित—

मुखचंद को अमंद देख चंद हू थंभा।
छवि हेर हार हो रहा रंभा को अचंभा॥ वृ० वि० पृ० २३

जिनेन्द्र के नेत्रों को ६ उपमाएं दी गई है। प्रत्येक उपमा के क्रमशः ५-५ विशेषण दिये है जिनसे कवि के सूक्ष्म ज्ञान और दीर्घ अनुभव का पता चलता है। उदाहरण के लिए नेत्रों को कमल की दूसरी उपमा देते समय कहा गया है कि वे सदल, (पत्र सहित) विकसित, (फूले हुए) दिवस के, (दिन के) सरज (सरोवर के) और मलयदेश के कमल के समान है। यही क्रम अन्य पांच उपमाओं में भी रखा गया है।[1]

कवि छन्द शास्त्र का पण्डित है। सभी प्रकार के छन्दों में कविता करना उसके लिए सहज-सरल है। 'छन्दशतक' में १०० छन्दों के सलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। निम्न लिखित उदाहरण में मोदक छन्द का लक्षण और नाम भी आ गया है तथा स्वर्ग प्राप्ति के साधना का उल्लेख भी हो गया है।

ऽ।। ऽ। ।ऽ।। ऽ।। (चार भगण)
भा ग न चा र पदा र थ पा व त।
दर्शन ज्ञान व्रतौ पत भावत॥
सो निहचै विवहार विनोदक।
स्वर्गपवर्ग लहै फल मोदक॥ वृ० वि० पृ० ७८

---

१. मीन कमल मद (?) धनद (?) अमिय अंतकु (?) छबि छज्जै।
जुगल सदल अति अरुन, सघन उज्ज्वल मय सज्जै॥
हुलसित विकसित समद, दानि नाकी (?) अति क्रूरे।
केलि दिवस शुचि अति उदार, पोषक अरि चूरे॥
सम सरज नींत चितचित दे, वृन्द भिषृ अनशस्त्रधर।
जल मलय महत अकहत अकृत, देव दृष्टि दुख सृष्टि हर॥
—वृन्दावन विलास : पृ० ७०-७१

विभिन्न राग-रागनियों—माधवी, कजरी, मलार, होली, खेमठा, जंतबा में गा गाकर कवि ने आध्यात्मिक पदों की रचना की है। छन्द की दृष्टि से लय और गति में कहीं दरार नहीं पड़ पाई है न कहीं काव्यधारा अवरुद्ध हुई है।

कवि का भाषा पर सहज अधिकार है। वह साहित्यिक गुणों से अलंकृत है। उसमें बीसवीं शती की खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। वह ब्रजभाषा और बनारसी बोली[1] से भी संपृक्त है। भावानुकूल शब्द-चयन आनुप्रासिकता, और प्रवाह में कवि को विशेष सफलता मिली है। शब्द दौड़ते से प्रतीत होते है—

जो आपको त्रिकाल लाल चाल सों ध्यावै।
विकराल भूमिपाल उसे भाल झुकावै॥
जो प्रीतसों परतीतरूप रीत बढावें।
सो रिद्धि सिद्धि वृद्धि नवों निद्धि को पावै॥

रोचकता उत्पन्न करने के लिए तथा हृदय पर प्रभाव डालने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग प्रायः किया जाता है। कवि वृन्दावन ने यथावसर इनका उपयोग किया ही है पर अलग से कुछ लोकोक्तियों को आधार बनाकर ही भगवान की स्तुति की हैं। यहां ऐसे दो छन्द उद्धृत किये जाते हैं—

(१) हे शिवतियवर[2] जिनवर तुम पद,-पकंजमहँ कमला को वास।
विघन विनायक सब सुखदायक, विशद सुजस अस रह्यो प्रकाश॥
सो पद सुधा सरोवर तजि, जो-चाहत हरन ओस जल प्यास।
तास आश अनमास अफल ज्यों दण्डा ले कूटै आकाश॥

(२) दुखहारन सुखकारन प्रभु सों, प्रीति न करै हिये हित चाह।
आमिक भाव विवश निशिवासर, भजै कुदेव कुग्रंथ कुराह॥
बोय बंबूल शूल तरुसों शठ, आम चखन की राखत चाह।
ताकी आश अफल यों जानों, "जैसे बांझ पूत को व्याह॥"

अन्त में निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन भक्त कवियों मे वृन्दावन का शीर्ष स्थान है। उसने अपनी उदार काव्य-चेतना मे जैन भक्ति काव्य-सरिता को वह स्वच्छता प्रदान की कि जिसके प्रभाव में समस्त साम्प्रदायिक वातावरण बह गया।

---

१. तुम त्रिभुवनपति तारतरन हो,
हमरी खबरिया किमि विसरावल हो जी।
हमहिं शरन तुव चरन कमल की हो,
करहु कृपा वहु दुखपावल हो जी॥ वृ० वि०, पृ० ४९

२. शिव—मोक्ष।

महावीर जयन्ती के आलोक में

'जैनों से स्वस्थ चिन्तन की अपेक्षा'

सागरमल जैन

निःसन्देह जैन धर्म के सिद्धांत बहुत ही ऊँचे हैं, उदार हैं, और उनमें आज भी जन जन व्यापी बनने की क्षमता विद्यमान है। जैन धर्म के अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद और अनेकान्तवाद की उपयोगिता जितनी ढाई हजार वर्ष पूर्व थी, उतनी ही आवश्यकता और उपयोगिता आज के युग में भी है। किन्तु उनका स्वयं जैनों के जीवन में कितना क्रियात्मक रूप रहा है, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है।

जैन चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, स्थानकवासी हो या तेरापन्थी, अथवा अन्य किसी शाखा-उपशाखा में विभक्त हो, पर सबको समान रूप से भगवान् महावीर के अनुयायी होने का गौरव है। जिस महामानव ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अध्यात्मवाद के क्षेत्र में विचार क्रांति और आचार-क्रांति का सफल नेतृत्व किया था, हिंसा और शोषण के विरुद्ध अहिंसा और अपरिग्रह की आवाज बुलन्द की थी, अन्धविश्वास, हिंसा की क्रूर चक्की में पिसे जाने वाले मूक जीवों को अभय सन्देश दिया था, जातिवाद से 'त्राहि माम्!' करने वाले शूद्रों को समानता का पाठ पढाया था, एकान्तवाद के पक्षपाती धर्म-सम्प्रदायों को अनेकान्तवाद के आलोक से अनाग्रही बनाया था, बाहरी क्रिया-काण्डो में उलझने वाले दिशा-शून्य साधकों को "तिन्नाणं तारयाणं" के माध्यम से जनकल्याण-हेतु प्रेरित किया था, उस महाश्रमण के हम सब चिर ऋणी हैं।

यद्यपि साधना के उत्कृष्ट माध्यम स्तर के कारण, कुछ प्रचारात्मक भूमिका की उपेक्षा के कारण और कुछ हमारी ही आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण जैन धर्म बौद्ध-धर्म की तरह व्यापक नहीं बन सका, किन्तु महावीर और उनके श्रमण वर्ग का बुद्ध और उनके अनुयायियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था; यह बौद्ध ग्रन्थों और इतिहासकारों के नवीनतम अन्वेषणों के आधार पर कहा जा सकता है।

आज जनतन्त्र का युग है। जहां ४६ अल्पसंख्यकों के भाग्य का निर्णय ५१ बहुसंख्यकों हाथ में रहता हैं, वहां किसी भी धर्मसंस्था के अनुगामियों की जन संख्या का प्रश्न अपने आप महत्वपूर्ण बन जाता है। यद्यपि साधना की दृष्टि से अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक होने का प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता, यह कह कर जैन आत्म-तोष की सांस ले सकते हैं। किन्तु आत्म-निरीक्षण और परीक्षण से उभरने वाले प्रश्नों की उपेक्षा नई पीढी के लिए संभव नहीं है।

निःसन्देह जैन धर्म के सिद्धांत बहुत ऊँचे हैं, उदार हैं और उनमें आज भी जन-जन-व्यापी बनने की क्षमता विद्यमान हैं। जैन धर्म के अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद और अनेकान्तवाद की उपयोगिता जितनी ढाई हजार वर्ष पूर्व थी, उतनी ही आवश्यकता और उपयोगिता आज के

युग में भी है। किन्तु उनका स्वयं जैनों के जीवन में कितना क्रियात्मक रूप रहा है, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। अवश्य ही स्थूल या औपचारिक अहिंसा का प्राबल्य औरों की अपेक्षा जैनों में अधिक रहा है, किन्तु सूक्ष्म, वैचारिक व मानसिक-अहिंसा का अभाव बहुत ही अखरने वाला है। कपट, कलह, दुराग्रह, घृणा, वैमनस्य आदि दुष्प्रवृत्तियों में जैन कहां और किनसे पीछे हैं? सत्य का आग्रह, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद की सजीव साधना के बिना अहिंसा का तेजोरूप कहां निखरने वाला है?

आज जैन अधिकतर व्यापारी वर्ग से सम्बन्धित है और व्यापारियों ने धन कुबेर बनने के लिए शोषण-प्रधान तरीकों से दाव-पेंच लड़ाने की व तिकड़म भिड़ाने की आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त की है। आज कल व्यापारी वर्ग की तुलना योरोप की यहूदी जाति से की जाती है, जिसका धन्धा अतीत में केवल पैसा बटोरना ही रहा है। यह कैसी विडम्बना है कि जैन समाज के सहस्राब्दियों से गीत तो अपरिग्रह के गाये जाते हैं और पूजा परिग्रहवाद की पग पग पर की जाती है। सर्वोदयी नेता आचार्य विनोबा भावे ने "व्यापारियों! करुणा का राज्य कायम करें" शीर्षक लेख में बहुत ही मार्मिक बात कही है। उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—
"बिहार में मैं एक जगह जैन–मन्दिर देखने गया। वहां महावीर स्वामी की मूर्ति थी। जेल में जैसे एक कोट के बाद दूसरा कोट रहता है, उसके अनेक दरवाजे रहते हैं वैसे ही कई कोट और दरवाजे लांघ कर मूर्ति के दर्शन के लिए जाना पड़ा। आखिर हमें वहां उपस्थित किया गया, जहां भगवान महावीर की नग्न मूर्ति खड़ी थी। जिन्होंने शीतोष्णादि की रक्षा के लिए वस्त्र पहनना भी उचित नहीं माना, ऐसे महापुरुष के दर्शन के लिए जब हमें ले जाया गया तो वहां द्वार बंद थे और संतरी खड़े थे। जो मुक्तात्मा सारे बिहार में और जंगल-जंगल में निःसंकोच घूमा करते थे, उन्हें इस तरह कैद में क्यों रखना पड़ा? इसलिए कि अन्दर के हिस्से में सारा शृंगार स्वर्णमय था। भगवान महावीर स्वर्ण-परिग्रह को पसंद तो नहीं करते, उनके शिष्य उनकी करुणा के कायल थे, लेकिन वे स्वर्ण की प्रतिष्ठा छोड़ नहीं सकते थे। क्योंकि वे मानते थे कि दुनियां में स्वर्ण का साम्राज्य है। आज दुनियां की सबसे बड़ी ताकत अमेरिका मानी जाती है, उस देश में दुनियां का आधा स्वर्ण है। यानी हम महावीर भी चाहते हैं और स्वर्ण भी चाहते हैं। दोनों में हमारी एक सी निष्ठा है। दोनों का विरोध हम देख नहीं सकते। इसीलिए वहां बन्दूक वाले को खड़ा करना पड़ता है। हमने महावीर की मूर्ति के दर्शन किये तो ऐसा लगा कि मूर्ति की आंखों से आंसू बहते हैं। हम ज्यादा देर तक वहां खड़े न रह सके। अत्यन्त खिन्न होकर हम लौट गये थे। महापुरुष के दर्शन के लिए गये और दर्शन हुआ वहां अपने दुर्दैव का।" (भूदान यज्ञ २०–४–५६)।

साधारणतया व्यक्ति अपने आलोचक को शत्रु की दृष्टि से देखता है और प्रशंसक को मित्र की दृष्टि से। यह भी मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति की स्वतः प्रवृत्ति अपनी त्रुटियों को देखने की नहीं होती। इसी से आत्म प्रशंसा में उसका असीम आकर्षण होता है और प्रशंसक का सहयोग पाकर तो और भी वह पूर्णता के अन्धविश्वास का शीघ्रता से शिकार हो जाता है। इसीलिए वस्तु स्थिति यह है कि आलोचक हितैषियों का संपादन करता है और प्रशंसक हितावरोधक परम्परा का प्रतिनिधित्व। आचार्य विनोबा भावे की उपरोक्त आलोचना भी उसी आलोक में द्रष्टव्य है। सत्य भले ही कडुवा लगता हो, किन्तु उसका महत्व तो सर्वोपरि है ही।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की मूलात्मा या मूल भित्ति माना गया है। जिस समन्वय-प्रधान दृष्टि ने संसार के वादों और धर्मों के समक्ष अभिन्नता मूलक समाधान प्रस्तुत किया था, उसी समन्वय-प्रधान दृष्टि के धनी जैन अपनी सांप्रदायिक ग्रुत्थियों को सुलझाने में असफल रहे हैं। यह सही है कि जैनों में कुछ विचार मूलक और कुछ आचार मूलक मतभेद है और आज विचार स्वातंत्र्य के युग में तो मतभेदों के लिए अवकाश भी है। किन्तु बहुत से ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिनके लिए कभी किसी के साथ मतभेद रहा ही नहीं। यह हमारी दृष्टि पर निर्भर है कि हम भेद-प्रधान तत्त्वों को अधिक तूल देते हैं या अभेद-प्रधान तथ्यों को प्रश्रय देकर समन्वयवाद का मार्ग निष्कंटक बनाते हैं।

अतीत को छोड़िये। वर्तमान युग अणु-युग कहलाता है और अब तो हमारा उपग्रह-युग में भी प्रवेश हो गया है। आप चाहे उपकृत होइये या अनुपकृत, किन्तु आज की दुनियां बहुत छोटी हो गई हैं, विज्ञान के वामन-अवतार ने अपने दो ही डग में स्थल का विशालतम भूभाग और जल की अगाध राशि नाप ली है और अब उसका तीसरा चरण चन्द्रलोक की यात्रा के नाम पर अनन्त आकाश की ओर बढ़ रहा है। बीसवीं शताब्दी के लिए जातिवाद व प्रान्तवाद अर्थहीन है और राष्ट्रवाद भी आकर्षण शून्य बनता जा रहा है। फिर मृत प्राय संप्रदायवाद में ही कब तक चैतन्य रह सकता है। बुद्धि जीवी वर्ग के लिए साम्प्रदायिक मोर्चा-बन्दी का आज कोई मूल्य नहीं रह गया है।

भूतकाल में अनेकों धर्म साम्प्रदायिक झगड़ों के विनाशकारी परिणाम भोग चुके हैं। स्वयं जैन भी उससे कहां बचे हैं। इतिहास के पन्नों को उलटिये। जहां ४०० वर्ष पूर्व सम्राट अकबर के समय १५००००००० जैनों की संख्या थी, वहां आज कल १५, २० लाख ही जैन रह गये हैं। इस हिसाब से आने वाले ५०० वर्षों में कितने जैन बचेंगे, यह कल्पना ही सिहरन पैदा करने वाली है। अस्तु महावीर जयन्ती के पुण्य प्रसंग पर हम सब स्वस्थ चिन्तन-मनन करें और तदनुकूल अनुशीलन भी। यही युगकालीन अपेक्षा है।

देखो दूर क्षितिज में—

(र० 'सुधेश' जैन नागौद)

देखो, दूर क्षितिज में बैठी शान्ति रूठ कर,
आज सभी हम उसे मनाने चलें तभी तो,
वीर जन्म का पर्व मनाना सार्थक होगा।
अपनी हठ पर तने विश्व के कर्णधार हैं
आज सभी हम उन्हें झुकाने चलें तभी तो,
महावीर को शीश झुकाना सार्थक होगा॥

देखो, शस्य-श्यामला धरती माँ की छाती—
पर रणचण्डी आज बिछाती जाती अलकें।
अतः कल्पना कर भविष्य के करुण दृश्य की,
विश्व शान्ति की देवी के दोनों दृग छलके॥

क्योंकि आज मानव की मानवता प्रसुप्त है,
अतः सभी हम उसे जगाने चलें तभी तो,
मन्दिर में जा अलख जगाना सार्थक होगा।
देखो दूर क्षितिज में बैठी शान्ति रूठ कर,
आज सभी हम उसे मनाने चलें तभी तो,
वीर-जन्म का पर्व मनाना सार्थक होगा॥१॥

अकर्मण्य यदि कहीं रहे हम और उठी ही,
किसी ओर से घोर आणविक रण की आँधी।
तो वह किसी फरिश्ते अथवा देवदूत की,
दिव्य भुजाओं से भी जा न सकेगी बांधी॥

कारण, गली गली में शूल बिछे हैं अतः आज वे,
शूल उठाकर फूल बिछाने चलें तभी तो,
वेदी पर ये फूल बिछाना सार्थक होगा।

देखो, दूर क्षितिज में बैठी शान्ति रूठकर,
आज सभी हम उसे मनाने चलें तभी तो,
वीर-जन्म का पर्व मनाना सार्थक होगा ॥२॥

आज शान्ति के प्यासे जग को मात्र अहिंसा—
के समर्थकों से ही तो है थोड़ी आशा।
अतः न उनने ही यदि दायित्व निभाया तो फिर,
दिखलायेगा सृष्टि-मञ्च पर प्रलय तमाशा ॥

क्योंकि बुझा सा विश्व प्रेम का दीपक है अब,
अतः इसे हम पुनः जलाने चलें तभी तो,
प्रभु के आगे दीप जलाना सार्थक होगा।
देखो, दूर क्षितिज में बैठी शान्ति रूठ कर,
आज सभी हम उसे मनाने चलें तभी तो,
वीर-जन्म का पर्व मनाना सार्थक होगा ॥३॥

पुण्य तत्त्व

कैलाशचन्द्र शास्त्री

[समय सार में पुण्य–पाप का कथन करते हुए आचार्य कुन्द कुन्द ने लिखा है कि अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है। किन्तु जो संसार में प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है ॥१४५॥ जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है और लोहे की बेड़ी भी उसे बांधती है। इसी तरह शुभ और अशुभ कर्म भी जीव को बांधते हैं ॥१४६॥ —सम्पादक]

आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने समयसार में नौ तत्त्वों का निरूपण किया है। वे नौ तत्त्व[1] हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष। किन्तु उनके शिष्य सूत्रकार उमा स्वामी ने अपने तत्वार्थ[2] सूत्र में सात ही तत्त्वों का निर्देश किया है तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम व्याख्याकार पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि[3] वृत्ति में यह शंका उठाई है कि अन्य आचार्यों ने नौ तत्त्व कहे हैं अतः पुण्य और पाप तत्त्वों को भी गिनाना चाहिये। और उसका यह समाधान किया है कि पुण्य और पाप तत्त्वों का अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध तत्त्वों में हो जाता है। क्यों कि आस्रव और बन्ध या तो पुण्य रूप होते हैं या पाप रूप होते हैं। [यह क्योंकि युक्ति अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक[4] में दी है।] और आस्रव तथा बन्ध को संसार का प्रधान कारण कहा[5] है।

समय सार में पुण्य–पाप का कथन करते हुए आचार्य कुन्द कुन्द ने लिखा है कि अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है। किन्तु जो संसार में प्रवेश कराता है वह सुशील कैसे हो सकता है ॥१४५॥ जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है और लोहे की बेड़ी भी उसे बांधती है। इसी तरह शुभ और अशुभ कर्म भी जीव को बांधते हैं ॥१४६॥

गाथा १४५ की व्याख्या में अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—किन्हीं का ऐसा पक्ष है कि कुछ कर्म शुभ हैं और कुछ कर्म अशुभ हैं। क्योंकि शुभ कर्म जीव के शुभ परिणामों के निमित्त

---

१. 'भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुण्णयावं च।
आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥—समयसार।

२. 'जीवा-जीवा स्रवबन्ध संवर निजरा मोक्षा स्तत्त्वम् ।।—१।४।

३. 'इह पुण्य पाप ग्रहणं च कर्तव्यं नव पदार्था इत्यन्यैरव्युक्तत्वात्।
न कर्तव्यं, तयोरास्रवे बन्धे चान्तर्भावात् ॥

४. 'यतः आस्रवो बन्धश्च पुण्यपापात्मकः— पृ० २७।

५. 'संसारस्य प्रधान हेतु रास्रवोबन्धश्च।'—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक १।४।

से होता है और अशुभ कर्म जीव के अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है अतः दोनों के कारण भिन्न हैं। शुभ कर्म शुभ पुद्गल का परिणाम है और अशुभ कर्म अशुभ पुद्गल का परिणाम है। अतः दोनों में स्वभाव भेद है। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है अतः दोनों में अनुभव भेद है। शुभ मोक्ष मार्ग के आश्रित है और अशुभ बन्ध मार्ग के आश्रित है अतः दोनों का आश्रय भी भिन्न है। इस प्रकार कारण भेद, स्वभाव भेद, अनुभव भेद, और आश्रय भेद के होने से शुभ और अशुभ कर्म में भेद है। किन्तु ऐसा पक्ष ठीक नहीं है—क्योंकि शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम दोनों ही अज्ञानमय होने से एक हैं। अतः उनके एक होने से कारण भेद नहीं है। शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक हैं और उनके एक होने से दोनों में स्वभाव भेद नहीं है। शुभ और अशुभ कर्मों का फल केवल पुद्गलमय होने से एक है। और उनके एक होने से दोनों में अनुभव भेद नहीं है। शुभ मोक्ष मार्ग केवल जीवमय है और अशुभ बन्ध मार्ग केवल पुद्गलमय है। अतः दोनों भिन्न हैं। दोनों के भिन्न होते हुए भी शुभ और अशुभ कर्म केवल पुद्गलमय बन्ध मार्ग के आश्रित होने से एक हैं।

इन युक्तियों से अमृतचन्द्र जी ने भगवान कुन्दकुन्द के कथन की पुष्टि की है। अब जरा प्रवचन सार की ओर आइये—प्रवचन की ११ वीं गाथा में धर्मात्मा के दो रूप बतलाये हैं—एक शुद्धोपयोगी धर्मात्मा और एक शुभोपयोगी धर्मात्मा। शुद्धोपयोग का फल मोक्ष सुख है और शुभोपयोग का फल स्वर्ग सुख है। इसीसे टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने शुद्धोपयोग को उपादेय और शुभोपयोग को हेय कहा है। गाथा ६९ में कहा है कि देव और गुरु की पूजा में दान में, शील में और उपवास वगैरह में जो अनुरक्त है वह जीव शुभोपयोगी है और शुभोपयोग से उपार्जित पुण्य का फल स्वर्ग सुख है। किन्तु स्वर्ग के देवताओं को भी स्वाभाविक सुख नहीं है। उन्हें भी विषयों की तृष्णा सताती रहती है। इसीसे आगे गाथा ७१ की टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—यदि शुभोपयोग से उत्पन्न हुई पुण्य सम्पत्ति से विशिष्ट देवता वगैरह और अशुभोपयोग से उत्पन्न हुए पाप से लिप्त नारकी वगैरह, दोनों ही स्वाभाविक सुख के न होने से केवल दुःख ही भोगते हैं तो परमार्थ से शुभोपयोग और अशुभोपयोग की भेद व्यवस्था नहीं ठहरती।

पहले पुण्य और पाप के भेद पर प्रहार किया और फिर पुण्य और पाप के कारण शुभोपयोग और अशुभोपयोग पर प्रहार किया। और गाथा ७७ में तो यहां तक लिख दिया जो ऐसा नहीं मानता कि पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, वह मोह से अभिभूत हुआ अनन्त संसार में भ्रमण करता है।

अतः पाप की तरह पुण्य भी हेय है और अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग भी हेय है तथा एकमात्र मोक्ष सुख और उसका कारण शुद्धोपयोग ही उपादेय है यह सिद्धान्त पक्ष है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कोई पापारम्भ को छोड़े बिना और शुभोपयोग को अपनाये बिना शुद्धोपयोग की भूमिका में पहुंच सकता है ? जो ऐसा मानता है कि पापारम्भ को छोड़े बिना और शुभोपयोग को अपनाये बिना भी शुद्धोपयोग हो सकता है वह निश्चय ही अनन्त संसारी है। शुद्धोपयोग की भूमिका में पहुँचने के लिए पापारम्भ को छोड़कर शुभोपयोग अपनाना पड़ता ही है। किन्तु जो शुभोपयोग की भूमिका में पहुँचकर अपने को कृत कृत्य मान

बैठे और उससे उपार्जित पुण्य में ही रम जाये तो उसका उद्धार नहीं हो सकता । उसी के लिए उक्त कथन किया है कि जो पुण्य पाप में भेद नहीं है ऐसा नहीं मानता वह संसार भ्रमण करता है । इसी से कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है—

चत्ता पावारंभ समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ।।७९।।

पापारम्भ को छोड़कर और शुभचर्या में उद्यत होकर यदि मोह आदि को नहीं छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता । अतः कुन्दकुन्द का समस्त उक्त कथन उन मुमुक्षु-जनों के लिए है जो पापारम्भ को छोड़ कर शुभचर्या में रत हैं । किन्तु जो अभी पापारम्भ को छोड़कर शुभचर्या में लगे भी नहीं हैं उनके लिये तो उक्त कथन अपथ्य ही है । ऐसे लोगों के लिए ही पूज्यपाद स्वामी ने अपने इष्टोपदेश में लिखा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।।३।।

व्रत धारण करने से होने वाले पुण्य से देव पद की प्राप्ति उत्तम है, और हिंसा आदि रूप परिणामों से होने वाले पाप से नारक पद की प्राप्ति उत्तम नहीं है; जैसे किसी की मार्ग में प्रतीक्षा करने वाले दो पुरुषों में से एक यदि छाया में खड़ा हो तो उन दोनों में महान् अन्तर है ।

आशय यह है कि प्रतीक्षा काल में छाया में स्थित मनुष्य सुख पूर्वक रहता है और धूप में स्थित मनुष्य कष्ट में । वैसे ही व्रतादि का पालन करने वाला मुक्ति प्राप्त होने तक स्वर्गादि में सुख पूर्वक जीवन बिताता है और अव्रती नरकादि में दुःख भोगता है ।

किन्तु सांसारिक सुख में ऐसा मीठा जहर मिला होता है कि वह असावधान मनुष्य को धार्मिक वृत्ति के मूल उद्देश्य से ही च्युत कर देता है । और फिर वह मोक्ष की बात भूल कर सांसारिक सुख में ही मग्न हो जाता है । इसी से परमात्म प्रकाश में लिखा है—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ ।।१८७।।

पुण्य से धन मिलता है । धन से मद होता है । मद से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । बुद्धि भ्रष्ट होने से पाप में फंस जाता है । अतः ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए । तब क्या पुण्य करना ही नहीं चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर भाव संग्रह में दिया है । लिखा है—

गार्हस्थिक आरम्भ में फंसा हुआ भी कोई पुरुष यदि यह कहता है कि हमें उस पुण्य से क्या प्रयोजन, जो संसार में डुबाता है ।।३८६।। तो उसको यह उत्तर है—

जिनवर भगवान ने कहा है कि मैथुन करने वाला गृहस्थ नौ लाख सूक्ष्म जीवों को मारता है ।।३९०।। घर में रहकर सैंकड़ों आरम्भ करने वाले और आर्त रौद्र में प्रवृत्ति करने वाले गृहस्थ के अशुभ कर्मों का आस्रव होता है ।।३९१।। अतः जब तक घर नहीं छूटता तब तक

यह सब पाप भी नहीं छूटता। तब पाप को न छोड़ते हुए पुण्य के कारणों को क्यों छोड़ते हो। उन्हें भी मत छोड़ो ।।३६३।। जिस पुरुष ने प्रमाद को दूर करके विषय और कषायों में संलग्न अपने चित्त को निगृहीत कर लिया है—वह पुरुष पुण्य के कारणों को छोड़ सकता है ।।३६५।। जिसने घरबार को छोड़ कर जिनलिंग धारण कर लिया है और जो अप्रमत्त अवस्था में स्थित है वह पुरुष पुण्य के कारणों को सदा के लिए छोड़ सकता है ।।३६६।। किन्तु जो अशुभ प्रवृत्ति के कारण असि मसी आदि षट्कर्मों में सदा लगा रहता है और बन्ध के भय से पुण्य के कारणों से बचता है वह जिन भगवान के द्वारा कहे हुए पदार्थों के स्वरूप को ही नहीं जानता और सम्यग्ज्ञानियों के बीच में अपने को हंसी का पात्र बनाता है ।।३६७–३६८।।

असल में पुण्य–पुण्य में भी अन्तर है। मिथ्या दृष्टि का पुण्य भी संसार का ही कारण है किन्तु सम्यग्दृष्टि का तो पुण्य भी मोक्ष का कारण होता है यदि वह निदानमूलक न हो। यथा—

सम्मादिट्ठी पुण्णं न होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णियाणं ण सो कुणई ।।४०४।।

अतः सम्यग्दृष्टि बनकर पुण्य उपार्जित करो तो उस पुण्य से प्राप्त विभव तुम्हारी बुद्धि को भ्रष्ट नहीं करेगा क्योंकि आत्मा में सम्यग्दर्शन का दिव्य प्रकाश यदि फैला हुआ है तो उसके होते हुए तो विष भी अमृत बन जाता है।

गणिपिटक व त्रिपिटक में शब्द-साम्य और उक्ति-साम्य

मुनिश्री नगराजजी

भगवान श्री महावीर की वाणी का और उनके जीवन वृत्तों का शास्त्र रूप संकलन द्वादशांगी, आगम व गणिपिटक कहा जाता है और भगवान बुद्ध से सम्बन्धित शास्त्रीय संकलन को त्रिपिटक कहा जाता है। दोनों का अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होने लगता है कि हम किसी एक ही क्षेत्र, काल और संस्कृति में विहार कर रहे हैं। एतद्विषयक समता यहीं से प्रारम्भ हो जाती है कि शास्त्र के अर्थ में पिटक शब्द दोनों ही परम्पराओं ने अपनाया है। वह ज्ञान मंजूषा गणी तथा आचार्य के लिए है, इसीलिए उसे गणिपिटक कहा गया। गणी शब्द का प्रयोग महावीर, बुद्ध आदि तात्कालिक धर्म प्रवर्तकों के अर्थ में भी बौद्ध परम्परा में मिलता है।[1] हो सकता है, संघ नायक भगवान् महावीर से उद्भूत वाणी के अर्थ में ही जैन परम्परा ने गणिपिटक को अपनाया हो। दोनों प्रकार के पिटकों में अनेकानेक शब्दों का प्रयोग समान रूप से मिलता है। बहुत सारे शब्द तो ऐसे हैं, जिनका प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में देखा जाता है। यह शब्द-समता इस बात को असाधारण रूप से पुष्ट कर देती है कि दोनों परम्पराओं का ज्ञान-प्रवाह कभी न कभी किसी एक ही स्रोत से अवश्य सम्बन्धित रहा है। नीचे उदाहरण मात्र के लिए कुछ शब्द साम्य प्रस्तुत किया जा रहा है :

निग्गंठ—इस शब्द का अर्थ है—निर्ग्रन्थ। तात्पर्य है—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। त्रिपिटकों में जैन सम्प्रदाय को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय, और भगवान् श्री महावीर को निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र स्थान-स्थान पर कहा गया है। उक्त अर्थों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग गणिपिटक में भी ज्यों का त्यों देखा जाता है। भगवान श्री महावीर के प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन भी कहा गया है।

पुग्गल—पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता है। जैन परम्परा में इसका मुख्य अर्थ रूपी जड़ पदार्थ है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल शब्द का अर्थ है—आत्मा, जीव।[2] जैनागमों में भी जीव तत्त्व के अर्थ में पुद्गल शब्द आया है।[3] गौतम स्वामी के एक प्रश्न पर भगवान् श्री महावीर ने भी जीव को पोग्गल कहा है।[4] अर्हत् और बुद्ध—वर्तमान में अर्हत् शब्द जैन परम्परा में और बुद्ध शब्द बौद्ध परम्परा में रूढ़ जैसा बन गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैनागमों में अर्हत् और बुद्ध अपने श्लाघ्य

---

१. संयुक्तनिकाय दहर सुत्त, (३-१-१), पृ० ६८; दीघनिकाय, सामञ्जफल सुत्त १-२; सुत्त निपात, सभीय सुक्त पृ० १०८ से ११० आदि।

२. मज्झिम निकाय, ११४

३. भगवती सूत्र शतक, २०-३-२

४. भगवती सूत्र शतक, ८-३-१०

पुरुषो के लिए अपनाए गए है और बौद्ध आगमो मे भी अपने श्लाघ्य पुरुषो के लिए। जैनागमो की प्रसिद्ध गाथा है—

"जेय बुद्धा अतिक्कन्ता,
जेय बुद्धा अरणागया।"[१]

बौद्ध परम्परा की सुविदित गाथा है—

ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहृ वदामि ते सदा॥

जैनागमो मे और भी अनेक स्थानो पर बुद्ध, सबुद्ध, सयबुद्ध आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है।

तित्थगराण सय स बुद्धाण।[२]
तिविहा बुद्धा–णाण बुद्धा, दसाम बुद्धा, चरित्तबुद्धा।[३]
समणेण! भगवया महावीरण आइगरेण तित्थगरेण सयसबुद्धेण।[४]
बुद्धेहि एव पवेदित।[५]
सखाई घम्म य वियागरति बुद्धा हुते अन्तकरा भवन्ति।[६]
एव करति सबुद्धा।[७]
बुद्ध पुत्तणियागट्ठी।[८]
सबुद्धप्पा य सव्वन्नू।[९]
ओहिनाण सुए बुद्धे।[१०]
बारसगविऊ बुद्धे।[११]
सबुद्धो सो तहि भगव।[१२]

---

१ सूत्र कृताग सूत्र, १-१-३६
२ राय पसेणइय, ५
३ स्थानाग सूत्र, ठा० ३
४. समवायाग सूत्र, २/२
५ आचारग सूत्र, ४/१/३४०
६ सूयगडाग सूत्र, १-१४-१८
७ उत्तरा० सूत्र, अ० १६, गा० ६७
८ उत्तरा० सूत्र, अ० १, गा० १
९ उत्तरा० सूत्र, अ० २३, गा० १
१० उत्तरा० सूत्र, अ० २३, गा० ३
११ उत्तरा० सूत्र, अ० २३, गा० ७
१२ उत्तरा० सूत्र, अ० २१, गा० १०

बौद्ध परम्परा में अर्हत् शब्द का प्रयोग इसी प्रकार पूज्य जनों के लिए किया गया है। स्वयं तथागत को स्थान स्थान पर अर्हत् सम्यक् संबुद्ध कहा गया है।[1] भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् पांच सौ भिक्षुओं की जो सभा होती है, वहां आनन्द को छोड़कर चार सौ निन्नाणवे भिक्षु अर्हत् बतलाये गये हैं। कार्य आरम्भ के अवसर तक आनन्द भी अर्हत् हो जाते हैं।[2] बौद्धागमों में बुद्ध और जैनागमों में अर्हत् शब्द के तो अगणित प्रयोग हैं ही।

थेरे—स्थविर शब्द का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं में वृद्ध या ज्येष्ठ के अर्थ में हुआ है। जैन परम्परा में ज्ञान, वय, दीक्षा-पर्याय आदि को लेकर अनेक भेद-प्रभेद हैं।

थेरे गणहरे गग्गे[3]
इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं[4]

बौद्ध परम्परा मे १२ वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ थेर या थेरी लगाया जाता है।

भन्ते—पूज्य और बड़ों को आमन्त्रित करने में भन्ते (भदन्त) शब्द दोनों ही परम्पराओं में एक है। "से केणट्ठेणंभंते", "से णूणं भन्ते", "नेरइयाणं भन्ते", "मेयंभन्ते", "सव्वं भन्ते"

माहु भंते[5]
पुच्छ भंते[6]
इच्छं निओइडं भन्ते[7]
थवथुइ मंगलेण भंते[8]
वायणाए णं भंते[9]
पढमं भंते[10]
दोच्चे भंते[11]

ये प्रयोग जैन आगमों के हैं। बौद्ध आगमों में भी भन्ते शब्द की अनहद बहुलता है।

---

१. दीघ निकाय, सामञ्यफल सुत्त, १-२
२. विनय पिटक पंच शतिका स्कन्धक
३. उत्तरा० सूत्र, अ० २७ गा० १
४. उत्तरा० सूत्र, अ० १६; दशवै०, अ० ६, उ० ४
५. भगवती सूत्र, ७/३/२०६
६. उत्तरा० सूत्र, अ० २०, गा० १५
७. उत्तरा० सूत्र, अ० २३, गा० २८
८. उत्तरा० सूत्र, अ० २६, गा० ६
९. उत्तरा० सूत्र, अ० २८, गा० १६
१०. उत्तरा० सूत्र, अ० २८, गा० १६
११. दशवै०, अ० ४
१२. दशवै० अ० ४

आउसो—समान या छोटे के लिए आउसो (आयुष्मान्) शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। भगवान् बुद्ध को भी "आयुस" गौतम कहकर सम्बोधित करते थे। गोशालक ने भी भगवान् महावीर को "आउसो कासवा" कहा है।[१]

श्रावक, उपासक, श्रमणोपासक—श्रावक शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार उसका अर्थ गृहस्थ उपासक है। बौद्ध परम्परा में इससे भिक्षु शिष्यों का बोध होता है।[२] उपासक और श्रमणोपासक शब्द अनुयायी गृहस्थ के लिए दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त है।

आस्रव और संवर—ये दोनों शब्द भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में एक ही अर्थ में मान्य दिखलाई पड़ते हैं।[३]

दीक्षित होने के अर्थ में एक वाक्य दोनों परम्पराओं में रूढ़ जैसा पाया गया है। जैनागमों में—"अगाराओ अनगारियं पव्वइत्तर"[४]

बौद्ध शास्त्रों में—"आगारस्मा अनगारियं पव्वज्जन्ति"[५]

सम्यग् दृष्टि, मिथ्या दृष्टि—ये दोनों शब्द भी एक ही अर्थ में दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही अपने-अपने अनुयायियों को सम्यग् दृष्टि और इतर मत वालों को मिथ्या दृष्टि कहते हैं।

उपोसत्थ—इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। दीघ निकाय में भगवान् बुद्ध ने जैनों के उपोसत्थ की आलोचना की है।

वेरमण—व्रत लेने के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में देखा जाता है।

तथागत—मुख्यतः यह शब्द बौद्ध परम्परा का है। जैनागमों में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।

> "कओ कआइ मेहावी उप्पज्जन्ति तहागया।
> तहागया उप्पडिक्कन्ता चक्खू लोगस्सनुत्तरा ॥[६]

विनय—विनय शब्द का दोनों परम्पराओं में महत्त्व है। बौद्ध परम्परा में समग्र आचार धर्म के विषय में ही विनय शब्द का प्रयोग है। विनय पिटक इसी बात का सूचक है।

---

१. भगवती सूत्र शतक, १५
२. मज्झिम निकाय, ३
३. जैनागम समवायांग सूत्र स० ५; बौद्ध शास्त्र मज्झिम निकाय २
४. भगवती सूत्र ११/१२/४३१
५. महावग्ग
६. सूत्रकृतांग सूत्र २।१५।१२०।६२५

जैनागमों में भी अनेकों अध्ययन विनय प्रधान हैं। दसवैकालिक सूत्र का नवम अध्ययन विनय समाधि नाम से है, उसकी प्रथम उक्ति है—'थंभाव कोहा व मयप्पा माया, गुरु समासे विणयं न सिक्खे।' उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम अध्ययन का नाम भी विनय श्रुत है और वहां यही कहा जाता है—विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेहमे।

वर्जित कथा—जैनागमों में स्त्री कथा, भत्त कथा, देश कथा, राज कथा[1] की वर्जना मिलती है। दीघ निकाय के ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल, इन दोनों प्रकरणों में ऐसी कथाओं को तिरच्छान कथा कहा है—तिरच्छान कथं, अनुयुत्तो विहरति से यथदं, राजकथं, चोर कथं, महामत्त कथं, सेना कथं, भय कथं, युद्ध कथं, अन्न कथं पान कथं।

त्रिशरण–चतुश्शरण—बौद्ध पिटकों में व परम्परा में तीन शरण बहुत ही महत्व-पूर्ण हैं, तो जैनागमों में व परम्परा में चार शरण अपना अनन्य स्थान रखते हैं। वे तीन व चार शरण क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

बुद्धं सरणं गच्छामि	अरिहन्ते सरणं पवज्जामि
संघं सरणं गच्छामि	सिद्धे सरणं पवज्जामि
धम्मं सरणं गच्छामि	साहू सरणं पवज्जामि
	केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

णमोत्थुणं—जैन आगमों का प्रसिद्ध स्तुति वाक्य है-"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स"। बौद्ध परम्परा का सूक्त है—"णमोत्थुणं समणस्स भगवओ सम्यग् संबुद्धस्स"।

नगर व देश—नालन्दा, राजगृह, कयंगला, श्रावस्ती आदि नगरों व अंग, मगध आदि देशों के नाम व वर्णन दोनों आगमों में समान रूप से मिलते हैं।

उक्ति-साम्य

जैनागम कहते हैं-व्यक्ति तीन उपकारक व्यक्तियों से उऋण नहीं होता, गुरु से, मालिक से और माता-पिता से।[2] वहां यह भी बताया गया है कि अमुक-अमुक प्रकार की पराकाष्ठा परक सेवाएं दे देने पर भी वह अनुऋण ही रहता है। लगभग यही उक्ति बौद्ध आगमों में मिलती है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! सौ वर्ष तक एक कन्धे पर माता को और एक कन्धे पर पिता को ढोये और सौ वर्ष तक ही वह उनके उबटन, मर्दन आदि करता रहे, उन्हें शीतोष्ण जल से स्नान कराता रहे, तो भी भिक्षुओ! न वह माता पिता का उपकारक होता है, न प्रत्युपकारक। यह इसलिए कि भिक्षुओं! माता-पिता का पुत्र पर बहुत उपकार होता है।[3] जैनागमों ने धार्मिक सहयोग को उऋण होने का आधार माना है।

१. पडिक्कमामि इत्थी कहाए, भत्त कहाए, देस कहाए राज कहाए
—आवश्यक सूत्र

२. ठाणांग सूत्र ठा० ३

३. अंगुत्तर निकाय

दो अरिहन्त—जैनागमों की सुदृढ़ मान्यता है—भरत आदि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! इस बात की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि एक ही विश्व में एक ही समय में दो अर्हत् सम्यग् संबुद्ध पैदा हों।[1]

स्त्री—अर्हत्, चक्रवर्ती, शक्र—जैनों की मान्यता है ही कि अर्हत्, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि स्त्री भाव में कभी नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! यह तनिक भी सम्भावना नहीं है कि स्त्री अर्हत्, चक्रवर्ती व शक्र हो।[2] श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार मल्लि स्त्री तीर्थंकर थी, पर यह कभी न होने वाला 'आश्चर्य' था।

स्थानाङ्ग और अंगुत्तर निकाय—जैन सूत्र स्थानांग के प्रकरण संख्या क्रम से चलते हैं। प्रथम में एक संख्या वाली बातों का वर्णन है तो यथाक्रम दशम में दश संख्या वाली बातों का। बौद्धागम अंगुत्तर निकाय में भी यही क्रम अपनाया गया है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन एक रोचक विषय बन सकता है।

---

१. अंगुत्तर निकाय

२. अंगुत्तर निकाय

राजस्थानी साहित्यकार—संघी दौलतराम

अनूपचन्द न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न'

[कवि के समय बूँदी के शासक गण राजस्थान के प्रमुख शासकों में से थे। उनकी वीरता प्रशंसनीय थी तथा मुगल बादशाह भी उनसे प्रभावित थे। रावराजा सुर्जन एवं रतन हाडा को पंच हजारी का मंसब प्राप्त था। बूँदी के शासकों की वीरता एवं शौर्य का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है। —सम्पादक]

राजस्थान की भूमि जिस प्रकार वीरों के लिये उर्वरा रही है उसी प्रकार साहित्यकारों के लिये भी। यहां अनेकों साहित्यकारों ने जन्म लेकर इसका नाम उज्जवल किया हैं। यदि वीरों ने अपनी जन्म भूमि की रक्षा के लिये अपने प्राणों को न्योछावर किया तो इन साहित्यकारों ने अपनी कृतियों के द्वारा जनता में जन्म भूमि की रक्षा के लिये अपूर्व योग एवं प्रेरणा दी थी। इन कवियों ने मातृ भूमि की रक्षा के लिये मर मिटने के अतिरिक्त जन साधारण को अपने जीवन को एक अच्छे नागरिक की दृष्टि से बिताने के साथ २ उन्हें अपने जीवन में संयम, त्याग एवं क्षमाशीलता को उतारने का उपदेश भी दिया है। ऐसे ही कवियों में संघी दौलतराम का नाम भी उल्लेखनीय है। वे अपने साहित्य के द्वारा जन-मानस में आदर्श जीवन बिताने का जीवन पर्यंत प्रयत्न करते रहे।

दौलतराम का दूसरा नाम दिलाराम जी था। ये बूंदी के रहने वाले थे तथा एक संपन्न जैन खंडेलवाल परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनका गोत्र पाटनी था। इनके प्रपिता का नाम साह धनपाल तथा पिता का नाम चतुर्भुज था। कवि के पूर्वज अपने बुद्धिबल एवं शासन दक्षता के लिये विख्यात थे तथा बूंदी आने से पहिले टोडारायसिंह रहा करते थे। बूंदी के नरेश रावरतन हाड़ा (वि. सं. १६६५–१६८८) ने जब इनकी योग्यता की प्रशंसा सुनी तो उन्होंने उनको अपने राज्य में आने का निमंत्रण दिया और उसी के अनुसार कवि के पूर्वज टोडारायसिंह छोड़कर बूंदी आकर रहने लगे। कवि ने अपने दिलाराम विलास में इसका निम्न-प्रकार वर्णन किया है।

वंस विपुल आदर सहित ल्याये रतन नरेस।
सो कवि कुल बंसावली वर्णन करत सुदेस ।।
सो वर्णन संक्षेप सों दस पीढी मध्य चारि।
टोडे प्रथम विचारि पुनि षट् बूंदी मध्य धारि ।।

कवि के समय बूंदी के शासक गण राजस्थान के प्रमुख शासकों में से थे। उनकी वीरता प्रशंसनीय थी तथा मुगल बादशाह भी उनसे प्रभावित थे। रावराजा सुर्जन एवं रतन हाडा को

पंच हजारी का मंसब प्राप्त था । बूंदी के शासकों की वीरता एवं शौर्य का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है ।

ससिवंस चौहाण हाडा कहाये कीयो राज बूंदी भवासे दहाम ।
भये भोज नामी बडे राव बंसी तनें रतन सांचे भते रतन अंसी ।
भये नाथ गोपी नटीकै विराजे भये छत्र सालै तिन्है राज साजे ।
लखै राजधानी सबै सत्रु कंपै चहू चक्र के चक्वै सास जंपै ।
भये तास के देवता राव भाऊ सबै देस में दक्षनी भो पुजाऊ ।
लह्यो भागतै पाट अनरूद्ध जाको, बढ्यो देस में राज आतंक तांको ।
भये बुद्ध ताके तिन्है राज साजा क्रिया छत्रधारी कीये राव राजा ।
सबै तास के राज में राजधानी लहै भोग देवा पुरी सुभिमानी ।

कवि का जन्म कब हुआ तथा उनकी शिक्षा दीक्षा किस प्रकार हुई इसका उनकी रचनाओं में तो कोई वर्णन नहीं मिलता किन्तु दिलराम विलास को उन्होंने सम्वत् १७६८ में विजया दशमी के दिन समाप्त किया था ।

सतरासै अठसठ समौ दसमी विजै कुमार ।
लगन महूरत बार सुभ भयो ग्रंथ तत सार ।

उस समय बूंदी पर राव राजा बुद्धसिंह (संवत् १७५२–१७६६) का शासन था । उस समय के बूंदी नगर का वर्णन कवि के निम्न शब्दों में देखिये ।

वन उपवन चहुं नन्दन से मधि ।
गिरमेर नदी गंग सम सोभहि बढावती ।
अतुल विलास में बसत सबै धनपति ।
धन से भौन भौन रंभा तिय गावती ।
महल विमान सभा सुर मधि राजै ।
राव बुद्ध हंद जिम जाके कितैछच्छि भावती ।
ग्रंथन में सुनियत नैननि को अभिलाष ।
पूजत लखै ते ऐसी बूंदी अमरावती ।।

कवि प्राकृत संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे । उनकी रचनाओं से अनुमान लगता है कि वे प्रतिभाशाली कवि थे । अब तक इनके व्रत विधान रासो, दिलाराम विलास एवं कितने ही पद प्राप्त हो चुके हैं । व्रत विधान रासो में कवि ने जैनों में किये जाने वाले १६१ व्रतों के नाम गिनाये हैं तथा उनके करने की विधि एवं कहीं कहीं पर तिथियां भी दी हैं । इसमें कुल २८१ पद्य हैं तथा १६१ व्रतों का वर्णन किया गया है । यह रचना सं० १७६७ में कवि ने समाप्त कर दी थी । इस सम्बन्ध में स्वयं कवि ने निम्न सूचना दी है ।

" अहो संवत सतरासै सत सठि लवलीन आसोज शुकल दसै परवीन ।
तो लगन महूरत शुभघरी वार गुरुवार नक्षतर जोग ।
तो महि ग्रंथ पूरण भयो भविय संबोधन यह उपयोग ।
तो वरत करो भवि जैन का ।। २८० ।।

अहो दोष सै इक्यासी जी छंद निवास आठ सै पचास लेखन संख्या तास ।
तो एक सो इकसठ ता मैं तप कहया दोलतिराम विविध वरणाय ।
भवि करि मन वच काय सौं अनुक्रम सुर सुख सिव पद पाय ।
तो वरत करो भवि जैन का ।। २८१ ।।

दिलाराम विलास कवि की विविध रचनाओं का संग्रह है । इसमें ३० से भी अधिक रचनाएं हैं जिनमें से कुछ के नाम निम्न प्रकार हैं-

कर्म प्रकृति, कवित्तसार भाषा, विषापहार, एक सौ गुनहत्तर मोक्ष जाने वाले जीवों का वर्णन, विदेह पच्चीसी, निर्वाण कानु पच्चीसी, ज्ञान बत्तीसी, षट्लेश्या बत्तीसी यात्रा, पच्चीसी, भावनाबत्तीसी, बारह व्रत बावनी सम्यक् छत्तीसी, गुण स्थान चतुर्दशी, आसादरा पच्चीसी मदनाष्टक आतम द्वादशी एवं सुभाषित आदि आदि ।

उक्त सभी रचनाएं गीति छंदों में हैं जो विविध राग रागिनियों में हैं । पद्य प्रारम्भ करने से पूर्व राग रागिनी के नाम एवं लक्षण दिये हुए हैं । प्रमुख रागों के नाम निम्न प्रकार हैं-

भैरु, रामकली, गूजरी, बिलावल, गंधार देवगरी आसा टोडी जैतसरी मालसरी, धना-सरी, सारंग सोरठ, नट गौडी, कल्याण, भोपाली, ईमन केदारा, थापी बिहाग, परज, मारु, खंभाची, बसंत बारु, मल्हार आदि ।

उक्त विलास में एक कृति आत्म द्वादशी है जो पूर्णतः आध्यात्मिक रचना है जिसमें १२ सवैया छंदों में कवि ने आत्मा के गुणों का वर्णन किया है । बस रचना का एक पद्य देखिये:-

काहि को पहरि चढि हेरत उजार मांहि
काहे को सनान काजि फिरैतीर तरूनी ।
काहे को गढाई देव कीजिये तु पर नाम
काहे को लगाय वृच्छ पूजिये पीपरनी ।
काहे को अगनि जारि मानियत वासदेव
काहे को पुजाय पसू बाट घास चरनी
काहे को कलेस करि ढूंढत जगत मांही
मुरति है घट मांहि आतम अमरनी ।।

पदसंग्रह:-कवि ने कितने पद लिखे यह तो अभी खोज का विषय है लेकिन आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में संग्रहीत उक्त विलास में करीब १०० पद हैं । ये सभी पद अनेक राग-रागिनियों में है । ये पद भक्ति एवं अध्यात्म रस से ओत प्रोत हैं । ये सभी पद अभी तक अप्रकाशित हैं तथा जन साधारण एवं विद्वानों के सामने नहीं आये है । यहां पाठकों के रसास्वादन के लिये दो पद दिये जाते हैं ।

चेतन काहे न सिवपुर जात
मेरो कह्यो मानि मन प्यारे बहुरि न होय है बात ।। टेक ।।
पूरब पाप कीये बोहुतेरे ग्रज हुं नाहि ग्रघात ।
एयंन्द्री ले जाब जहां तेहि रांक भयो विललाल ।।चेतन।। १५
रूंडक मुंड सरीर धरयो तैं करत सकल मिलि घात ।
वैं ही बंध बहोरि तुम बांधत बांधत हूं न लजात ।। चे ।। २१
पूजा दान दया तप संजम यह जुगति करि प्रात ।
जिनवर भगति बिना क्यों तुटै कुगति बंध को छात ।।चे०।। ३ ।
दलाराम बिनती सुनि चित में ग्रवसर थिर न रहात ।
मनिष जनम रतन तैं पायौ ताको विरथ गुमान ।। चे० ।। ४

परिग्रह बादल छायो देखो भाई
धन जोबन है बीज चमंका, उदै पवन जुरि ग्रायो ।। टे० ।।
सुभ ग्रसुभ झरिलाग रह्यो है राग दोष गहरायो ।
काम क्रोध मोहमान लोभ जल तरूनी वेग बहायो ।। परि ।।
प्रभता धनक बएयो सिर ऊपर सोभा रंग सुहायो ।
बंदी जन पावस खग पंकति बिरही जन भरमायो ।। परि ।।
बंधु कुटंब भवंतर माही रोग लहरि ग्रधिकायो ।
जामन मरण शोग सुख जलचर भव समुद बढायो ।। परि ।।
जग सामर तिरबै के कारणि ग्यान गुर जिहाज बतायो
सत्ति पवन तप परिग्रह काजे दलाराम जन गायो ।। परि ।।

आचार्य अजितसेन और उनकी अमरकृति 'अलङ्कारचिन्तामणिः'

अमृतलाल शास्त्री

[लक्षण ग्रन्थों में प्रमुख पांच सम्प्रदायों की चर्चा आती है— (१) रस (२) अलंकार (३) रीति (४) वक्रोक्ति (५) और ध्वनि। इनके प्रवर्तक हैं क्रमशः (१) भरत (२) भामह (३) वामन (४) कुन्तक और (५) आनन्द वर्धन। अजित सेन ने अपने ग्रन्थ में इन पांचों का समन्वय किया है, जैसा कि उनके काव्य लक्षण से स्पष्ट है। —सं०]

भारतीय साहित्य में अलङ्कार शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। राजशेखर के मत से अलङ्कार शास्त्र वेदों का सातवां अङ्ग है। अलङ्कारों के स्वरूप को जाने बिना वेदों का अर्थ समझ में नहीं आ सकता।[1] ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर अब तक इस शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले लगभग सात सौ ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। जैन आचार्यों ने भी अनेक ग्रन्थ लिखकर इस शास्त्र के महत्व को बढ़ाया है। आचार्य अजित सेन उन्हीं में से एक हैं। इन्होंने 'अलङ्कार चिन्तामणिः' नामक एक श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है।

रचयिता के नाम में भ्रम

स्वर्गीय श्री रावजी सखाराम जी दोशी ने शक संवत् १८२६ में इस ग्रन्थ को पहली बार शोलापुर से प्रकाशित किया था। इस मुद्रित प्रति के मुख पृष्ठ पर 'अलङ्कार चिन्तामणिः, भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीतः' छपा है, जो गलत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता महापुराणकार भगवज्जिनसेनाचार्य नहीं हो सकते; क्योंकि इसमें हरिचन्द्र, वाग्भट, जयदेव और अर्हद्दास आदि अनेक अर्वाचीन आचार्यों के श्लोक उद्धृत हैं। पृष्ठ चवालीस की पहली पंक्ति में ग्रन्थकार ने अपना नाम दिया है। "अत्रैकाद्यङ्कक्रमेण पठिते सति अजितसेनेन कृतचिन्तामणि...." प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट पृष्ठ दस में भी जो चक्रबन्ध प्रकाशित है, उसमें भी अजितसेन लिखा हुआ है। अतः यह निश्चित है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक अजितसेन हैं, भगवज्जिनसेन नहीं।

रचना काल

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन मनीषियों के श्लोक उद्धृत हैं, उनमे महाकवि अर्हद्दास भी हैं। इनका निश्चित समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इन्होने अपने 'मुनि-

---

१. "शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि" इत्याचार्याः। उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम् इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। —काव्यमीमांसा अध्याय २

सुव्रत काव्यम्' 'पुरुदेवचम्पूः' और 'भव्यजनकण्ठाभरणम्' इन तीनों ग्रन्थों में पण्डित आशाधर का उल्लेख किया है। आशाधर ने विक्रम संवत् बारह सौ छयानवे में 'सागारधर्मामृतम्' समाप्त किया था। अतः अर्हद्दास का समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना गया है। इनके 'मुनिसुव्रत काव्यम्' के प्रथम सर्ग का चौतीसवां श्लोक–

"यत्रार्त्तवत्वं फलिताटवीषु पलाशिताद्रौ कुसुमें परागः।
निमित्तमात्रे पिशुनत्व मासीन्नि रौष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता च"॥

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ एकानवे पर उद्धृत है। अतः अजितसेन ने 'अलङ्कार चिन्तामणिः' की रचना अर्हद्दास के बाद की थी, यह निश्चित है। जब तक और प्रमाण नहीं मिलते तब तक अजितसेन का समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाना चाहिए।

आभ्यन्तर परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में विभाजित है। पहला परिच्छेद सबसे छोटा है। इसमें कुल एक सौ तीन श्लोक हैं। उनमें कविता करने के उपाय एवं कवि बनने वाले को शिक्षा दी गई है। समस्या पूर्ति कैसे की जाय, इस पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दूसरे परिच्छेद में शब्दालङ्कार के चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ये चार भेद बतलाकर चित्रालङ्कार का विस्तार से वर्णन किया है। तीसरे परिच्छेद में वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। चौथे परिच्छेद में उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मृति, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुव, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशय, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्गुण, असद्गुण, विरोध, विशेष, अधिक, विभाव, विशेषोक्ति, असङ्गति, चित्र, अन्योन्य, तुल्य योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेष, परिकर, आक्षेप, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतस्तुति, पर्यायोक्त, प्रतीप, अनुमान, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या, उत्तर, विकल्प, समुच्चय, समाधि, भाविक, प्रेय, रस्य, ऊर्जस्वी, प्रत्यनीक, व्याघात, पर्याय, सूक्ष्म, उदात्त, परिवृति, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार, संसृष्टि और सङ्कर इस तरह कुल सत्तर अर्थालङ्कारों का विस्तार से वर्णन किया है। पांचवें परिच्छेद में नौ रस, चार रीति, दो पाक द्राक्षा और शय्या, शब्द का स्वरूप, शब्द के भेद–रूढ़, यौगिक और तन्मिश्र, तीन प्रकार के अर्थवाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य चार प्रकार की लक्षणा–जहल्लक्षणा, ऊजह लक्षणा, सारोपालक्षणा और साध्यवसाना लक्षणा, चार प्रकार की वृत्तियाँ–कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती, शब्दचित्र, अर्थ, चित्र, व्यङ्ग्यार्थ के परिचायक संयोगादि, गुण, दोष और अन्त में नायक–नायिका भेद–प्रभेद विस्तार से वर्णित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वक्रोक्ति अलङ्कार का वर्णन दो बार किया गया है। पहले तीसरे परिच्छेद में और फिर चौथे में। क्यों कि वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है पहली शब्द शक्ति मूलक और दूसरी अर्थ शक्ति मूलक। पहली का वर्णन तीसरे परिच्छेद में और दूसरी का चौथे में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वे सभी विषय आगये हैं, जिनका वर्णन अलङ्कार शास्त्र में होता है। हां, दो विषय नहीं आ सके पहला नाटक या दृश्य काव्य सम्बन्धी और दूसरा ध्वनि सम्बन्धी। पहला विषय क्यों छोड़ दिया, इसका हेतु ग्रन्थकार ने नहीं दिया, पर दूसरे के बारे में लिखा है कि विस्तृत होने से हम ध्वनि का निरूपण नहीं करेंगे–

"ध्वनि विशेषं न ब्रूमो विस्तरत्वात्" पृष्ठ एक सौ चौबीस।

ध्वनि के साथ 'विशेष' पद जुड़ा हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अभिधा मूलक और लक्षणा मूलक ध्वनि के भेदों तथा उनके भी अवान्तर भेदों का वर्णन नहीं किया जायगा, पर सामान्य रूप से तो उनकी चर्चा अवश्य की जायगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद में ग्रन्थकार ने काव्य के तीन भेद किए हैं—(१) ध्वनि (२) गुणी भूत व्यङ्ग्य और (३) चित्र। पहला उत्तम, दूसरा मध्यम और तीसरा अधम काव्य कहलाता है। वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य होने पर 'ध्वनि' व्यवहार होता है, वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के अप्राधान्य होने पर 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' व्यवहार होता है और व्यङ्ग्यार्थ के अस्फुट होने पर 'चित्र' व्यवहार होता है—

"गौणागौणास्फुटत्वेभ्यो व्यङ्ग्यार्थस्य निगद्यते।
काव्यस्य तु विशेषोऽयं त्रेधा मध्यो वरोऽपरः॥

व्यङ्ग्यस्यामुख्यत्वेन मध्यमकाव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्युच्यते। प्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरितीष्यते। अस्फुटत्वेऽधमं तच्चित्रमिति निरूप्यते।" पृष्ठ एक सौ तेईस।

प्राचीन सम्प्रदायों का समन्वय

लक्षण ग्रन्थों में प्रमुख पांच सम्प्रदायों की चर्चा आती है—(१) रस (२) अलङ्कार (३) रीति (४) वक्रोक्ति और (५) ध्वनि। इनके प्रवर्त्तक हैं क्रमशः (१) भरत (२) भामह (३) वामन (४) कुन्तक और (५) आनन्दवर्धन। अजित सेन ने अपने ग्रन्थ में इन पांचों का समन्वय किया है, जैसा कि उनके काव्य के लक्षण से स्पष्ट है—

"शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं
व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम्।
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यंसुखार्थी
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥"

पृष्ठ एक

प्रस्तुत ग्रंथ के तीन अंश

प्रस्तुत ग्रन्थ को तीन अंशों में विभक्त किया जा सकता है—पहला मूल कारिकाओं का अंश है, जिनमें लक्षण दिए गए हैं, दूसरा वृत्ति का अंश है, जिसमें कारिकाओं के कठिन विषय स्पष्ट किए गए हैं और तीसरा अंश है उदाहरणों का। उदाहरण प्राचीन जैन ग्रन्थों से लिए गए हैं। दो-चार उदाहरण जैनेतर ग्रन्थों से भी लिए गए जान पड़ते हैं। उदाहरणों के अन्वेषण में अजितसेन को घोर परिश्रम करना पड़ा है। अनेक अलङ्कारिकों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अलङ्कार ग्रन्थों को सामने रख कर उनके उदाहरणों की नकल टीपी है। इस

पद्धति को विश्वनाथ कविराज ने भी अपनाया है, जो अठारह भाषाओं को जानते थे, कविराज विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश को सामने रख कर साहित्य दर्पण का निर्माण किया था। अजितसेन ने इस पद्धति को अपनाना उचित नहीं समझा।

प्रस्तुत ग्रंथ की विशेषता

प्रस्तुत ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक सरलता ओत प्रोत है, जिससे पाठक को ग्रन्थ का हृदय समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता। सम्प्रति चन्द्रालोक, साहित्य-दर्पण, काव्य प्रकाश, ध्वन्यालोक और रसगङ्गाधर इन पांच ग्रन्थों का बहुत प्रचार है, किन्तु इन में कवि शिक्षा तथा शब्दालङ्कारों का इतना सुन्दर वर्णन नहीं जितना अलङ्कार चिन्तामणि में अजित सेन ने किया है। उपमालङ्कार का विवेचन भी जो अजितसेन ने किया है वह उक्त पांचों ग्रन्थों में नही मिलता। अलङ्कार शास्त्र के सभी ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं। अलङ्कार शास्त्र के अभ्यासी को अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए सभी ग्रन्थ अध्येतव्य हैं। अलङ्कार चिन्तामणि के अध्ययन के बिना आलङ्कारिकों की अलङ्कार विषयक चिन्ता दूर नहीं हो सकती—

कुछ विशेषताओं का उल्लेख—

कविता का अभ्यास

जो कविता करना चाहते हैं, वे पहले छन्दों का अभ्यास करें। प्रथमतः जो भी दृष्टि के सामने हो, उसी का वर्णन छन्दों में करना चाहिए। जैसे—

(१) अम्भोभिः सम्भृतः कुम्भः शोभते पश्य भोः सखे ! :
दभ्रः शुभ्रपटो भाति सितिमानं प्रपश्य भोः ॥ पृ० २

मित्र, देखो यह जल से भरा हुआ घड़ा कैसा सुन्दर लग रहा है। यह पतला सफेद वस्त्र सुशोभित हो रहा है। मित्र, इसकी सफेदी तो देखो।

(२) वधु रमेव भातीयं नरो भाति स्मरो यथा।
उखा भात्यन्नपूर्णेयं सखा भाति विधूपमः ॥ पृ० दो

यह दुलहिन लक्ष्मी सरीखी प्रतीत हो रही है, दूल्हा कामदेव-सा लग रहा है, अन्न से भरी हुई बटलोई अच्छी लग रही है और मित्र चन्द्रमा की भांति सुशोभित हो रहा है।

(३) शय्योत्थितः कृतस्नानो वराक्षतसमन्वितः।
गत्वा देवार्चनं कृत्वा श्रुत्वा शास्त्रं गृहं गतः ॥ पृ० दो

शय्या से उठ कर उसने स्नान किया, फिर चावल लेकर वह देवालय में गया, वहां उसने देवपूजा की, इसके पश्चात् शास्त्र सुनकर वह अपने घर चला गया।

प्रारम्भ में कविता करने वालों को बहुत कठिनाई प्रतीत होती है। इसे दूर करने के लिए अजितसेन ने बतलाया है कि पहले अनुष्टुप छन्द का अभ्यास करना चाहिए। जो भी दृष्टिगोचर हो, उसी का वर्णन करना चाहिए। प्रारम्भ में वर्णनीय विषय की विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

सभी छन्दों का अभ्यास करके महाकाव्य बनाने का प्रयत्न करे। इसके लिए पहले यह देखने कि महाकाव्य में किन २ विषयों का वर्णन होना चाहिए, और यह भी देखले कि राजा, रानी, मन्त्री और पुरोहित आदि के वर्णन में क्या-क्या लिखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कवियों के सिद्धान्त भी जान लेने चाहिए। प्रथम परिच्छेद में इन विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

चित्र काव्य

चित्रकाव्य में मुख्यतः शब्दों का चमत्कार होता है, न कि अर्थ का। दूसरे परिच्छेद में पद्मबन्ध, गोमूत्रिका बन्ध, नागपाश बन्ध, मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र बन्ध, चक्रबन्ध, दर्पण बन्ध, तालवृन्त बन्ध, पट्ट बन्ध, निस्साल बन्ध, ब्रह्मदीपिका बन्ध, भृङ्गार बन्ध, छत्र बन्ध और हार बन्ध आदि तीस-पैंतीस बन्धों का दिग्दर्शन कराया गया है। साथ में और भी अनेक प्रकार से चित्र काव्य का चमत्कार दिखलाया गया है। इसमें कुछ कठिनाई अवश्य आगई है, पर कहीं-कहीं सरलता भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। अक्षरच्युत प्रश्नोत्तर का नमूना देखिये, कितना सरल है—

"कः पञ्जरमध्यास्ते ? कः परुषनिस्वनः ? ।
कः प्रतिष्ठाजीवानां ? कः पाठ्योऽक्षरच्युतः ? ॥" पृ० ३२

पञ्जर में कौन रहता है ? कठोर शब्द वाला कौन होता है ? जीवों का आश्रय क्या है और अक्षर छोड़ कर क्या पढ़ा जाता है ? उक्त श्लोक के चारों चरणों के प्रारम्भ में एक एक अक्षर बढ़ा देने पर चारों प्रश्नों के उत्तर निकल आते हैं—(१) तोता (२) कौआ (३) लोक (४) श्लोक। एक-एक अक्षर बढ़ाने पर श्लोक की रचना यों हो जायगी—

"शुकः पञ्जरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः ।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥" पृ० ३२

चौथे परिच्छेद में अर्थालङ्कारों का विस्तृत विवेचन है। उसके पहले पृष्ठ बावन-तिरेपन में उनका साम्य और वैषम्य वर्णित है। यों खोजने पर अन्य ग्रन्थों में भी साम्य और वैषम्य मिल सकता है, पर एक ही स्थल में किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिल सकता। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद का प्रारम्भिक अंश विशेष रूप से दृष्टव्य है।

अर्थालङ्कारों में साम्य

रस और भाव आदि की प्रतीति होने से प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी और समाहित में साम्य है। चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति न होने से उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास, विभावना, उक्तनिमित्तविशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार पर्याय परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलन, सामान्य, असङ्गति तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त इन अलङ्कारों में साम्य है। प्रतीयमान अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ के रहने से व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत, प्रशंसा और अनुक्त निमित्त विशे-

वोक्ति में साम्य होता है। उपमा व्यङ्ग्य होने से परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख स्मरण, अपह्नव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति अलङ्कारों में साम्य होता है।

प्रकारान्तर से साम्य

अध्यवसाय मूलक होने से अतिशय और उत्प्रेक्षा में साम्य है। विरोध मूलक होने से विषम, विशेषोक्ति, विभावना, चित्र, असङ्गति, अन्योन्य, व्याघात, तद्गुण, भाविक और विशेष इन अलङ्कारों में साम्य है। वाक्य न्याय मूलक होने से परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प यथासंख्य और समुच्चय में साम्य है। लोक व्यवहार मूलक होने से उदात्त, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम, समाधि, पर्याय, परिवृत्ति, प्रत्यनीक और तद्गुण अलङ्कारों में साम्य है। तर्कन्याय मूलक होने से अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग और अनुमान में साम्य है। शृङ्खला की विचित्रता के कारण दीपक, सार, कारणमाला और एकावली अलङ्कारों में समानता है। अपह्नव मूलक होने से मीलन, वक्रोक्ति और व्याजोक्ति अलङ्कारों में सादृश्य होता है। विशेषणों की विचित्रता के कारण परिकर तथा समासोक्ति में समानता होती है।

अलंकारों में वैषम्य

परिणाम और रूपक में आरोप होता है, इस दृष्टि से दोनों में साम्य है, किन्तु परिणाम में आरोप्य (उपमान) का प्रकृत में उपयोग होता है और रूपक में आरोप्य का प्रकृत में उपयोग नहीं होता—"परिणाम रूपकयोरारोपगर्भत्वेऽपि, आरोप्यरूप प्रकृतोपयोगानुपयोगाभ्यां भेदः"। पृष्ठ तिरेपन।

"मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखमारोपस्य विषय आरोप्यश्चन्द्रः। उपरञ्जकमित्येतेन परिणामालङ्कारनिरासः। तत्र प्रकृतोपयोगित्वेनारोप्यमाणस्यान्वयो न प्रकृतोरञ्जक तया"। पृष्ठ चौसठ।

"आरोपविषयत्वेनारोप्यं यत्रोपयोगि च।
प्रकृते परिणामोऽसौ···· ···· ···· ···· ····।।" पृष्ठ ६७

अर्थात् "मुखं चन्द्रः" "मुख चन्द्रमा है" यह रूपक का उदाहरण है। यहां मुख आरोप का विषय अर्थात् उपमेय है और चन्द्रमा आरोप्य अर्थात् उपमान। यहां उपमान उपमेय का उपरञ्जक (शोभाधायक) है। यहां उपरञ्जक कहने से परिणामालङ्कार का निरास होता हैं। जहां आरोप्य (उपमान) आरोप विषय (उपमेय) के रूप में प्रकृत का उपयोगी हो वहां परिणामालङ्कार होता है। आरोप्य प्रकृतोपयोगी होना ही परिणामालङ्कार का अन्य अलङ्कारों से वैलक्षण्य है—"आरोप्यं प्रकृतोपयोगीत्यनेन सर्वेभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्य मस्म"। पृष्ठ सड़सठ

इसी प्रकार से प्रस्तुत ग्रन्थों में और-और भी पचासों अलङ्कारों में अन्तर बतलाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकानेक ऐसे भी विषय हैं जो अन्य ग्रन्थों में कम मिलेंगे।

---

१. "आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।"
अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ ५१

अहिंसा–परिहास

सागरमल जैन 'साथी'

ओ अहिंसक ! आंख खोलो ।
यह परीक्षण का समय है, आचरण अपने टटोलो ।
अहिंसा के शास्त्र में, निर्बाध है निष्ठा तुम्हारी ।
जागरण के गीत गाता, बन अहिंसा का पुजारी ।।
दूसरों को सताने के लिए, पग भी धर न सकता ।
प्राण लेने के लिए तो, कल्पना भी कर न सकता ।
बन्धुता की भावना में, सब चराचर जगत आया ।
क्रूर हिंसक जन्तुओं ने भी, जहाँ पर अभय पाया ।
अहिंसक संसार रचना, है समुज्वल लक्ष्य तेरा ।
निशा से पीडित जगत में, देखना चाहा सवेरा ।
विचारों के साथ में, साथी ! जरा आचार तोलो ।
ओ अहिंसक !..................।।

आत्म–शोधक, अभ्युदयमूलक, अहिंसा का दिवाला ।
सत्य है, कटु सत्य है, स्वार्थान्ध बन तुमने निकाला ।
शोषितों का क्रूरता से, रक्त शोषण कर रहा है ।
धन-कुबेरों के जगत में, पांव आगे धर रहा है ।
पद दलित के साथ, पशु से भी घृणित व्यवहार करता,
उच्चता पर, धर्म पर, भगवान पर अधिकार करता ।।
आत्म-घाती दुर्गुणों का, दास कैसा बन रहा है ।
काम, कपट, कृतघ्नता का, सदा ताना बन रहा है ।
क्या अहिंसा का नहीं परिहास है ? कुछ सोच बोलो ।
ओ अहिंसक !.....................।।

नहीं कथनी का समय है, किन्तु करनी का समय है ।
स्वयं निष्क्रिय है सदा, उनके लिए जग में प्रलय है ।
अहिंसा की साधना, व्यवहार में साकार होगी ।
तभी हिंसा और शोषण की, करारी हार होगी ।
स्वर्ण अवसर है अभी, आमूल जीवन बदल डालो ।
विश्व में वैषम्य के कीटाणुओं को कुचल डालो ।
स्वार्थ से ऊपर उठो, परमार्थ फिर देखो नहीं है ।
शान्ति का भी पथ यही है, क्रान्ति का भी पथ यही है ।
सुधा प्याली में अरे ! आदर्श घाती विष न घोलो ।
ओ अहिंसक !...............।।

भगवान् महावीर के समय की धार्मिक क्रान्ति

पं० गोपीलाल अमर

[जैसा कि पीछे अनेक बार कहा गया है, ईसा पूर्व छठी शताब्दी भारतवर्ष के लिये धार्मिक हलचल का काल थी। इस समय देश में विविध मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हो रहा था। स्थान २ पर श्रमण, भिक्षु और परिव्राजक घूम २ कर अपने २ वादों का प्रचार कर रहे थे। सारा वातावरण धार्मिक वाद विवाद से गूंज रहा था। इस उत्तेजनामयी परिस्थिति का विशद ज्ञान बौद्ध साहित्य से हो जाता है। —सं०]

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी भारतवर्ष के लिए ही नही वरन् संसार के अन्य अनेक देशों के लिए एक विस्मयजनक धार्मिक क्रान्ति का काल थी। चारों ओर मनुष्य की जिज्ञासा युग युग के पूंजीभूत विश्वासों के आवरण को चीर कर प्रत्येक वस्तु के अन्तस्तत्व को देखना चाहती थी। मनुष्य की उद्भूत तर्कशीलता अब किसी भी पुरातन मत को ग्रहण करने के पूर्व उसे भली-भाँति परख लेना चाहती थी। उसकी सत्यान्वेषिणी दृष्टि के समक्ष प्राचीनतम अन्ध-विश्वास काँप रहे थे, कर्म काण्ड की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थीं और अन्ध-श्रद्धा के आधार पर संरोपित पुरातन मान्यतायें अपने जीवन के प्रति निराश सी दिखाई देने लगी थी। वास्तव में यह काल एक प्रबल गवेषणा, सत्यानुसन्धान और रहस्योद्घाटन की दुर्धर्ष उत्कण्ठा का काल था। इस समय मानवी बुद्धि तर्क का संबल लेकर इहलोक और परलोक के गहनातिगहन विषयों की समीक्षा कर अपनी अन्तस्तुष्टि चाहती थी। इसी जिज्ञासा और तर्कशालिता का परिणाम यह हुआ कि ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में विश्व के अनेक स्थानों पर युग-प्रवर्तकों का जन्म हुआ, नवीन धर्मों की स्थापना हुई और मनुष्य के जीवन की मान्यताओं का पुनः मूल्यांकन करने का प्रबल प्रयास हुआ। जिस समय फारस जरथुस्त, यूनान पाइथागोरस और चीन कनफ्यूशिसस के दिव्य उपदेशों से निनादित हो रहा था उसी समय भारत की पुण्यस्थली में भी दो महान् युग पुरुषों के धर्मोद्घोष सुनाई दे रहे थे। ये थे भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध-भारत की अपूर्व धार्मिक क्रान्ति के अग्रदूत, उसके बौद्धिक आप्लावन के गंभीर स्रोत।

अन्य देशों की धार्मिक क्रान्ति की भाँति भारतवर्ष की धार्मिक क्रान्ति भी न आकस्मिक थी न इसका कोई एक ही कारण था। अनेक शताब्दियों के अनेक कारण इसके आगमन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे जिनकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं।

आर्य और अनार्य विचार-धाराओं का संघर्ष

भगवान् महावीर के समय तक पंजाब और मध्य प्रदेश आर्य संस्कृति के अन्तर्गत आ चुके थे। परन्तु उत्तरी भारत का पूर्वी भाग अब भी उससे बहुत कुछ अप्रभावित था। आर्य

और अनार्य सभ्यताओं का प्रमुख अन्तर था जीवन के प्रति उनका परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण। आर्य अपनी प्रवृत्ति-प्रधान सभ्यता को लेकर भारत में आये। यहाँ निवृत्ति-मूलक अनार्य सभ्यता के साथ उनका सम्पर्क भी हुआ और संघर्ष भी। आर्य-अनार्य संघर्ष एक मात्र जातीय संघर्षही न था वरन् वह सांस्कृतिक संघर्ष भी था। दीर्घकालीन संघर्ष और सहवास के कारण एक सभ्यता ने दूसरी सभ्यता को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित किया, इसमें कोई संदेह नहीं। यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि अनार्यों की निवृत्ति मूलक संस्कृति प्राचीन-बहुत-प्राचीन काल से अदृष्टरूपेण प्रवृत्तिमूलक आर्य संस्कृति का विरोध करती आ रही थी। इस विरोध का सर्वाधिक प्रबल केन्द्र मगध में ही था जो ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक भी पूर्णतः आर्य-संस्कृति के प्रभाव में न आया था। अतः इसी प्रदेश में पुरातन आर्य-धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ। जैन धर्म का पुनरुत्थान और बौद्ध धर्म का जन्म इसी विद्रोह के परिणाम थे।

ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष

अपने साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक काल मे ब्राह्मण वर्ण की सर्वोपरि सत्ता और प्रभुता स्थापित हुई थी। वह सम्पूर्ण समाज की श्रद्धा भक्ति और दया-दान का अधिकारी तो था ही उसे अनेकानेक अन्य विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। समाज के चतुर्वर्णों मे दूसरा वर्ण क्षत्रिय था। इसके हाथ में देश की सुरक्षा और शासन-व्यवस्था का भार था। यह बात भी कम महत्वपूर्ण न थी कि स्वयं ब्राह्मण भी अपनी संरक्षा और जीवन-निर्वाह के लिए क्षत्रिय वर्ण पर निर्भर थे। अतः एक ऐसे समय का आना स्वाभाविक ही था जब क्षत्रिय वर्ण को ब्राह्मण वर्ण की सर्वोपरि सत्ता खलने लगी। सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में यह बात कही गई है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से ऊँचा है। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष उपनिषद् काल में और भी अधिक बढ़ गया। क्षत्रिय यहाँ तक बढ़े कि स्वयं ब्राह्मणों को भी हम क्षत्रियों के पास ब्रह्मविद्या पढ़ने के हेतु जाते देखते हैं।

ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा के अनेक प्रमाण जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। ये दोनों धर्म यह दावा करते हैं कि उनके तीर्थंकर और बुद्ध सदैव क्षत्रिय वर्ण में ही उत्पन्न हुए ब्राह्मण-वर्ण में कदापि नहीं। श्वेताम्बर जैन-मान्यता के अनुसार पहले भगवान् महावीर एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने वाले थे लेकिन बाद को देवताओं ने उन्हें त्रिशला नामक क्षत्राणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया। इधर बौद्ध साहित्य में सदैव पहले क्षत्रिय वर्ण का नाम गिनाया जाता है फिर ब्राह्मण वर्ण का।

धार्मिक असन्तोष

ईसा-पूर्व की छठी शताब्दी तक आते-आते समाज के एक बड़े भारी भाग में ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध घोर असंतोष फैल गया था। बात यह थी कि उस समय तक ब्राह्मण धर्म अपनी सरलता छोड़कर नितान्त यान्त्रिक और जटिल बन गया था। उसमें शुद्ध आचार और आत्म-निवेदन के स्थान पर कर्म काण्ड ही अधिक था। कर्म काण्ड की क्रियायें इतनी जटिल और सविस्तार थीं कि उन्हें संपादित करने के लिए एक विशेषज्ञ-पुरोहित वर्ग की आवश्यकता

अनिवार्य हो गई। बहुधा अपनी आस्था और कभी-कभी स्वार्थ सिद्धि के लिए इस वर्ग ने समाज में जो धार्मिक मान्यतायें स्थापित की उन्हें समाज का एक बहुभाग असत्य एवं अनिष्टकर मानता था। इस धर्म के विरुद्ध व्याप्त असंतोष को हम अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अधिक स्पष्टतया समझ सकते हैं।

वेदवाद

वेद ब्राह्मण धर्म की आधारशिला थे। उनकी दृष्टि में ये संपूर्ण मानवीय ज्ञान के अक्षय आगार थे। इन्हीं से उनकी सारी मान्यतायें निकली थीं। उनके समस्त ग्रन्थ इन्हीं वेदों पर आधारित थे। उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय, अनादि और पूर्ण थे। वे ईश्वर-प्रदत्त थे, ईश्वर के मुँह से निकले थे। अतः ब्राह्मण समस्त संसार के सत्यों, विधियों और निषेधों तथा कर्मों और अकर्मों का निरुपण वेद-प्रमाण्य के आधार पर ही करते थे। वेदों को वे धर्म मूल समझते थे। वेदों में जो कुछ कहा गया हैं वही धर्म है, उनके विरुद्ध जो कुछ भी है वह अधर्म है। इस प्रकार ब्राह्मणों ने समस्त ज्ञापक-हेतुओं और धर्म-प्रमाणों में वेदों को सर्वोपरि और निर्विवाद माना था।

लेकिन इस सबके विपरीत, समाज में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो वेदों को पूर्ण और उनके रचयिता ऋषियों को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार न था। उसकी दृष्टि में वैदिक प्रज्ञान और मान्यतायें भी सीमित, त्रुटिपूर्ण और भ्रामक थी। आगे चलकर बृहदारण्यक और तैतिरीय उपनिषदों में स्वयं नारद ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि 'भगवान् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूं।……………किन्तु यह सब जानकर भी, हे भगवन्, मैं केवल मन्त्रों को जानने वाला हूं, आत्मा को जानने वाला नहीं हूं।'

समाज में वेद आदि की प्रतिष्ठा काफी कम हो गई थी इसके साक्ष्य बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं। दीर्घनिकाय के अम्बठ्ठ-सुत्त में स्वयं महात्मा बुद्ध एक व्यक्ति से कहते हैं कि वेदों के प्रति आस्था केवल विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज आदि ऋषियों की ही दीख पड़ती है; किसी और की नहीं।

जैन साहित्य भी ऐसे प्रमाणों से शून्य नहीं है, वहाँ भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में वेदवाद पर काफी ऊहापोह किया गया है।

बहुदेववाद

ब्राह्मणधर्म नितान्त दैवतमय था। सृष्टि का कोई ऐसा भाग नहीं था जिसका अधिष्ठाता कोई न कोई देवी अथवा देवता न हो। मनुष्य के बाह्य एवं आन्तरिक जगत सभी देवाच्छन्न थे। इनमें कुछ देवता प्रकृति की, कुछ वानस्पतिक जगत् की, कुछ पाशविक जगत् की, भिन्न–भिन्न शक्तियों के रूप थे, कुछ अतिमानव और दैवीकृत मानव थे तथा कुछ मानव की मानसिक प्रवृत्तियों के साकार स्वरूप थे।

यद्यपि समाज में एकेश्वरवाद का सिद्धान्त कभी भी व्यापकरूप से सर्वप्रिय न हो सका जनता अनेकानेक देवी–देवताओं में ही अपनी आस्था बनाये रही तथापि समाज का एक चिन्तन

शील वर्ग अति प्राचीनकाल से ही बहुदेववाद की निस्सारता का प्रतिपादन करता आ रहा था। उपनिषद् काल के ऋषियों ने यह स्पष्ट घोषणा की कि जब सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है तो फिर विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना व्यर्थ है। पुनः समाज का एक वर्ग विशुद्ध मानव की स्वतन्त्र गरिमा की स्थापना का पक्षपाती था। वह मनुष्य को बहुसंख्यक देवी देवताओं की अधीनता से मुक्त करना चाहता था। उसका विचार था कि विशुद्ध मानव देवताओं से भी ऊपर है। आत्मोत्कर्ष के लिए देवताओं की अधीनता आवश्यक नहीं। मनुष्य का कर्म ही उसका भाग्य विधाता है। भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि में नितान्त प्रकट रूप में मानव गति को सर्वोत्कृष्टता प्रदान की गई।

महात्मा बुद्ध ने यद्यपि सत्ता-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार नहीं किया तथापि उन्होंने ब्राह्मण धर्म में प्रतिपादित बहुदेववाद को मानवी उत्कर्ष के लिए निरर्थक बताया।

यज्ञवाद

यजन-याजन ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख अंग था। ब्राह्मणों की दृष्टि में यही श्रेय और प्रेय का दाता था। अनेकों देवी-देवताओं की तुष्टि और प्रसाद के लिए शतशः यज्ञों, होमों और क्रियाओं की कल्पना की गई। इस सबसे सम्पूर्ण ब्राह्मणधर्म महज एक कर्मकाण्ड की प्रक्रियामात्र बनकर रह गया। कर्मकाण्ड की इस विशेषता ने समाज में एक प्रबल पौरोहित्य को जन्म दिया। पुरोहितों की महत्ता इतनी बढ़ी कि वे देवताओं के समान समझे जाने लगे। यज्ञ में भाग लेने वाले एक पुरोहित के स्थान पर सात पुरोहित आये और फिर उनकी संख्या सत्रह हो गई। इन सत्रह-सत्रह व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न कराये जाने वाले यज्ञ कितने जटिल, दीर्घकालीन और अपव्ययात्मक होते होंगे, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। कोई कोई यज्ञ तो वर्षों चलते थे। यज्ञों में सेवा-टहल करने वाले दास और कर्मकर दण्ड और भय के आधार पर, अश्रु मुख तक होकर काम किया करते थे।

कर्मकाण्ड की इस घोर जटिलता और भयंकर विकृतता को देखते हुए यह नितान्त स्वाभाविक था कि उसके विरुद्ध समाज में एक अदम्य प्रतिक्रिया हो। चिन्तन शील मनुष्यों ने इन यान्त्रिक यज्ञों की अपेक्षा आचार शुद्धि को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा। उनकी दृष्टि में यह कर्मकाण्ड आत्मोत्कर्ष के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् मोहपूर्ण और अनिष्टकर भी था।

सामाजिक असन्तोष

ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चतुर्वर्ण पर निर्भर थी। परन्तु हम देखते हैं कि ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक आते आते यह व्यवस्था अपनी जटिलता के कारण अव्यवहारिक हो गई थी। स्थान-स्थान पर लोग उसके विरुद्ध आचरण कर रहे थे। वह सामाजिक परिवर्तनों के साथ कदम न बढ़ा सकी थी। फिर भी ब्राह्मण व्यवस्थाकार उसके परित्याग के लिए तैयार न थे और उसे समाज पर लादे रहने का प्रयत्न कर रहे थे। वे मनुष्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का भी निर्धारण इसी मृतप्राय: व्यवस्था के आधार पर किये जा रहे थे। जिस समय यह व्यवस्था प्रतिष्ठित की गई थी उस समय उसमें केवल चार ही वर्ण थे।

परन्तु भगवान् महावीर के समय तक आते आते भिन्न–भिन्न व्यवसायों के अनुसरण करने, भिन्न–भिन्न प्रदेशों में रहने और अन्तर्जातीय विवाह करने के कारण समाज में बहुसंख्यक नवीन जातीय और उपजातियां उत्पन्न हो गई थी । ऐसी स्थिति में यह समस्या बन खड़ी हुई कि आखिर इन सैंकड़ों जातियों और उपजातियों को चतुर्वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत कहां रखा जाय और उन्हें कौन से अधिकार और कर्तव्य दिये जायें । ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने अन्य कोई उपाय न देखकर इन नये कारणों से उत्पन्न अधिकांश जातियों और उपजातियों की गणना शूद्र वर्ण में की । तत्कालीन शूद्र वर्ण अत्यन्त दयनीय एवं घृणित व्यवस्था से गुजर रहा था । उसे न तो कोई अधिकार ही प्राप्त थे । और न ही आत्मोत्कर्ष के कोई साधन । अतः इस विशाल जनसमूह के उच्च वर्णों के प्रति कुछ कर्तव्यमात्र ही शेष रह गये ।

शूद्र–समुदाय की भांति ही स्त्री–समुदाय भी नितान्त अधिकार–विहीन हो गया था । उसका अध्ययन का पुरातन अधिकार छिन चुका था । स्पष्ट है कि यह व्यवस्था तथा कथित शूद्रों, स्वतन्त्र विचारकों और प्रगतिवादी सुधारकों को घोर असन्तोषजनक प्रतीत हो रही थी । और वे इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना चाहते थे ।

आर्थिक असन्तोष

उधर, वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य के व्यवसाय भी निश्चित थे । परन्तु जातियों की अधिकता, आर्थिक समस्याओं और व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण मनुष्य वर्ण विरुद्ध व्यवसायों का भी अनुसरण करने लगे थे । स्वयं ब्राह्मण भी बहुत से निषिद्ध व्यवसायों के द्वारा अपना जीवन यापन कर रहे थे । ब्राह्मण–व्यवस्थाकारों ने वर्ण विरुद्ध व्यवसाय के अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के लिए जो दण्डविधान बनाया था उससे भी यही प्रकट होता है कि समाज का बहुसंख्यक वर्ग अनेक कारणों से अपने वर्ग के प्रतिकूल व्यवसायों को भी कर रहा था । इस प्रकार चतुर्वर्ण–व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई थी और बहुत अंशों में समाज के लिए उसकी प्राचीन उपयोगिता जाती रही थी ।

परन्तु परिवर्तित परिस्थिति में भी ब्राह्मण–व्यवस्थाकारों का समाज पर उसके बलात् आरोपण का प्रबल प्रयत्न जन–मत के घोर असन्तोष का कारण बन गया था । यह असन्तोष चूंकि अर्थ से संबद्ध था अतः उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया ।

नैतिक पतन

ब्राह्मण देश के व्यवस्थाकार थे । उनके द्वारा निर्मित विधि–निषेधों से ही समाज का संचालन हो रहा था । उन्हें अनेकानेक विशेषाधिकार और सुविधायें भी प्राप्त थी । परन्तु ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक आते–आते उनका घोर नैतिक पतन हो गया था । अपने साधनामय जीवन से विमुख होकर वे बहुमुखी सांसारिकता में प्रवृत्त होने लगे थे । अपने विशेषाधिकारों और सुविधाओं का दुरुपयोग करके वे निष्ठा हीन विषयासक्त और दुराग्रही होने लगे थे । दूसरी ओर क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के लोग अपेक्षाकृत अधिक नैतिक और सच्चरित्र थे । अतः स्वाभाविक ही है कि एक अदम्य धार्मिक क्रान्ति जन्म ले ।

धार्मिक सुधारणा के बीज

इन छोटे-बड़े अनेक कारणों को लेकर ही ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति हुई। हम देख चुके हैं कि इस क्रान्ति के बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में ही विद्यमान थे। आरण्यक मनीषियों ने अपने आत्मचिन्तन से उन बीजों को अंकुरित किया। कालान्तर में औपनिषद् काल की महनीय तत्वजिज्ञासा ने तो उन अंकुरों को पल्लवित करना भी प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार चतुर्दिक सुधारणा की लहर तो उपनिषद् काल में ही दौड़ चली थी। उन्हीं पुरातन तन्तुओं को अपनी बुद्धि एवं आवश्यकता के अनुसार परिगृहित, संशोधित, संवर्धित और परित्यक्त कर अनेक नवीन धर्माचार्यों ने अपने-अपने मत का ताना-बाना तैयार किया। एक भगवान् महावीर ही उस समय ऐसे थे जिन्होंने अपने अनादि सिद्धान्तों के सम्पोषण में ही अपनी शक्ति लगाई और इसी माध्यम से उन्होंने तत्कालीन व्यथित एवं दयनीय प्राणीमात्र को धार्मिक उत्कर्ष का मार्ग दिखाया।

जैसा कि पीछे अनेक बार कहा गया है, ईसा पूर्व छठी शताब्दी भारतवर्ष के लिए धार्मिक हलचल का काल थी। इस समय देश में विविध मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हो रहा था। स्थान-स्थान पर श्रमण, भिक्षु और परिव्राजक घूम-घूम कर अपने-अपने 'वादों' का प्रचार कर रहे थे। सारा वातावरण धार्मिक वादविवाद से गूंज रहा था। इस उत्तेजनामयी परिस्थिति का विशद ज्ञान बौद्ध साहित्य से हो जाता है।

बौद्ध ग्रन्थ, उस समय प्रचलित ६२ मतों का उल्लेख करते हैं। विरोधी होने के कारण 'इन्हें मिथ्या दृष्टिगं' या 'मिथ्या धारणायें' कहा गया है। इनमें १८ मत ऐसे थे जो लोक और आत्मा आदि के विषय में अपना विचार प्रकट करते थे। इन्हें पुब्बत कप्पिका (पूर्वान्त कल्पिक)' कहते थे। शेष ४४ मत लोक और आत्मा के अन्त के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते थे। इन्हें 'अपति काप्पिका (अपरन्त कल्पिक)' कहते थे।

बौद्ध साहित्य की भांति जैन साहित्य में भी तत्कालीन धार्मिक क्रान्ति का अच्छा चित्रण किया गया है। उससे भी यही प्रकट होता है। कि देश में नाना विषयों पर चिन्तन मनन अथवा जिज्ञासा करने वाले तार्किकों और प्रचारकों का तांता लगा हुआ था। उनके बीच बहुधा होने वाले पारस्परिक वादविवाद की प्रतिध्वनियां भी जैन साहित्य में संरक्षित है।

उपसंहार

इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में वर्णित धार्मिक मान्यताओं से प्रकट होता है कि साधारण जनता पर बौद्धिक क्रान्ति का विशेष प्रभाव न पड़ा था। यह क्रान्ति कदाचित् समाज के उच्च एवं शिक्षित वर्ग को ही प्रभावित कर पाई थी। गांवों में रहने वाला परम्परानुयायी भारतीय उसके प्रति बहुत कुछ उदासीन ही रहा। वह अपने पुरातन बहुदेववाद, यज्ञवाद, रूढिवाद और अन्धविश्वासों को सहसा छोड़ देने के लिए प्रस्तुत न था। प्रारम्भ में नवीन धर्मों ने उसके इस पुरातनवाद का विरोध किया और उसे आमूल नष्ट कर देने का प्रबल प्रयास किया। परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली।

साहु और राजा टोडरमल

परमानन्द जैन

सम्मति सन्देश के गतांक में श्री अगरचन्द नाहटा का एक लेख राजा टोडरमल के नाम का प्रकाशित हुआ है। जिसमें साहु टोडरमल को राजा टोडरमल समझकर अकबर का राजस्व मंत्री लिख दिया है। और मुझे इस सम्बन्ध में विचार करने के लिये प्रेरित किया है।

शाह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के समय आगरा में दो टोडरमल नाम के व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। जो क्रमशः जैन और वैष्णव धर्मानुयायी थे। दोनों ही समकालीन थे। उनमें एक अग्रवाल और दूसरे जाति के क्षत्री थे। एक टकसाल के कार्य में दक्ष थे तो दूसरे अर्थ शास्त्र के विद्वान थे। एक साहु, उदार चेता, सम्मानित तथा अकबर द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त कृष्णा मंगल चौधरी जैसे क्षत्री और प्रतापी सज्जन के गुणी और विवेकी मंत्री थे, तो दूसरे अकबर के सेनापति, राजस्व मन्त्री और राजा की उपाधि से अलंकृत थे।

टोडर नाम के इन दोनों व्यक्तियों का परिचय प्रस्तुत करना ही इस लेख का विषय है। क्यों कि भूल-भ्रान्तियों के दूर करने का एक मात्र उपाय समुचित प्रमाणों द्वारा परीक्षा करना ही है।

अकबर के राज्य संचालन में अनेक क्षत्री राजा, कुछ राजपूत राजा और कुछ चुने हुए वैश्य लोग सहयोग देते थे। अनेक जागीरदार और राजागणों का भी सहयोग था। अकबर स्वयं भी राजनीति का चतुर पंडित था। और वह अपनी समुदार राजनीति के कारण कृष्णा मंगल चौधरी जैसे वीर पराक्रमी क्षत्रियों का सहयोग पा सका था। यह अकबर से सम्मान तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त थे। और वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। और यमुनादि नदियों में स्नान कर इष्ट कर्म करना अपना धर्म मानते थे। यह शत्रुओं के मान मर्दन में दक्ष थे। जिनकी तिरछी नजर से शत्रुगण कांप जाते थे। कवि राजमल ने इनका उल्लेख ठाकुर और 'अरजानी पुत्र के नाम से करते हुए उन्हें 'सर्वाधिकार क्षमः' बतलाया है। उनका वैभव बढ़ा चढ़ा था और वह इन्द्र श्री को प्राप्त थे। इनके साथ ही एक दूसरे अधिकारी भी थे, जिनका नाम गढमल साहु था, यह भी वैष्णव धर्मानुयायी सज्जन थे, और गंगादि तीर्थों में अनुरक्त थे। उनमें विधिवत स्नानकर अपने इष्ट देव की अर्चना करते थे। यह सुयोग्य धर्मात्मा और बड़े ही उदार प्रकृति के थे। इन्हें कवि राजमल ने परोपकारार्थ शाश्वती लक्ष्मी प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया था।[1]

---

१. तत्र श्री ठक्कुर संज्ञकश्च अरजानी पुत्र इत्याख्यया,
कृष्णा मंगलचौधरीति विदितः क्षात्रः स्ववंशाधिपः ।
श्रीमत्साहि जलालदीन निकटः सर्वाधिकारक्षमः ।
सार्वः सर्वमयः प्रतापनिकरः श्रीमान् सदास्ते ध्रुवम् ॥१॥

साहु टोडर इन दोनों का प्रीतिपात्र था। और कृष्णा मंगल चौधरी का सुयोग्य मन्त्री था।[1]

साहु टोडरमल

साहु टोडर गुणी, कर्तव्य परायण, और टकसाल के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। और संभवतः वे अकबर की टकसाल का कार्यभार भी सम्पन्न करते थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। यह भटानिया कोल (अलीगढ़) के निवासी थे। और काष्ठा संघ के भट्टारक कुमार सेन की आम्नाय के श्रावक थे। और किसी समय वहां से आकर आगरा में बस गए थे, जैन धर्म के अनुयायी थे। भाग्यशाली, कुलदीपक और अत्यन्त उदार थे। इनके पितामह का नाम साहु रूपचन्द था और पिता का नाम साहु पासा। साहु टोडर देव-शास्त्र-गुरु के भक्त थे, धर्म वत्सल, विनयी, परदारविमुख, दानी, कर्तव्य परायण, परदोष भाषण में मौन रखने वाले, कृपालु और धर्म फलानुरागी थे। काष्ठा संघ के विद्वान पांडे राजमल को आगरा में इनके समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे इनका बहुत आदर करते थे, और राजमल के आज्ञाकारी थे। राजमल को वहां रह कर साहु टोडर और अकबर बादशाह को नजदीक से देखने का अवसर मिला था। इसीसे उन्होंने अपने जंबूस्वामी चरित में, जो साहु टोडर की प्रेरणा से रचा गया था अकबर की खूब प्रशंसा की गई है और शराब बन्दी तथा 'जजिया' कर छोड़ देने वाला लिखा है[2]। और साहु टोडर के तो अत्यन्त नजदीक थे ही, उन्होंने उनकी केवल प्रशंसा ही

येनाकारि महारिमानदमनं वित्तं वहुच्चाजितम्। ✗
कालिंदी सरिदंबुभिः स विधिना स्नात्वा थ विश्रान्ति के।
तामारुह्यतुलामतुल्य महिमां सौवर्ण्य शोभामयी।
मैन्द्रश्री पदमात्मसांहकृतवता संराजितं भूतले॥
तस्याग्रे गढमल्ल साहुमहती साधूक्तिरन्वर्थतो।
यस्मात्स्वामि परं बलेसमपितं गृह्णाति क्वाप्ययम्।
श्री महेष्णवधर्मकर्मनिरतो गंगादि तीर्थरतः।
श्री मानेष परोपकार करणे लभ्याच्छ्रियं शाश्वतीम्॥
तयोर्द्वयो प्रीतिरसामृतात्मकः संभाति नाना-टकसार दक्षकः॥

—जंबू स्वामिचरित १, ५६ से ५६

१. शाश्वत साहिजलालदीनपुरतः प्राप्त प्रतिष्ठोदयः।
श्रीमान् मुगलवंशशारद शुबिगिस्त्वोपकारोद्यतः। /चिरंजीव
नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सक्षात्र धर्मोन्नतेः।
तन्मंत्रीश्वर टोडरोगुणयुतः सर्वाधिकाराधितः॥

—ज्ञानार्णवटीका आद्यप्रशस्ति, ६

२. मुमोच शुल्कंत्वथजेजियाभिधं संयावदंभोधरभूधराधरम्।
धराश्च नद्यः सरितांपते पयः यशः शशी श्रीमदकब्बरस्यच।
× × ×
प्रमादमादायजनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं निवारयामास विदांवरः सहि॥

—जंबूस्वामि चरित २७-२९ पृ० ४-५

नहीं की किन्तु उनके धार्मिक कार्यों का भी उल्लेख किया है और आशीर्वाद आदि द्वारा उनकी मंगल कामना भी प्रकट की है[1]।

साहु टोडर की धर्म पत्नी का नाम कसुंभी था, उससे तीन पुत्र हुए थे। रिखीदास या ऋषभदास, मोहनदास और रूपमांगद[2]। उनमें प्रथम पुत्र रिषीदास अपने पिता के ही समान धर्मनिष्ठ, जिनवाणी भक्त और गुणी था। साहु टोडर ने आगरा में एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसका उल्लेख कविवर भगवतीदास अग्रवाल (१६५१–१७००) ने अपनी वि० सं० १६५१ सन् १५६४ में रची जाने वाली 'अर्गलपुर जिनवन्दना' नाम की कृति में किया है[3]। इससे स्पष्ट है कि साहु टोडर ने उक्त मन्दिर सं० १६५१ से पूर्व ही बनाया था। उनके उस मन्दिर में उस समय आत्म–साधिका हमीरी बाई नाम की एक ब्रह्मचारिणी रहती थी, जिसका तपश्चरण से शरीर क्षीण हो रहा था और जो सम्मेद शिखर की यात्रा करके वापिस आई थी।

मथुरा के स्तूपों का जीर्णोद्धार कार्य

एक समय साहु टोडर सिद्ध–क्षेत्र की यात्रा करने मथुरा गये थे। वहां उन्होंने मध्य में बना हुआ जम्बूस्वामी का स्तूप देखा, और उसके चरणों में विद्युच्चर मुनि स्तूप भी देखा। तथा आस–पास बने हुए अन्य साधुओं के स्तूप भी देखे, जिनकी संख्या कहीं ५ कहीं ८ कहीं १० और कहीं २० थी। साहु टोडर ने उनकी जीर्ण-शीर्ण दशा देखी जिससे उन्हें दुःख हुआ और तत्काल ही उनके समुद्धार की भावना बलवती हो उठी। फलतः उन्होंने शुभ दिन शुभ लग्न में उनके समुद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। साहु टोडर ने इस पुनीत कार्य में बहुत भारी धन व्यय किया और ५०१ स्तूपों का एक समूह और तेरह स्तूपों का दूसरा। इस तरह कुल ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के पास ही १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। इनकी प्रतिष्ठा का कार्य वि० सं० १६३० (ई० सन् १५७३) में द्वादशी बुधवार के दिन प्रातः ६ घड़ी व्यतीत होने पर सूरि मन्त्र पूर्वक किया। उस समय साहु टोडर ने वहां चतुर्विध संघ

---

१. उग्राग्रोतकवंशोत्थः श्रीपासातनयः कृती।
बर्द्धतां टोडरः साधू रसिकोऽत्र कथामृते ।। जंबू स्वामिचरित सं० ४

२. जंबू स्वामिचरित ७३ से ७७ श्लोक पृ० ६।

३. टोडारसाहु करायो जिनहर रहइ हमीरीबाई हो,
तपलंकृत वपु अतिकृशकाया जात शिखरिकर आई हो।
जात शिखरिकर आई वर्तिका तिहिथल पूज कराई।
बंद्योदेव जिनेश जगत्पति मस्तकु मेइणि लाई ।।
(देखो, जैन सन्देशशोधांक भा० २३ सं० २५ पृ० १६१
में जैन साहित्य में आगरा नाम का मेरा लेख

को आमन्त्रित किया था और सभी ने साहु टोडर को शुभाशीर्वाद दिया था[1]। और संवत् १६३२ में कवि राजमल से जंबूस्वामी चरित की रचना करवाई थी। तथा सं० १६४२ में पं. जिनदास से भी हिन्दी पद्य में उक्तचरित की रचना करवाई थी और भी अन्वेषण करने पर साहु टोडर के धार्मिक कार्यों का परिचय मिल सकता है।

साहु टोडर कवि नहीं थे, और न उन्होंने कभी किसी ग्रन्थ का निर्माण ही किया है, टोडर के नाम से जो पद मिलता है, वह किसी ब्रह्मचारी टोडर का है। जैसा कि राजस्थान ग्रन्थ सूची भा० ४ पृ० ५८२ से पता चलता है।

साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र रिखीदास या ऋषभदास ने अपने सुनने के लिये ज्ञानार्णव की संस्कृतटीका तात्कालिक विद्वान प० नयविलास से बनवाई थी। पं० नयविलास जी संस्कृत के सुयोग्य विद्वान थे, और आगरा में ही रहते थे। उस समय आगरा में अनेक विद्वान, भट्टारक और श्रेष्ठिजनों का आवास था, जो निरंतर अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुए जीवन यापन करते थे। जैसा कि ग्रन्थ की पुष्पिका वाक्य से प्रकट है:—

"इति श्री शुभ चन्द्राचार्य विरचिते ज्ञानार्णवमूल सूत्रे योगप्रदीपाधिकारे पं० नयविलासेन साह पासा तत्पुत्र साह टोडर तत्पुत्र साह रिषिदासेन न स्वश्रवणार्थं पंडित जिनदासोद्यमेन कारापितेन द्वादशभावन प्रकरण द्वितीयः।"

राजा टोडरमल

इनका जन्म संवत १५८० सन् १५२३ में अयोध्या के पास लहरपुर नामक गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम भगवतीदास था। यह जाति के खत्री थे और हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। यह प्रतिदिन देवमूर्तियों की पूजा करते थे। वह अरबी फारसी के अच्छे विद्वान थे, इन्होंने भागवत पुराण का फारसी में अनुवाद किया था, यह अच्छे कवि भी थे, यद्यपि इनका कोई काव्य ग्रन्थ देखने में नहीं आया, किन्तु फुटकर कविताएं अवश्य देखने में आती है। यह अर्थशास्त्र के अच्छे विद्वान थे। इनके पिता की बचपन में ही मृत्यु हो गई थी, माता ने इनका बड़ी कठिनता से लालन-पालन किया था। इन्होंने अकबर की सेना में कार्य किया था। कुछ दिनों बंगाल की सूबेदारी भी की थी और जमीन के लगान-आदि का सुन्दर प्रबन्ध किया था, यह अकबर के सुयोग्य सेनापति और राजस्व मंत्री थे। आपकी महती सेवाओं से प्रसन्न होकर ही अकबर ने आपको राजा की उपाधि से भूषित किया था। यह उनके विश्वास पात्र सुयोग्य व्यक्ति थे। परन्तु प्रकृति से अनुदार थे। अकबर का मंत्री अबुल फजल भी इनसे रुष्ट रहता था, और अकबर से इनकी शिकायत भी करता था। पर इनके कार्य चातुर्य के कारण अकबर उस पर कोई ध्यान नहीं देता था। इनका एक पुत्र था वह इनसे पहले ही किसी लड़ाई में दिवंगत हो चुका था और इनकी मृत्यु संवत् १६४६ सन् १५८६ में लाहौर में हुई थी।

---

१. शतानां पंच चापैकं शुद्धं चाधित्रयोदश।
स्तूपानां तत्समीपेच द्वादशंकारिकादिकम्॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात्।
शुद्धं स्त्रिशवितश्च साधिकं दधति स्फुटम्॥
—जंबूस्वामि चरित, ११८, ११९, पृ० १३

इस तरह दोनों ही टोडरमल भिन्न–भिन्न व्यक्ति हैं। साहु टोडर अकबर के राजस्व-मंत्री नहीं थे। किन्तु कृष्णा मंगल चौधरी के मंत्री थे। राजस्वमंत्री राजा टोडर मल थे। साहु टोडर को, राजा टोडरमल और अकबर के राजस्वमंत्री होने की जो कल्पना की गई थी वह कल्पित और निराधार है। ज्ञानार्णवटीका प्रशस्ति से भी यह बात फलित नहीं होती। ज्ञानार्णव टीका टोडर के पुत्र ऋषभदास ने बनवाई थी। उसमें स्पष्ट तौर पर साहु टोडर को कृष्णामंगल चौधरी का मंत्री बतलाया गया है। जैसा कि ज्ञानार्णव टीका प्रशस्ति के निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

नाम्न।कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सक्षात्रधर्मोन्नते: ॥
तन्मंत्रीश्वर टोडरो गुणयुत: सर्वाधिकाराधित: ॥

आशा है इससे अगरचन्द जी नाहटा और डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल का समाधान हो जायगा।

---

१. श्रीमत टोडर साहपुत्र निपुण: सद्दान चिंतामणि: ।
श्रीमत् श्री रिषीदास धर्म निपुण: प्राप्तोन्नतिस्वश्रिया ।
तेनाहं समवादि निपुणो ? न्यायाद्य लीलावृय ॥
श्रोतुं वृत्तिमता परं सुविषया ज्ञानार्णवस्य स्फुटं ॥५॥
ज्ञानार्णव टी० राजस्थान ग्रं० सू० भा० ४ पृ० ३२

आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण

भागचन्द्र जैन, एम. ए., आचार्य

[हरिवंश पुराण का मूल्य इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि उसमें आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओं का उल्लेख कर दिया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था, उसका शिष्य कौथुमि पुत्र, कौथुमिका अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिष्टल, कपिष्टल का विद्रावण, और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था (४५/४५–७)। यह परम्परा इस रूप में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। —सं०]

आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसे केवल पुराण कहना पर्याप्त न होगा। जितनी सामग्री इतिहास, भूगोल, दर्शन और संस्कृति साहित्य विषयक यह पुराण देता है, एक साथ उतनी अन्यत्र प्राप्त नहीं होती। एक बड़ी विशेषता यह है कि इस पुराण का रचनाकार और उसमें दिया गया ऐतिहासिक विवरण इतिहास के अन्य साक्ष्यों के आधार पर भी सही उतरता है।

आचार्य जिनसेन ने शक संवत् ७०५ में हरिवंशपुराण की रचना की। ये मुनि कीर्तिषेण के प्रधान शिष्य थे। पुन्नाटसंघ, जिसके यह एक विशेष आचार्य थे, उस शती का एक प्रसिद्ध मुनिसंघ था। जैन आचार्य होने के नाते जिनसेन को जैन दर्शन, संस्कृति और साहित्य का जितना ज्ञान था उससे पूर्वकालीन और समकालीन साहित्य और संस्कृति का ज्ञान कम न था। मुनि होने के बावजूद उन्होंने एक बहुत बड़ी साहित्यिक साधना की और जिसके अमृतोपम उपहार के रूप में भारतीय वाङ्मय को हरिवंशपुराण सौंपा।

हरिवंशपुराण में ६६ सर्ग हैं, जिनमें ८८७३ छोटे बड़े पद्य हैं। समस्त सामग्री को आठ मुख्य अधिकारों में विभाजित करके उसका विश्लेषण किया गया है—१–लोक के आकार का वर्णन, २–राजवंशों की उत्पत्ति, ३–हरिवंश का अवतार, ४–वसुदेवकी चेष्टाओं का वर्णन, ५–भगवान नेमिनाथ का चरित्र, ६–द्वारिका का निर्माण, ७–युद्ध का वर्णन, और ८–निर्वाण।

हरिवंशपुराण में समग्र हरिवंश का वर्णन किया गया है। इसीलिए इसका नाम हरिवंश पड़ा। 'हरि' भगवान श्री कृष्ण का दूसरा नाम है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ श्री कृष्ण नारायण के चचेरे भाई थे। इस तरह दोनों महापुरुषों का जीवन चरित्र हरिवंश का मुख्य उपजीव्य बना। हरिवंश की उत्पत्ति के विषय में जिनसेन ने लिखा है कि राजा आर्य विद्याधर और मनोरमा विद्याधरी के 'हरि' नामक पुत्र हुआ था, जिससे हरिवंश चला। कुरुवंश, उग्रवंश, सूर्यवंश आदि इसी हरिवंश की शाखाएं हैं। इसी वंश से यदु राजा हुए,

जिनसे यादव वंश चला। इस प्रकार हरिवंश की विषय वस्तु का आधार महाभारत की सम्पूर्ण कथावस्तु तो है ही, जैन महापुरुषों के जीवन चरित भी हैं।

महाभारत की कथावस्तु को हरिवंशकार ने जैन ढांचे में ढाल कर लिखा, इसीलिए महाभारत से इसका मेल नहीं खाता। कथावस्तु में तो परिवर्तन हैं ही, वर्णन और व्याख्या में भी कहीं २ कुछ एक दम नवीन और विशेष बातें कही गई हैं, जो रोचक भी है और गवेषणीय भी। उदाहरण के तौर पर द्रोपदी के पांच पति नहीं थे। कुछ लोगों ने एक प्रसंग की अन्यथा व्याख्या करके इस तरह की विकृति कायम की। द्रोपदी के स्वयम्वर में अर्जुन ने गाण्डीव द्वारा चक्र बेधा और द्रौपदी ने आकर उनके गले में वरमाला डाल दी। मौके की बात कि वरमाला टूट गई और हवा के झौके में वह पास खड़े हुए पाण्डवों पर आ गिरी। लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि द्रौपदी ने पांचों का वरण किया है। जिनसेन ने अपने इस कथन का आगे और भी समर्थन किया है। लिखा है कि युधिष्ठिर, भीम, द्रौपदी को बहू जैसा मानते थे तथा नकुल और सहदेव माता के समान। द्रौपदी भी युधिष्ठिर और भीम को अपने श्वसुर पाण्डु के समान ही सम्मान देती थी तथा नकुल और सहदेव दोनों देवरों को अर्जुन के प्रेम के अनुरूप उचित बुद्धि। (४५।१३७–१५१)।

इसी तरह जिनसेन ने कीचक को विराट का सेनापति न बता कर उसका साला बताया है। भीम ने कीचक को द्रौपदी की छेड़खानी करने पर जान से नहीं मारा, केवल मुट्ठियों से अधमरा कर क्षमादान दे दिया। कीचक बाद में सांसारिक दशा पर विचार करता हुआ साधु हो गया (४६।२४)।

महाभारत के युद्ध में जहां कौरव और पाण्डव मूल कारण माने जाते हैं वहां इस ग्रन्थ में जरासंध और यादव वंशी श्री कृष्णनारायण तथा बलभद्र को कारण बताया है। इसी ग्रन्थ में एक ओर से कौरव और दूसरी ओर से पाण्डव युद्ध करते हैं। भगवान् नेमिनाथ ने भी इस युद्ध में सक्रिय भाग लिया, अन्त में पाण्डव और दुर्योधन वगैरह जिनदीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। अन्य जैन ग्रन्थों में भी लगभग ऐसी ही कथावस्तु प्रस्तुत की गई है।

नारद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि सौर्यपुर में सुमित्रा नामक तापस और सामायशा नामक स्त्री से, चन्द्रकान्ति के समान एक पुत्र रत्न हुआ। एक दिन बालक को एक वृक्ष के नीचे रख कर वे दोनों उंछवृत्ति (अनाज के कण चुगना) के लिए चले गए। इतने में जृम्भकदेव पूर्वभव के स्नेह से बालक को वैताढ्य पर्वत पर ले गया। उन्होंने उसका कल्पवृक्षों से उत्पन्न आहार द्वारा भरणपोषण किया। आठ वर्ष की ही अवस्था में उसे जिनागम और आकाश गामिनी विद्या प्रदान की। वही आगे चल कर नारद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण थे। वे साधु के वेष में रहते थे तथा साधुओं के वैयावृत्य से संयमासंयम देश व्रत प्राप्त किया था। वे काम को जीतने वाले होकर भी काम के समान विभ्रम को धारण करने वाले थे। कामी मनुष्यों को प्रिय हास्यस्वभावी, अलोलुपी, चरमशरीरी, निष्कषायी तथा युद्ध प्रिय थे। महान् प्रतिवादियों के देखने का कौतुहल होने से लोक में विभ्रम पूर्वक परिभ्रमण करते थे। (४२।१३–२३)।

यहां यह बात विचारणीय है कि जैन परम्पराओं में नारद को नरकगामी बताया गया है जब कि आचार्य जिनसेन ने उन्हें चरमशरीरी बताया है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव श्री कृष्णनारायण ने लोक में अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि हेतु बलभद्र को उनकी मूर्ति निर्माण कर घर-घर में प्रचलित करने को कहा, जिसे बलदेव ने बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया।

इसी ग्रन्थ में ४६ वें सर्ग में दुर्गापूजा की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। श्री कृष्ण की छोटी बहन आर्यिका होकर विन्ध्याटवी में तपस्या करने लगी। भीलों ने इसे देवी समझ कर वरदान प्राप्ति के लिए प्रार्थना की और 'मौनं सम्मत्तिलक्षणं' के अनुसार धन लूटने की आशा में निकल पड़े। अपने उद्देश्य में सफलता पाकर पुनः देवी के पास प्रार्थनाएं करने लौटे। इधर देवी को सिंह ने खा डाला था। केवल तीन अंगुलियां शेष पड़ी हुई थीं। रुधिर व्याप्त उस क्षेत्र को देख कर देवीजी रुधिर में ही सन्तुष्ट होती हैं। सोच कर उन्हीं तीनों अंगुलियों को देवता रूप में संस्थापित कर दिया और जंगलीजीवों का बलिदान करने लगे। इस बलिदान से वहां की चतुर्दिशाएं दुर्गन्धित होने लगी। मक्खियां और मच्छर उनराने लगे। बाद में उन्हीं अंगुलियों में त्रिशूल की कल्पनाकर कवियों ने उसे दुर्गादेवी बना दिया।

आचार्य यहां बड़े व्यंग्यात्मक स्वर में कहते हैं कि उत्तम देवगति की बात तो छोड़िए, निकृष्ट देवगति में भी कोई देव भैंसाओं का रुधिर पान करने वाले एवं हाथों में त्रिशूल धारण करने वाले नहीं हैं और न वे परस्पर एक दूसरे के घातक ही हैं। फिर भी कवि स्फुट चित्रकार के समान जरा सी भित्ति का आधार लेकर सत्पुरुषों को भी दूषण लगाने वाली कविता लिख डालते हैं (४६।२६–३५) यदि। यह बात सत्य है तो दुर्गा पूजा की मान्यता के इतिहास में यह एक नया अध्याय होगा।

इसी प्रकार वेदों की उत्पत्ति (२३।४२–४५)। यादव वंश की उत्पत्ति (१८।६) प्रयाग का नाम करण (६।६६), साकेत का नामकरण (८।१५०), नागपुर और मथुरा का नामकरण (१७।१६२)। द्वारकापुरी की स्थापना आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिन पर अन्वेषकों को गम्भीर और निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहिए।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश में धर्मशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र और संगीत शास्त्र का तो जैसे सारा मर्म उड़ेल दिया। राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर स्वरूप लोकालोक विभाग का सांगोपांग निरूपण (४, ५, ६, ७ वां सर्ग), भगवान् नेमनाथ की दिव्य ध्वनि के प्रकरण में सप्त तत्वों का पर्याप्त विवेचन (४७ वां सर्ग) उपवासों की विधि और प्रकार (३४ वां सर्ग) आहारदान देने की प्रक्रिया (६।२००) और द्वादशांग आदि का वर्णन (१० वां सर्ग) बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इसे पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे तिलोयपण्णत्ति, तत्वार्थसूत्र, सवार्थ-सिद्धि और गोमट्टसार जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों को कवि ने श्लोकबद्ध कर दिया हो। सामुद्रिक-शास्त्र और संगीत शास्त्र (१६।१४१–२६१) का भी प्रसंगवश खूब वर्णन किया है। नाट्य शास्त्र के पन्ने के पन्ने पलटते हुए मालूम पड़ते हैं (१६।१४१–२६१)। आयुर्वेद शास्त्र का भी एक जगह वर्णन किया है।

हरिवंशपुराण की सांस्कृतिक सामग्री की ओर भी देखें । भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के प्रकरण में चारों दिशाओं के अनेक नगरों का उल्लेख है—कुरुजांगल, पांचाल, सूरसेन, पटच्चर तुलिंग, काशी, कौशल्य, मद्राकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मात्स्य, काम्बोज, यवन, आभीर भद्रक, क्वाथतोय, शूर, वाटवाता, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे । खंग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, युवक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, बंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे । बाणमुक्त, वेदर्भमाणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिष्क, पुरुष और भोगवर्द्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे । माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सूर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद ये पश्चिम दिशा के देश थे । दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे । भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव और वज्रखण्डिक ये देश मध्यदेश के आश्रित थे । (११।५७–७४) ।

तत्कालीन सामाजिक जीवन की बहुविध सामग्री की कुछ जानकारी इस प्रकार आई है—उस समय आभूषणों में कुण्डल, बाजूबन्द (८।२६), आदि पहने जाते थे । भेरी, पटह, मृदंग, शंख, आदि समय २ पर बजाए जाते थे । (८।१५७), वीणा, बांसुरी आदि संगीत के प्रमुख साधन माने जाते थे । पुरांगनाएं उवटन, महावर आदि (८वां सर्ग) लगाया करती थी । वृद्धाएं प्रायः त्रिपण्डाकार तिलक लगाती थी (२२।४७) विषम मार्ग को बकरे पर सवार होकर सकुशल तय किया जाता था (२१।१०२), भोजन करने के बाद सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित पानी से कुरला किया जाता था (२६।२७–२८) । बाद में पान, सुपारी, खिलाई जाती थी । पान को थूकने के लिए पीकदान भी रखा रहता था । (८।५०), महाकवि बाण कृत कादम्बरी और हर्षचरित में भी इनके उल्लेख आए हैं ।

उन दिनों भी व्यायाम करने की प्रक्रिया आज जैसी ही थी । गोलाकार अखाड़ा होता था जिसमें पहलवान लोग अपने २ दावपेच दिखाते थे । इस ग्रन्थ को देखने से यह भी पता चलता है कि आज जो मुष्टि युद्ध लोकप्रिय हो रहा है, वह पाश्चात्य देशों की देन नहीं है । हमारे देश में प्राचीनकाल में मुष्टि युद्ध का आम रिवाज था । श्री कृष्ण और बलभद्र ने चाणूर और मुष्टिक पहलवान को मुष्टि युद्ध से ही पराजित किया था । (३६।४५) । अन्य अनेक ग्रन्थ भी इसके प्रमाणभूत है ।

प्रथाओं में दहेज प्रथा का भी उल्लेख है । यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दहेज' शब्द का न नाम आता है और न उसकी मांग की जाती है । खुशी से लड़की वाला लड़के को यथाशक्ति और यथेच्छानुसार दे देता है । उस समय मामा की लड़की से भी शादी की जा सकती थी । चारुदत्त का विवाह उसके मामा की लड़की से किया गया था (१६–३८) । भगवान् नेमिनाथ के माता पिता ने ही ऐसा प्रस्ताव रखा था । अर्जुन और सुभद्रा का सम्बन्ध भी ऐसा ही था । आज भी दक्षिण में यह प्रथा जहां कहीं दिखाई देती है । अन्य संस्कृत महाकवियों ने भी इस प्रथा का उल्लेख किया है ।

हरिवंशपुराण का मूल्य इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि उसमें आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओं का उल्लेख कर दिया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था उसका शिष्य कौथुमि पुत्र, कौथुमि का अमरावर्त, अमरावर्तका सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिष्ठल, कपिष्ठल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सरवट, सरवट का शरासन, शरासन का रावण, रावण का विद्रावण, और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था (४५।४५–७)। यह परम्परा इस रूप में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

इस तरह भगवान महावीर के निर्वाण बाद की आचार्य परम्परा भी ग्रन्थ के अन्त में दे दी गई है। वहां बताया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ६२ वर्ष में क्रम से गोतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष में समस्त पूर्वों को जानने वाले नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुत केवली हुए। तदनन्तर १८३ वर्ष में विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि १० पूर्व के धारक हुए। उनके बाद २२० वर्ष में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पांच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। तदनन्तर ११८ वर्ष में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्यगुरु ये चार मुनि आचारांग के धारी हुए।

इनके बाद महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्त ऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्बली, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपिसेन, श्रीधर सेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, और शांतिसेन आचार्य हुए, तदनन्तर षटखण्डों (जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध) के ज्ञाता कर्मप्रकृति रूप श्रुत के धारक जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण प्रभावशाली और समस्त सिद्धांतरूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाटगण के आचार्य थे। जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परमतपस्वी, १०० वर्ष की आयु के धारक एवं दाताओं में मुख्य इन अमितसेन आचार्य ने शास्त्र दान के द्वारा पृथ्वी में अपनी वदान्यता प्रकट की थीं। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण मुनि थे जो बहुत ही शान्त एवं पूर्ण बुद्धिमान थे। शरीर धारी धर्म के समान जान पड़ते थे और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओं में प्रसारित कर रहे थे। उनके प्रथम शिष्य आचार्य जिनसेन हुए जो इस महान ग्रन्थ के रचयिता हैं।

जिनसेन ने ग्रन्थ के प्रारम्भ बड़े सम्मान के साथ अपने पूर्ववर्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन देवनन्दि, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जयसिंहनन्द, शान्त (शान्तिषेण) विशेषवादी, कुमारसेन, गुरु, वीरसेन गुरु, जिनसेन स्वामी और वर्द्धमान पुराण के कर्ता (अज्ञात) नाम स्मरण किया हैं।

साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हरिवंश मे अनेक बातें दिखाई देती हैं। हरिवंश में प्रायः सभी प्रधान छन्दो का उपयोग जिनसेन ने किया है····इसमें अनुष्टप् ६५८, द्रुत

७७, पृथ्वी ७२, नरकुटक ५१, शार्दूल ३४, आर्या, २८, स्रग्धरा १४, त्रोटक द्वय सहित त्रोटक १०, शालिनी ६, दोधक ७, उपजाति ६, मन्दाक्रान्ता २, शिखरणी १, आर्यागीति १, इन्द्रवज्रा १, हरिणी १, इस तरह कुल मिलाकर ८८७३ पद्य हैं। सर्गों के अन्त में प्रायः छन्द बदल दिये गये हैं। छन्दों का प्रयोग रस और वर्णन के अनुसार किया गया हैं। भगवान, नेमि-नाथ के वैराग्य वर्णन में द्रुतविलम्बित और बलदेव के विलाप वर्णन में रथोद्धतावृत से सजीवता और भी चमक उठी है।

जिनसेन की चित्रांकन प्रतिभा बेजोड़ थी, हरिवंश के वर्णन पढ़ते आंखों के सामने एक के बाद एक चित्र से उभरते लगते हैं। सन्ध्या, रात्रि, उषाकाल, षडऋतु, जलक्रीडा, ब्याह, वैराग्य, युद्ध इत्यादि के वर्णन अपने ढंग के अनूठे हैं।

भाषा और अलंकार योजना की दृष्टि से हरिवंश की अपनी विशेषता है। इतनी प्रांजल किन्तु सरल और प्रवाहमय भाषा के नमूने उस शती में नहीं मिलते। प्रस्तुतग्रंथ के अनुरुप अलंकार विधान एक बड़ी बात है, और यदि वे अनायास आए हों तो काव्य उच्च श्रेणी का माना जाता है। हरिवंशकार को इस दृष्टि से 'रससिद्धकवीश्वर' मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

हरिवंश की इस बहुविध सामग्री को देख कर निसंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि जिनसेन ने भारतीय वाङ्गमय को एक अमूल्य रत्न प्रदान किया है। अब तक इस सामग्री के उपयोग में कठिनाई थी, किन्तु भारतीय ज्ञानपीठ काशी के संस्करण में वह भी दूर हो गई। ललित हिन्दी अनुवाद और अनेक परिशिष्टों के कारण यह ग्रन्थ साधारण कथा प्रेमियों से लेकर शोध-खोज करने वाले विद्वानों के लिए भी उपयोग की वस्तु बन गया है।

महाकवि रइधू—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रो० राजाराम जैन एम० ए०, आरा

[रइधू साहित्य में छन्द एवं शब्द शास्त्र का व्यवस्थित ज्ञान तथा काव्यों में स्वाभाविक प्रवाह रहने पर भी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है। शान्तरस की प्रमुखता होने पर भी रइधू–साहित्य में प्रसंगवश श्रृंगार, वीर, रौद्र वीभत्स आदि रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। कल्पनाएं मानवीय एवं लोकोक्तियां एवं मुहावरे जन-सामान्य के बीच के ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति चित्रण एवं नगर–वर्णन जहां एक ओर कवि की पैनी प्रतिभा की सूचना देते हैं वहीं मालव जनपद का एक सजीव इतिहास भी उपस्थित करते हैं। —स०]

कड़ाके की शीतभरी अर्धरात्रि, सृष्टि का वातावरण शान्त किन्तु कालिमा में सराबोर, निद्रा के इन्द्रजाल में आबाल–वृद्ध नर–नारी बेसुध; जब कभी घण्टे–घड़ियाल पिटकर समय की सूचना दे देते हैं। सर्वत्र एक अजीव सी व्यस्तता फैली है जो विश्रान्ति की प्रतीति कराती है।

नगर के परले सिरे के भवन में एक साधारण सा कमरा है उसमें भी व्यस्तता घिरी है किन्तु इसका प्रकार भिन्न है, खिड़कियों से टिमटिमाता प्रकाश बाहर झांकने के लिए प्रयत्नशील, एक राजर्षि तुल्य साधक कागजों के अम्बार में घिरा बैठा है, ग्रन्थों की बहुलता के कारण यह जानना भी कठिन है कि साधक सोता कहां है? तथ्य यह है कि दीपक की रोशनी में जब कलम चलती तो फिर विश्राम का प्रश्न ही नहीं उठता। घोर जाड़ा हो चाहे चिलकती गर्मी या अन्धाधुन्ध वर्षा, उसके जीवन का यही क्रम चला है। अनवरत और अथक सरस्वती की सेवा उसके जीवन का दृढ़व्रत रहा है। कार्य ही जिसका रस और उसमें तल्लीनता ही विश्रान्ति। सात्विक एवं समर्थ साहित्य के निर्माण द्वारा लोकरंजन ही जिसके पुण्य अवसर एवं त्यौहार पर्व थे। बस इस ओर उस व्यस्तता में यही कर्मभेद चला है। जीवन के ऐहिक सुखों को मां–भारती की पुण्य वेदिका पर समर्पित कर अर्ध्यदान देने वाले उक्त महान् साधक का नाम अत्यन्त छोटा सा है–रइधू–जो अपने समय में सभी जनों के हृदयों का हार बन चुका था।

घटना लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व की है। गोपाद्रि (ग्वालियर, मध्य प्रदेश) के पुण्य अंचल में उक्त साधक का जन्म हुआ था। उनके बचपन का नाम तो सम्भवतः उनके पुण्य शरीर के साथ ही लुप्त हो गया किन्तु महाकवि रइधू के नाम से कुछ इने–गिने लोग उन्हें जानते हैं। महाकवित्व एवं पाण्डित्य उन्हें विरासत में सम्भवतः अपने पिता से प्राप्त हुआ था, जिन्हें विद्वानों की सभा में सर्वोच्च सम्मान मिलता था। इसका भान सम्भवतः

कवि को भी न था। एक दिन जब वे अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित न कर सकने के कारण व्यग्र एवं निराश से थे उसी स्थिति में उन्हें निद्रा आ गई और तभी उन्हें सरस्वती देवी ने स्वप्न में दर्शन देकर काव्य-रचना की प्रेरणा दी:—

सिविणंतरे दिट्ठ सुयदेवि सुपसण्ण
आहासए तुज्झ हउं जाएसु पसण्ण
परिहरिहिं मण चित करि भव्व णिस कव्वु
खलयणहं मा डरहिं भउ हरिउ मइ सव्वु
तो देवि वयणेण पडिउवि साणंदु
तक्खणेण सयणाउ उटिठउ जि गय तंदु
(महाकवि रइधू कृत सन्मति जिन चरित) १।४।२-४

अर्थात् प्रमुदित (मना) सरस्वती देवी ने स्वप्न में (मुझे) दर्शन दिया (तथा) कहा (कि) मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। मन की चिन्ता छोड़, हे भव्य, (तू) निरन्तर (प्रतिदिन) काव्य (रचना) किया कर। दुर्जनों से मत डर, (क्योंकि) भय सम्पूर्ण बुद्धि का अपहरण कर लेता है। उस देवि के वचनों से प्रतिबुद्ध हो (मैं) आनन्दित हो उठा। उसी समय मेरी निद्रा टूट गई (और मैं) बिस्तर से उठ बैठा। इस स्वप्न ने कवि को प्रबुद्ध-चित्त बना दिया था। यही कारण है कि वे साहित्य-सेवा की ओर अग्रसर हुए। उस क्षण से कवि का जीवन जैसा बना वह ऊपर लिखा जा चुका है। लगभग ६०-७० वर्षो के अल्पजीवनकाल में भी वे ऐसे विशाल अपभ्रंश-साहित्य का निर्माण कर सके जिससे कि एक स्वतन्त्र छोटा सा ग्रन्थालय ही बन सकता है। उनकी रचनाओं में से अभी तक २३ कृतियों का पता चल सका है, जो कि जयपुर, आमेर, ब्यावर, झालरापाटन, बम्बई, नागौर, दिल्ली, बाराबंकी, नजीबाबाद; हिसार, आरा तथा चंदेरी के शास्त्र-भण्डारों में फुटकर रूप में सुरक्षित है। हिसार (पंजाब) ग्वालियर, उज्जैन, पवाया के शास्त्र भण्डार या राजकीय ग्रन्थालयों में भी वे अवश्य होनी चाहिए। क्योंकि रइधू का कार्यक्षेत्र ग्वालियर ही रहा है। उनकी उपलब्ध रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(क) चरित-काव्य—(१) सुकौशल चरित, (२) मेघेश्वर चरित, (३) धन्यकुमार चरित, (४) सन्मति जिन चरित, (५) जीवन्धर चरित, (६) पद्म चरित, (७) करकंडु चरित, (८) श्रीपाल चरित, (६) सम्यक्त्वगुणनिधान एवं (१०) यशोधर चरित।

(ख) कथा साहित्य—(१)पुण्याश्रव कथा (२) अणथमी कथा (३) सम्यक्त्वकौमुदी।

(ग) पुराण-साहित्य—(१) हरिवंश पुराण, (२) पार्श्व पुराण, (३) महापुराण।

(घ) सिद्धान्तआचार—(१) सिद्धान्तसार, (२) वृत्तसार, (३) आत्मसंबोध काव्य, (४) सम्यग्गुणारोहण, (५) उपदेश रत्नमाला।

(च) अध्यात्म—(१) षोडशकारण पूजा-जयमाल, (२) दशलक्षण जयमाल।

उक्त रचनाओं की नामावली तथा विषय-प्रकार देखने से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि कवि का ज्ञान सर्वांगीण तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार

था। कवि की रचनाओं में आश्रयदाताओं, नगर सेठों के प्रति बड़ी ही मंगल कामनाएं व्यक्त की गई हैं। क्योंकि वे एक ओर जहां विपुल सम्पत्ति का अर्जन करते थे वहीं उसका सदुपयोग करना भी जानते थे। साहित्य-सेवा के निमित्त अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग वे उचित समझते थे। इससे नवीन साहित्य का निर्माण भी होता था तथा ग्रन्थ-प्रशस्ति में उनका परिचय आ जाने से वे अमर, यशस्वी भी बन जाते थे। अवत्र एवं मालव जनपद की यह परम्परा बेजोड़ रही है। ग्वालियर के सेठ कमलसिंह, खेऊसिंह, होंलू साव, रणमल्लसाव, दिल्ली के लोणासाहू, आदि नगरसेठों के संरक्षण में रइधू ने विशाल साहित्य का निर्माण किया तथा उन्हें सदा के लिए अमर बना दिया। महाकवि बनारसीदास को भी आगरा के एक बेचारे गरीब हलवाई ने आश्रय दिया था तब कहीं वे हिन्दी साहित्य में बेजोड़ एवं सर्वप्रथम आत्म चरित्र "अर्धकथानक" लिख सके थे। आजकल यह कह सकना कठिन है कि मालवा ग्वालियर तथा आगरा के नगर सेठों में वह प्रवृत्ति शेष रही या नहीं ? लेकिन उक्त पुण्य-भूमियों के निवासियों के प्रति लेखक अपनी श्रद्धा व्यक्त करना चाहता है क्योंकि उन्हें संत रइधू और बनारसीदास की जन्म एवं साधना स्थलियों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। वास्तव में उक्त स्थल साहित्यकारों के लिए पुण्य-तीर्थों से कम नहीं।

रइधू साहित्य में छन्द एवं शब्दशास्त्र का व्यवस्थित ज्ञान तथा काव्यों में स्वाभाविक प्रवाह रहने पर भी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों की छटा दर्शनीय है। शान्तरस की प्रमुखता होने पर भी रइधू साहित्य में प्रसंगवश शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स आदि रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। कल्पनाएं मानवीय एवं लोकोक्तियां एवं मुहावरे जन-सामान्य के बीच के ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति--चित्रण एवं नगर वर्णन जहां एक ओर कवि की पैनी प्रतिभा की सूचना देते हैं वहीं मालव-जनपद का एक सजीव इतिहास भी उपस्थित करते हैं। ग्वालियर के सुप्रसिद्ध तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह जैनधर्म, साहित्य एवं कला से कितने प्रभावित थे इसके कई प्रसंग रइधू ने अपनी प्रशस्तियों में दिए हैं। यहां भी एक प्रसंग दिया जा रहा है। उसका सम्बन्ध रइधू, सेठ कमलसिंह एवं राजा डूंगरसिंह से है। कमलसिंह के मन में यह इच्छा होती है कि महाकवि रइधू उनके स्वाध्याय के लिए एक कोई चरित्र-ग्रन्थ लिख दें। वे रइधू से अपनी उक्त इच्छा व्यक्त करते हैं जिसे कि रइधू स्वीकार कर लेते है। इधर कमलसिंह या तो राजा के सम्भवतः वित्तमन्त्री थे अथवा दीवान या कोई अन्य सम्मानित एवं विश्वस्त पदाधिकारी। अतः वे अपने किसी भी व्यक्तिगत या सामाजिक या धार्मिक कार्यारम्भ की सूचना राजा को देना अत्यावश्यक समझ वे राजा डूंगरसिंह के पास जाते हैं तथा उन्हें रइधू के द्वारा ग्रन्थ लिखाने की सूचना देते हैं। कमलसिंह की उक्त सूचना से यह तात्पर्य भी हो सकता है कि ग्रन्थ समाप्ति के बाद रइधू तथा उनकी कृति को कोई राज सम्मान या सवारी आदि मिले जैसी कि "भरतेश-वैभव" के लेखक रत्नाकर वर्णी को दक्षिणभारत के किसी राजा ने उक्त ग्रन्थ की परिसमाप्ति के बाद राजकीय सम्मान देकर हाथी पर उनका शानदार जुलूस निकाला था। मेरे अनुमान से कमलसिंह के मन में ऐसा ही कोई भाव रहा होगा। अतः वह प्रसंग देखिए।

राजा डूंगरसिंह कमलसिंह से कहते हैं:—

पुण्ण कज्जु जं तुव मणि रुच्चइ, तं विरयहि साहु समुच्चइ।
जे पुणु अण्ण के वि सुसहायण, करहु करहु ते धम्म महायण।
किंपि संक मा किज्जहु चित्तहिं. संतुट्ठउह धम्म णिमित्तहिं!
जहिं सोरट्ठि वीसलणिव रज्जहिं, धम्मु परिट्ठउ चियणिरवज्जहिं।
वच्छतेय पालक्ख वणिदहिं, पवरतित्थ णिम्पिय गय दंतहिं।
जिहु पेरोजसाहि सुपसायं, जोइणिपुरि णिवसंत अमायं।
सारंग साहु णाम विक्खायं, पविहिय जत्त धम्म अणुराएं।
तिह तुहुं विरयहि एत्थु गुणायरु, लइ लइ पउरु दव्वु धम्मायरु।
न सु जेत्तड उ विरि अच्छइं, सो सयलु जिवेक्खउ कयणिच्छइं।
ऊणइं हउं असेसू पूरेसमि, जं जं मग्गहु तं तं देसमि।
पुणु पुणु एम तेण तहिं भणिउं, पुणु तंबालु देवि सम्माणिउ।
पुणु सुरिताण सीह णियमिच्चहु, सामिय धम्म चिंतिय मणिच्चहु।
तहु आएसु णिवेण पुणु दिण्णउ, किज्जहिं धम्म सहाउ अछिण्णउ।
कमलसीहु जं तुम्ह भासइ, तं तहु पविहिज्जहिं सुसम.ासइ।
भणिवि पसाउ तेण पडिवण्णउ, अज्जुसामि किंकरु हउं धण्णउ।
(सन्मति चरित्र १।१५।७-२३)

भावार्थ—हे कमलसिंह, आप में (महाकवि रइधू से सन्मति चरित्त) लिखाने सम्बन्धी पुण्यकार्य करने की जो अभिरुचि जागृत हुई है उसे आप निश्चित मन से पूरा करें। मैं आपके इस कार्य से अत्यन्त सन्तुष्ट हूं। जिस प्रकार सोरठ देश के राजा वीसलदेव के राज्य में धार्मिक प्रवृत्तियां बेरोकटोक हुआ करती थीं, जिस प्रकार महामन्त्री, वणिग्वर वस्तुपाल तेजपाल ने श्रेष्ठतम तीर्थों का निर्माण किया तथा दिल्ली में जिस प्रकार राजा फिरोजशाह के समय में सेठ सारंग शाह ने अनुराग पूर्वक धर्मयात्रा करके विपुल नाम कमाया था उसी प्रकार आप भी अपने को मेरे राज्य में समझें। खूब मनचाहे धार्मिक कार्यों को करके अपना नाम कमायें। यदि उन्हें पूरा करने के लिए आपके पास द्रव्य की कमी हो तो मुझे बतायें, मैं उसे पूरा करूंगा। धर्म के विषय में आप जो मांगेगे, मैं वही मुंहमांगा दूंगा (जं जं मग्गहु तं तं देसमि), राजा ने यही बात बार २ समझाकर कमलसिंह को पान का बीड़ा देकर सम्मानित किया। राजा के इस आश्वासन एवं सम्मान से कमलसिंह का हृदय गद्गद् हो उठा। चलते समय उन्होंने नमस्कार करते हुए कहा:—हे राजन्, आज मेरा हृदय आपकी उदारता से प्रतिबुद्ध हो गया है। आप जैसे स्वामी को पाकर मै तुच्छ सेवक धन्य होगया।

उक्त चर्चा जिस समय की है, उस समय ग्वालियर में राजा डूंगरसिंह (वि० सं० १४८१—१५१५) का राज्य था। उसके विवेक एवं पौरुष के कारण उनका राज्य सशक्त सुरक्षित एवं समृद्ध बन गया था। प्रजा भी सभी प्रकार से सन्तुष्ट थी। जैन धर्म में उसकी गहरी निष्ठा थी। उसने ग्वालियर दुर्ग में सहस्त्रों रुपये व्यय करके कई कलापूर्ण जैन मूर्तियों का निर्माण कराया था। उनका पुत्र राजा कीर्ति सिंह भी जैन धर्म का परम श्रद्धालु था।

कहते हैं कि ग्वालियर दुर्ग में जिस समय जैन मूर्तियों का निर्माण कार्य चालू था उसी समय राजा डूंगरसिंह का स्वर्गवास हो गया तो कीर्ति सिंह ने उसे पूरा किया था। इस प्रकार उक्त कार्य ३३ वर्ष तक चला था। उन मूर्तियों में भ० आदिनाथ की एक विशाल मूर्ति भी थी, जिसकी ऊंचाई ५७ फीट थी और जिसकी प्रतिष्ठा स्वयं रइधू ने कराई थी। इस पुण्य मूर्ति का अनुपम सौन्दर्य श्रवणबेलगोला के भ० बाहुबलि का स्मरण करता है। राजा डूंगरसिंह ने रइधू के लिए अपने किले में प्रश्रय भी दिया था जहाँ रह कर उन्होंने कुछ रचनाएं लिखी थीं:—

"गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतिउ बहुसुहेण तहिं।"

प्रस्तुत महाकवि ने जोगिनिपुर (दिल्ली) तथा हिसार तक की यात्रा की थी। हिसार में जाकर उन्होंने कुछ लिखना भी चाहा था, कुछ लिखा भी, किन्तु उनका मन जैसा मालव जनपद के गले के हार-स्वरूप ग्वालियर में रमता था वैसा अन्यत्र नहीं। कवि ने इसीलिए ग्वालियर को श्रेष्ठतम नगरों के गुरु (णं वरणयरहं एहु गुरु) का एक गुरु कहा है। क्योंकि वहां के लोग परोपकारी, देवशास्त्र गुरु के परम भक्त, विनयशील तथा सत्यनिष्ठ थे। श्रावक-सप्त व्यसनों से रहित व्रताचरण करने वाले थे। वे जिन-महिमा तथा प्रभावना अंग के पोषक थे। जिनवाणी के सुनने से तृप्त तथा आत्मचिन्तन को सर्वोपरि समझते थे। नारी समाज के शीलव्रत, आचार-विचार, उदार-स्वभाव एवं आतिथ्य-सत्कार के प्रति तो कवि इतना अधिक प्रभावित था कि उसके विषय में कवि को स्वतन्त्र रूप से ही कुछ पंक्तियां लिखनी पड़ी।

ग्वालियर में कुछ जैन उपाश्रय भी बने हुए थे, जिनमें से दो प्रमुख थे, जो क्रमशः नेमिनाथ तथा वर्धमान जिन मंदिरो के पास बने थे। कवि ने उन उपाश्रयों में बैठकर भी अपनी कुछ रचनाएं लिखी थीं। उसने उन आश्रयों को "कवित्त रूपी रसायन-निधि से रसाल" कहा है :—

एरिस सावयहिं विहियमाणु णेमीसर जिणहरि वड्ढमाणु।
णिवसइ जा रइधू कवि गुणालु सुकवित्त रसायण णिहि रसालु॥

अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त रइधू की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में विस्तृत प्रशस्तियां लिखी हैं जिनके माध्यम से ग्वालियर, पद्मावती, उज्जयिनी, दिल्ली, हिसार आदि से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। अपने आश्रय-दाताओं, राजाओं नगरसेठों पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों, विद्वानों एवं भट्टारकों के नामों की खासी सूचियां भी इस साहित्य में उपलब्ध हैं। बस, कमी खटकती है तो यही एक, कि उसने स्वयं अपना पूरा २ परिचय नहीं दिया। फिर भी मधुकरी-वृत्ति से जो कुछ पता चल सका है उसके अनुसार उनका जीवन परिचय इस प्रकार है :—

महाकवि रइधू संघपति देवराय के पौत्र एवं विजयश्री तथा हरिसिंह संघपति के पुत्र थे। वे तीन भाई थे बाहोल, माहणसिंह एवं रइधू। उनका मन परोपकार में अधिक लगता

था। कुशाग्र बुद्धि के भी थे अतः साहित्य–सेवा के द्वारा वे जिज्ञासु भव्यों का परोपकार किया करते थे। जैसा कि पहले कहा है राजा डूंगरसिंह एवं उसके पुत्र राजा कीर्तिसिंह इनके बड़े भक्त थे। कई नगर सेठ भी इनके परम भक्त एवं आज्ञाकारी थे। कुछ भक्तजनों की इच्छा पूर्ण करने के निमित्त इन्होंने अपनी रचनाएं लिखी थीं। उनकी प्रत्येक ग्रन्थ प्रशस्ति में यह उल्लेख मिलता है कि कौन सी रचना किसके लिए लिखी थी।

इनकी रचनाओं में इनकी जन्मतिथि का उल्लेख नहीं है। अन्य कोई ऐसे साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं जिनसे कि उसकी जानकारी प्राप्त की जा सके। किन्तु इन्होंने अपनी एक रचना "धन्यकुमार चरित" में भट्टारक गुणकीर्ति को अपना गुरु माना है जिनका समय वि० सं० १४६८–१४७३ के लगभग है। इसी प्रकार इनकी एक रचना हरिवंशपुराण में भट्टारक शुभचन्द्र जो कि सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी के पट्टधर नियुक्त हुए थे, का उल्लेख मिलता है। उनका समय १५३० वि० सं० है। इन दो उल्लेखों के आधार से उनका कार्यकाल वि० सं० १४६८–१५३० माना जा सकता है। अब यदि यह अनुमान कर लें कि वे १८ वर्ष की उम्र में अपनी शिक्षा वगैरह समाप्त करके ग्रन्थ रचना करने के लिए समर्थ हो गए होंगे तो वि० सं० १४५० के आसपास उनके जन्मकाल की तिथि मानी जा सकती है। किन्तु इस विषय में गम्भीर अनुसंधान की अत्यावश्यकता है।

इस प्रकार रइधू–साहित्य का परिचय उक्त पंक्तियों में देने के बाद मैं अपने इस लेख को समाप्त करता हूं। यह प्रस्तुत लेख की समाप्ति अवश्य है, लेकिन इससे रइधू के समस्त साहित्य का परिचय समाप्त नहीं हो जाता। वस्तुतः रइधू साहित्य तो एक ऐसा अगाध समुद्र है जिसके ओर–छोर एवं गहराई अपरिचित ही है। इसकी नाप–जोख के लिए किसी ऋषितुल्य, अनुभव वृद्ध महान् साधक की निस्वार्थ साधना तथा अथक एवं अनवरत श्रम की आवश्यकता हैं। ऐसे समुद्र में सहसा ही अवगाहन करने से लक्ष्य में चूक होने की सम्भावनाएं जानते हुए भी उस पर कुछ लिखने का जो साहस मैंने यहां किया है उसका एकमात्र उद्देश्य अन्धकार में छिपे हुए एक महाकवि की अत्यन्त महत्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित रचनाओं की जानकारी जिज्ञासु पाठकों के समक्ष उपस्थित करना ही है।

सन्धिकालीन कवि होने के नाते उनकी रचनाएं भाषा–विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी। समस्त अपभ्रंश–साहित्य ही नहीं बल्कि भारतीय वाङ्मय के साहित्य प्रणेताओं में अपेक्षाकृत विशाल साहित्य का प्रणेता तथा अपभ्रंश के महाकवियों की परम्परा में सम्भवतः अन्तिम उक्त महाकवि को प्रकाश में लाने का किसी भी प्रकार का प्रयत्न उसके प्रति हमारी सर्वोच्च साधना एवं श्रद्धांजलि होगी।

क्षमामूर्ति महावीर

मूल लेखक—श्री शतावधानी पन्यासजी श्री कीर्तिविजयजी गणिवर
भावानुवादक—श्री ज्ञान चन्दजी

[ढाई हजार वर्षों की दीर्घ अवधि व्यतीत हो जाने पर भी, भगवान् का यशोदेह आज भी अमर है। उनके ज्ञान का प्रकाश आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर रहा है! सुख-शान्ति के आकांक्षी जनों के लिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित मार्ग आज की संकटमय दुनियां में त्राण का एक मात्र मार्ग है!]

अहिंसा के अवतार श्रमण भगवान् महावीर के नाम से भला कौन अपरिचित होगा? आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व इस महान् विभूति का जन्म भारतवर्ष के क्षत्रिय कुण्ड-नामक ग्राम में, ज्ञातृ-क्षत्रिय कुल में महाराज सिद्धार्थ की रानी देवी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के मंगल मय दिन मध्यरात्रि के समय हुआ। जिस समय श्रमण-भगवान् महावीर का जन्म हुआ, उस समय तीनों लोक में प्रकाश प्रस्फुटित हो गया। विश्व के समस्त जीवों को अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उस समय सातों ग्रह उच्च स्थान में थे।

दिव्य देव दुंदुभी के नाद से गगन गूँज उठा था। ग्राम-नगर-पुर और जनपद के निवासी आनन्द से कल्लोल कर रहे थे। पक्षिगण चहक रहे थे। इस पृथ्वी और देवलोक की क्या बात, नारकी जीवों को भी क्षण भर के लिए आनन्द का अनुभव हुआ। दुष्काल आदि सब कोपों का उस समय अभाव था। मंद-मंद शीतल सुखद पवन बह रहा था।

उस समय इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। श्री जिनेन्द्र देव के जन्माभिषेक करने के लिए मेरु-पर्वत पर उन्हें ले जाने के लिए वे क्षत्रिय-कुंड ग्राम में आये।

सिद्धार्थ महाराज ने जब पुत्र-जन्म का समाचार सुना, वे बड़े ही आनन्दित हुए और बड़े भव्य रूप में उन्होंने जन्मोत्सव का आयोजन किया। उन्होंने नव जात शिशु का गुण निष्पन्न नाम वर्द्धमान रखा।

जन्म के समय से ही भगवान् वर्द्धमान—मति, श्रुत और अवधि—तीन ज्ञानों से युक्त थे।

बाल्यावस्था से ही तीर्थंकर-देव की आत्मा में अपूर्व प्रभाव, अप्रतिम सौंदर्य, असाधारण शक्ति, तथा महान् सौभाग्य समाविष्ट थे। वे परिणत ज्ञान वाले थे। उनका शरीर निरोग था और उनका रूप कान्ति में सूर्य-चन्द्र को भी लज्जित करने वाला था।

आमलकी-क्रीड़ा में वर्द्धमान कुमार ने अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। उसी के फलस्वरूप देवताओं ने उनका नाम 'वीर' रखा।

मोहवश उनके माता–पिता ने बड़े आडम्बर से पढ़ने के लिए पाठशाला में भेजा। इन्द्र ने आकर उनके अध्यापक के मन की शङ्काएं वर्द्धमान कुमार से पूछी। श्री वर्द्धमान कुमार ने इन्द्र के प्रश्नों का अविलम्ब और तर्कसंगत उत्तर दिया। उन उत्तरों को सुन कर पंडित महोदय तो स्तब्ध रह गये। पंडित जी ने सोचा कि, जो मेरी शङ्काओं का भी समाधान कर सकता हो, उसे मुझे पढ़ाना पड़ रहा है! इन्द्र ने उस समय पंडित जी को वर्द्धमान कुमार का परिचय बताया।

यौवन प्राप्त होने पर वर्द्धमान कुमार का विवाह यशोदा–नामक एक राजकुमारी से हुआ और समय पर उन्हें एक पुत्री भी हुई।

माता–पिता की मृत्यु के उपरान्त, जब वर्द्धमान कुमार की अवस्था ३० वर्ष की थी आपने राज्य–वैभव और सन्यस्त विलास–सामग्री त्याग कर सन्यस्त– जीवन में प्रवेश किया। यह प्रत्यक्ष है कि जगत भौतिक सुख, लक्ष्मी, ललना, सत्ता आदि के लिए कितना अधीर रहता है और कितने तरह के कर्म–कुकर्म करता है; पर ऐसी उम्र में भगवान् वर्द्धमान ने समस्त ऋद्धि–सिद्धि,वैभव, विलास, राजपाट, तथा भोगोपभोग के विपुल साधनों को तृण समान तिलांजलि दे कर अद्भुत त्याग प्रदर्शित किया। समस्त उपलब्ध भौतिक सुखों का परित्याग करके, भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चा सुख भोग में नहीं; वरन् त्याग में है, सुख तृष्णा में नहीं, संतोष में है। सुख बहिर्जगत में नहीं वरन् आत्मा मे हैं। इन्द्रिय जन्य यह प्रकट तथाकथित सुख तो क्षणिक हैं। सत्ता और सम्पत्ति के समस्त आकर्षण अनित्य हैं और नष्टव्य हैं तथा यौवन पवन के समान चंचल है।

घोर तपश्चर्या

दीक्षा अंगीकार करने के बाद भगवान् महावीर भयानक जंगलों में घूमे और घाती कर्मों को नष्ट करने के लिए अकेले ही संघर्ष करते रहे। छ–छ मास, पांच–पांच मास, चार–चार मास, तीन–तीन मास, दो–दो मास और महीने–महिने के उपवास आपने किये। इतने पर भी वह अन्य ऋषियों मुनियों के समान दूध, फल, रस आदि का प्रयोग नहीं करते थे। साढ़े बारह वर्ष के साधना–काल में उत्कट तपश्चर्या करते हुए केवल ३४६ दिन पारणा के थे—अर्थात् केवल ३४६ दिन उन्होंने भोजन किया, वह भोजन भी केवल एक टंक दिन में ही और मधुकरी–वृत्ति से! उनकी घोर और उत्कट तपस्या का विवरण पढ़कर रोमांच हो जाता है—ऐसी अद्भुत और उग्र आपकी तपश्चर्या थी। साढ़े बारह वर्ष की उग्र तपस्या की अवधि में आप किसी दिन बैठे नहीं, उटकन लगा कर खड़े नहीं हुए, किसी दिन सोए नहीं, किसी दिन झपकी नहीं ली, पलथी मार कर नहीं बैठे, केवल गोदोहिकासन, वीरासन, भद्रासन आदि आसनों में स्थित रहे। साधक के जीवन में भला प्रमाद का स्थान कहाँ है? तपस्या–काल का अधिकांश भाग उन्होंने खड़े–खड़े मौन ध्यान में ही बिताया। केवल एक रात्रि में शूलपाणि पक्ष के भयंकर उपसर्गों के बाद शरीर के प्राकृतिक स्वभाव के वश में उन्हें निद्रा आ गयी थी। पर, वह निद्रा भी केवल ४८ मिनटों की थी। उनके तपस्या–जीवन के साढ़े बारह वर्षों में वही ४८ मिनट का प्रमाद–काल था। उनकी साधना कितनी अनोखी और अद्भुत थी।

आपके साधना–काल में देवताओं और मनुष्यों ने नाना प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित किये; पर आपने सभी परिषहों तथा उपसर्गों को अपूर्व शांति तथा क्षमा के भावों से सहन किया। और सामर्थ्य तथा बल युक्त होते हुए भी, जब ग्वाले–सरीखे एक अदने व्यक्ति ने आपके कान में कील ठोंक दी; तब इतने पर भी आप ध्यान से किञ्चित् मात्र चलायमान न हुए और अचल तथा अडिग रहे। भगवान् में क्षमा तथा करुणा का अथाह भंडार था। चंडकौशिक के उदाहरण से भी स्पष्ट है कि, प्रभु में कितना दयाभाव, और कितनी गजब की समता थी। इन तपस्याओं के फल स्वरूप भगवान् ने राग द्वेष आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार साढ़े बारह वर्षों के दीर्घ काल तक परिषहों और उपसर्गों को समता पूर्वक सहन करने के बाद भगवान् ने उग्र साधना द्वारा परमात्मा–दशा प्राप्त की और केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा सर्वशक्तिमान बने। तात्पर्य यह कि, वह देहधारी परमात्मा हो गये।

आत्मकल्याण के लिए उन्होंने कितना अनुपम पुरुषार्थ दर्शाया। कर्म शत्रुओं से वे निरन्तर संघर्ष करते रहे। एक क्षण के लिए भी वह अपने सतत् प्रयास से विमुख नहीं हुए।

भगवान् के जीवन का एक–एक प्रसंग हमें अपूर्वबोध–पाठ प्रदान करने वाला है। वह हमें प्रकाश की ज्योति दिखाने वाला है तथा हमारे निष्प्राण जीवन में नये जीवन का संचार करने वाला है। भगवान् का जीवन आर्य प्रजा को ढिंढोरा पीट कर संदेश दे रहा है— मोत निद्रा का त्याग कर सतत् पुरूषार्थ करो तथा रास्ते में जो भी विघ्न बाधा तथा अन्तराय आयें उनसे संघर्ष करो।

भगवान् की आत्मा में जो बल शक्ति तथा सामर्थ्य था, वह हम सब की आत्मा में भी है। अहिंसा, संयम और तप की अग्नि द्वारा कर्म–काष्ठ को भस्म करके आत्मा को तपाये, सोनेसा तेजस्वी बनाया जा सकता है। इसके लिए अपेक्षा केवल पुरुषार्थ की है। इसके लिए तुच्छ भौतिक विलास का त्याग करना पड़ता है, सुख–शैया छोड़नी पड़ती है तथा मार्ग में आने वाले कंटकों–विघ्नों और उपद्रवों से संघर्ष करना पड़ता है। यदि कोई उसे करने के लिए उद्यत हो ही जाये तो फिर सफलता किंचित् मात्र दूर नहीं है। "कार्य वा साधयामि देहं पातयामि वा" के लिए अहिंसा तथा क्षमा का भव्य आदर्श सामने रखना आवश्यक है। यह सर्वथा निश्चित है कि यदि व्यक्ति अपने ध्येय के लिए अविरत साधना में लीन रहे तो निश्चय ही एक दिन मुक्ति रमा साधक के गले में वरमाला डाले बिना न रहेगी।

प्रभु का उपदेश

सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वशक्तिमान परमात्मा ने जगत को दिव्य संदेश दिया है—"हे भव्यो तुम सब भ्रम में हो। इस जगत में किसी का कोई भी नहीं है। अपने–अपने स्वार्थ में ही सब एक दूसरे के सगे–सम्बन्धी हैं। कोई अपना शत्रु नहीं है सब से बड़ा शत्रु तो व्यक्ति का अपना कर्म ही है। सभी के साथ मैत्री–भाव रखिये। आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य भरा है। पर कर्म के आवरण उसे प्रकट नहीं होने देते। उससे ही आपका ज्ञान ढक गया है।"

इस प्रकार के अपने अपूर्व तत्व ज्ञान की देशना देकर महावीर भगवान् ने जगत का महान् उपकार किया है। भगवान् महावीर करुणा के अवतार, अहिंसा के पैगम्बर, विश्व के उद्धारक तथा समता के भंडार थे।

यदि व्यक्ति भगवान् के उपदेशों को भली प्रकार समझे और तद्रूप आचरण करे तो आज की विश्व की अशांति समाप्त हो जाये।

ढाई हजार वर्षों की दीर्घ अवधि व्यतीत हो जाने पर भी, भगवान् का यशोदेह आज भी अमर है। उनके ज्ञान का प्रकाश आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर रहा है। सुख–शान्ति के आकांक्षी जनों के लिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित मार्ग आज की संकटमय दुनियाँ में त्राण का एक मात्र मार्ग है।

प्रभु महावीर ने जगत के जीवों को कल्याण का मार्ग बताते हुए कहा है कि आत्मा का उद्धार करना हो, सच्ची सुख–शान्ति प्राप्त करनी हो तो मनुष्य को समस्त जीवों का कल्याण करना चाहिए चाहे वह छोटा हो या बड़ा, एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, अपने देश का हो या दूसरे देश का, मनुष्य हो या पशु—चाहे जिस जाति अथवा कुल का हो, चाहे जिस योनि में वह जन्मा हो, सब का समान रूप से रक्षण करना चाहिए। कोई भी जीव मरने की इच्छा नहीं करता। विष्ठा में पड़ा कीड़ा विष्ठा में रहकर भी मरने की इच्छा नहीं करता, इसका कारण यह है कि जीवन सभी को प्रिय है। जीवन के लिए जीव अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार हो जाता है। चक्रवर्ती भी यदि अपना समस्त राज्य त्यागने को तैयार हो जाये, तो भी उसमें यह शक्ति नहीं है कि वह किसी के जीवन अथवा आयुष्य में एक पल की भी अभिवृद्धि कर सके। जीवन से कीमती और कोई चीज नहीं है। अतः यदि आप स्वयं सुखी होना चाहते हैं तो दूसरों को सुखी करने से ही आपको सुख प्राप्त होगा। 'जीवो और जीने दो' की भावना भी वस्तुतः संकुचित भावना है। भगवान् महावीर का तो कथन है कि, स्वयं कष्ट उठा कर भी दूसरों का भला कीजिए। वस्तुतः यह भावना कितनी उदार और विशाल है। मेघरथ राजा एक कबूतर के लिए अपना उत्सर्ग करने को तैयार हो गये। भगवान् शान्तिनाथ की आत्मा अपने एक पूर्व भव में मेघरथ थी।

मेघकुमार की आत्मा अपने पूर्व भव में हाथी थी उस समय एक शशक की रक्षा के लिए उसने अपने प्राणों की चिन्ता न करके शशक के प्राणों की रक्षा की थी।

अतः "आप भी सभी का रक्षण करें, सभी का भला करें" भगवान् ने यह दिव्य संदेश आत्मा के कल्याण के लिए दिया है। कहा गया है—"मित्ति में सव्व भूएसु" जगत के समस्त जीव अपने मित्र हैं। कोई भी अपने मित्र का अहित नहीं करना चाहता।

अतः भगवान् महावीर का उपदेश है कि सब का समान रीति से रक्षण करना चाहिए। भगवान् महावीर कथित कर्म–सम्बन्धी सूक्ष्म तत्व ज्ञान विशेष रुप से जानने योग्य है। उसके विवरण के रूप में हजारों नहीं लाखों श्लोक उपलब्ध है। जीव किसे कहते हैं, अजीव किसे कहते हैं, पुण्य–पाप की व्यवस्था क्या है, आत्मा का स्वरूप क्या है, कर्म का स्वरूप क्या है। आत्मा कर्म के बन्धन से कैसे मुक्ति पा सकता है, आदि प्रश्नों का जितना सूक्ष्म और विशद वर्णन हमें भगवान् के उपदेशों में प्राप्त है, वैसा कहीं नहीं है।

भगवान् महावीर–प्ररूपित स्याद्वाद् का सिद्धान्त भी विशेष रूप से जानने और समझने योग्य है। यह स्याद्वाद् का सिद्धान्त ही जैन-धर्म की नींव है । वस्तु कर धर्म इस एक सिद्धांत में पूर्ण रीति से समाविष्ट हो जाता है। अतः हम उनकी उपमा नहीं दे सकते। स्याद्वाद् तो एक प्रकार का सागर है। उस सागर में समस्त धाराएं आकर विलीन हो जाती हैं। स्याद्वाद् अर्थात् सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद ! यह स्याद्वाद् सिद्धान्त ही वस्तु का एकांगी नहीं सम्पूर्ण यथार्थ कथन करने में समर्थ है।

कुछ लोग स्याद्वाद् को संशयवाद कह डालते है। यह ठीक नहीं है। स्याद्वाद सिद्धान्त को यदि व्यक्ति वास्तविक रुप में समझ ले तो वह इस प्रकार की बात कदापि न करे।

भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद की प्ररूपणा करके जगत में संतोष का जीवन व्यतीत करने का उपदेश किया है और आवश्यकताओं को कम करके सादा जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्रदान की है। लोकवृत्ति अथवा परिग्रहवृत्ति मनुष्य को आकुल–व्याकुल बनाने वाला है। करोड़ों होने पर भी लोभवृत्ति मानव-जीवन से सुख-शान्ति को नष्ट कर देती है। थोड़े में ही जो व्यक्ति संतोष युक्त रहे तो क्रोड़ाधिपति की अपेक्षा अधिक सुख का अनुभव करेगा।

इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर पावापुरी में पूर्ण आयुष्य भोग कर मोक्ष गये। उसी समय से दीपावली–पर्व प्रारम्भ हुआ।

हमारा कर्तव्य है कि हम भगवान् के मार्ग पर चल करके, उनके जन्मकल्याणक--पर्व को सही रूप में मनायें और, भगवान् द्वारा कहे गये सिद्धान्तों और आदर्शों पर स्वयं चल कर तथा दूसरों को उन्हें समझा कर समाज, राष्ट्र और विश्व को सन्मार्ग पर लाने के लिए कटि-बद्ध हो जायें, जिससे जगत सच्ची सुख--शान्ति और स्वतन्त्रता का अनुभव कर सके।

कवि वादिराज और उनके वंशजों की श्रुत-सेवा

पं. दीपचन्द पांड्या

[हमारे शास्त्र भण्डारों में इतिहास सम्बन्धी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है, जिसमें हमारे पूर्वजों की गौरव गाथाएं सुरक्षित हैं। खेद का विषय है कि दि० जैन समाज का शास्त्र भण्डारों की सुरक्षा और साहित्य के प्रकाशन की ओर जरा भी लक्ष्य नहीं है। कहना होगा कि इस दृष्टि से श्वेताम्बर समाज साहित्य उद्धार की दिशा में हमसे बहुत आगे बढा हुआ है केवल अहमदाबाद में ही एक ऐसी श्वेताम्बर सस्था है जो तीस लाख रुपयों की लागत से स्थापित की गई है। जिसके अन्तर्गत बीस हजार लिखित ग्रन्थ हैं, और बारह तेरह विद्वान निरन्तर शोध खोज के काम में लगे हुए हैं। —स०]

प्राचीन काल मे हमारे पूर्वजो मे कला के प्रति प्रेम, विद्या मे अनुराग और साधर्मीजनो के साथ वात्सल्य बहुत ही बढा–चढा था। साधन सामग्री की विरलता होते हुए भी उस समय साहित्य के अर्जन और सरक्षण के प्रति सातिशय तत्परता दिखलाते थे, यह बात "राजस्थान प्रान्तीय जैन ग्रन्थ भण्डारो की ग्रन्थ सूचियो' के अवलोकन करने वालो से छिपी नही है। तब जैन श्रावको के कुल परम्परा–गत संस्कार ही कुछ ऐसे दृढ होते थे जो सदियो तक उनके सत्कार्यों के सम्पादन मे प्रेरणा दिया करते थे। उस समय धार्मिक नियम भी इतनी कठोरता से पालन किए जाते थे, जिससे समाज मे सदा प्राणो का संचार होता रहता था। तब वे लोग सही माने मे धर्म रक्षक होते थे। सागानेर आदि के जैन मन्दिर और जयपुर के पडित जनो द्वारा रचित उपलब्ध ग्रन्थ इसके प्रमाण है।

मैं इस लेख द्वारा एक जैन परिवार के धार्मिक कार्यों का कुछ परिचय दे रहा हू। यह था–"टोडा का सोगाणी परिवार।"

राजस्थान और दिल्ली प्रान्त मे दिगम्बर जैन श्रावको की बस्ती काफी अरसे से रही है। लगभग ४०० वर्ष पूर्व राजस्थान मे रायसिंह का टोडा, टोंक, बूदी आमेर और अजमेर आदि नगर जैन सस्कृति के गढ़ समझे जाते थे। विक्रम की १६ वी–१७ वी सदी मे अकेले टोडा नगर मे खडेलवाल दि० जैनो के २२०० घर थे। टोक और बून्दी मे ५००–५०० घर थे। इन स्थानो मे भट्टारको की गद्दिया भी थी। इन गद्दियो के तत्वावधान मे पडितगणो का–पाडे लोगो का–आस पास के क्षेत्र मे समय २ पर दौरा होता रहता था, और उनके सम्पर्क से जैनो मे विद्या का व्यसन भी था।

टोडा-रायसिंह की गद्दी और शास्त्र भडार

टोडा रायसिंह मे रैण का एक मन्दिर है। यहा पहले बहुत बडा शास्त्र भंडार था। इस गद्दी पर अन्तिम विद्वान नेमिचन्दजी हुए थे, ये सं० १६४० के लगभग मौजूद थे। इस गद्दी

पर वि० सं० १३१० में भट्टारक धर्मचन्द्रजी विराजमान थे। इन्होंने संस्कृत मे गौतम चरित्र[1] की रचना की थी। मेरे पास एक गुटका[2] है, जिसमे एक घटना का उल्लेख है कि वि० सं० १६४७ में टोडा मे "सा० बीसल चोधरी को बेटो सा० रेखो ५०) रुप्या की पूंजी सू हाट (दुकान) माडै अर व्याकरण पढै"—सा० रेखो आजीविका के लिए "चौगाई" फिरता था और समय पर व्याकरण भी पढ़ता था। विक्रम स० १५८० से १६१० के काल मे यहा (टोडा से चाकसू तक) राजा रामचन्द्र का राज्य था। टोडा मे कई संस्कृतज्ञ विद्वान होगए है। इन्होने लम्बे समय तक अनेक ग्रन्थो के लिखने लिखवाने को प्रोत्साहन दिया था। वे कुछ ग्रन्थ रचना भी किया करते थे। उक्त गुटके मे उनकी कुछ रचनाए भी पाई जाती हैं। यद्यपि टोडा का शास्त्र भडार जब से जैन पचो के हाथ पडा तब से बहुत ही क्षीण–हीन दशा मे है तथापि यहां की लिखाई गई कई प्राचीन प्रतिया (सचित्र भी और उत्तम भी) ऐ० पन्नालाल दि० सरस्वती भवन ब्यावर मे मेरे देखने म आई। इससे सहज ही पता चलता है कि यहा पहले बहुत बडा शास्त्र सग्रहालय होना चाहिये। टोडा मे जैन छतरियो और मन्दिर आदि धर्मायतन सभी बहुत ही दृढ बने हुए हैं। वे सादे होते हुए भी कला के नमूने है।

टोडा का सोगाणी परिवार

वि० स० १७२३ के आसपास टोडा मे पोमराज श्रेष्ठी के पुत्र वादिराजजी मौजूद थे। इनका गोत्र सोगाणी था। ये टाडा के तत्कालीन नरेश रार्यासह के राज्य म उच्च पदाधिकारी थे। ये कवि भी थे। इनके बनाए हुए वाग्भटालकार पर कविचन्द्रिका टीका और ज्ञान लोचन स्तोत्रो का पता चलता है। अभी २ मैंने शाहपुरा (मेवाड) नगर के जैन मदिरो के शास्त्र भडारो का अवलोकन करते हुए वादिराज के खुद के सुन्दर लिपि मे लिखे काव्य प्रशस्ति युक्त शुकबहत्तरी[3] और सिहासन बत्तीसी नामक दो सस्कृत ग्रन्थो की प्रतिया देखी है, इसस ये सस्कृत काव्यो के रसिक रहे जान पडते है।

वादिराज कवि के ज्येष्ठ भ्राता कविवर जगन्नाथ सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और व्याकरण के ज्ञाता थे। इनके बनाए कई ग्रन्थ थे। उनमे से सुखनिधान काव्य और चतुर्विंशति सधान टीका उपलब्ध है जिनसे इनकी विद्वत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। सुख निधान काव्य मे विदेह क्षेत्रीय श्रीपाल चक्रवर्ती की कथा है। यह बहुत ही प्रसाद गुण युक्त शैली म

---

१ यह ग्रन्थ सूरत मे छप गया है।

२ इस गुटके का विस्तृत ऐतिहासिक परिचय वीर सेवा मन्दिर देहली द्वारा प्रकाशित जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह प्रथम भाग के पृष्ठ ३८–३९ पर पढिये।

३ शुक बहत्तरी का नाम शुक सारिका सवाद भी है। इसमे ज्ञात होता है कि तोता मैना का किस्सा शायद इसी का भाषान्तर हो।

लिखा गया संस्कृत ग्रन्थ है। इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ये मालपुरा[1] नगर मे रहते थे।

मालपुरा नगर राजस्थान मे पुराने जयपुर राज्य मे अच्छा नगर रहा है, जहा आज विशाल-काय ८ जैन मन्दिर हैं। इससे यहा प्राचीन समय मे जैनो की अच्छी बस्ती होने का आभास सहज ही मिलता है।

कवि वादिराज के चार पुत्र थे। उनमे सबसे छोटे पुत्र नेमिदासजी ने स० १७५३ मे जब टोडा मे मरहट्ठो का (?) आक्रमण हुआ, लूटपाट मची थी तो लुटे हुए एक गुटके[2] को लुटेरो से छुडाया और उसे सुधराया था।

टोडा के ही निवासी प० कुसलसिंह सोगाणी वैद ने वि० स० १७६४ मे विद्यानन्द प० कृत क्रियाकलाप नामक पद्यबद्ध व्याकरण ग्रन्थ की एक प्रति अपने हाथ से लिखी थी। यह प्रति शाहपुरा के भडार मे मौजूद है।

आगे चलकर यहा का सोगाणी परिवार टोडा मे स्थायी न रह कर यत्र तत्र बसता चला गया। इस वश मे वैद्यक विद्या का भी काफी प्रचार रहा प्रतीत होता है। अत ये बैद कहलाने लगे थे। ये कुछ तो टूणीनगर मे कुछ शाहपुरा मे और कुछ कोटा आदि स्थानो मे जा बसे थे। वि० स० १६१२ के आसपास कोटा के प्रतिष्ठित धनी श्री जैतराम ताराचन्दजी बैद ने अपने द्रव्य से अनेक ग्रन्थो को लिखवाया और जहा तहा भिजवाया था। इन्ही के भाई शकरलालजी ने भी शास्त्र लिखवाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया था। ये शास्त्र कोटा, केकडी नसीराबाद नगरो के जैन शास्त्र भण्डारो मे अब भी पाए जाते है।

शाहपुरा का सोगाणी परिवार

शाहपुरा के सोगाणी परिवार का[3] सम्बन्ध टोडा से रहा प्रतीत होता है। वे बैद कहलाते थे। शाहपुरा मे बैदा का मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध मदिर इन्ही का बनवाया हुवा है। वि० स० १६४० के आसपास इस परिवार मे श्री ऋषभदासजी और जुहारमलजी सोगाणी मौजूद थे। ये दोनो भाई प्रसिद्ध वैद्य थे। श्री ऋषभदासजी का प्रसिद्ध नाम नाना काकाजी था। ये अपने समय के महान् धर्म प्रभावक और मन्त्र विद्या के जानकार भी थे। इनकी मन्त्र विद्या की शक्ति के विषय मे अनेक घटनाए सुनी जाती हैं किन्तु स्थानाभाव से उनका उल्लेख

१ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह मे इन्हे तमालपुर का वासी बतलाया गया है जो किसी भूल का परिणाम है। उसी मे प्रशस्ति पाठ है 'पुरान्तमाले सुपुरे' अर्थ यह होता है पुरा शब्द है अन्त मे जिसके ऐसे 'माल' नाम के नगर मे अर्थात् मालपुरा नगर मे।

२ यह गुटका मेरे पास है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

३ शाहपुरा मन्दिर के शास्त्रो मे टोडा से लाया गया साहित्य उपलब्ध हुआ है इसलिए ये टोडा से सबद्ध रहे मालूम होते है।

करना सम्भव नहीं है। इनके बारे मे कुछ घटनाये प्रज्ञाचक्षु मागीलालजी के मुख से सुनी सुनाई हैं जिनका यहा लिख देना प्रासंगिक न होगा।

नाना काकाजी अरिष्टो (मरण के चिन्हो) के भी जानकार थे।

पं० जुहारमलजी भी राजवैद्य थे। ये अजमेर निवासी सेठ श्री मूलचन्दजी सुगनचन्दजी सोनी द्वारा सम्मानित थे। इनके हाथ के लिखे अनेक ग्रन्थ शाहपुरा के ग्रन्थ भडार मे पाए जाते है।

पं० जुहारमलजी के पुत्र पं० मागीलालजी थे। ये छः वर्ष की आयु मे ही चेचक से अन्धे हो गए थे। पिता के वियोग और जन्मान्ध होने के कारण असहाय अवस्था मे इन्हे कुछ वर्ष शाहपुरा के आर्य समाज के अनाथालय मे काटने पडे। तत्पश्चात् केकडी नगर के जैन श्रीमन्तों ने उदारता का परिचय दिया और उन्हे शाहपुरा से केकडी बुला लिया गया। इनके रहने की, भोजन की और जैन विद्यालय मे पढने की व्यवस्था करदी गई थी। ये प्रतिभावान् थे। इन्होने बहुत से धार्मिक भजन पद्य कठस्थ कर लिए थे और अच्छे स्वर मे शास्त्र सभा के बाद उन्हे बोला करते थे।

इन्होने अन्धे होते हुए भी केकडी मे रहकर अपने समय मे समाज की बहुत बडी सेवा की थी। आज केकडी के जैनो मे स्त्री समाज और पुरुष समाज मे जो कुछ धार्मिक चतना नजर आ रही है। उसमे प० मागीलालजी का बहुत बडा योग रहा है। प्राय सभी जैन छात्र छात्राए उन्ही के पास से धार्मिक शिक्षा प्राप्त किए हुए है। इन पक्तियो के लेखक पर प० मागीलालजी का बडा उपकार है। मुझे ८–९ वर्ष की आयु मे ही इन्होने काई २५ जैन स्तोत्रादि ग्रन्थो को मौखिक पढा दिया था। इस प्रकार सेवा कार्य करते २ ये वि० स० १९९८ मे गिरिराज तीर्थराज सम्मेदाचल की यात्रा करके आए थे और १ मास म दिवगत होगए।

वर्तमान मे शाहपुरा के बैद परिवार के वशजो मे भूरालालजी आदि अजमेर मे निवास कर रहे है।

हमारे शास्त्र भण्डारो मे इतिहास सम्बन्धी प्रचुर सामग्री भरी पडी है, जिसमे हमारे पूर्वजो की गौरव गाथाएं सुरक्षित है। खेद का विषय है कि दि० जैन समाज का शास्त्र भंडारो की सुरक्षा और साहित्य के प्रकाशन की ओर जरा भी लक्ष्य नही है। कहना होगा कि इस दृष्टि से श्वेताम्बर समाज साहित्य उद्धार की दिशा मे हमसे बहुत आगे बढा हुआ है। केवल अहमदाबाद मे ही एक ऐसी श्वेताम्बर सस्था है जो तीस लाख रुपयो की लागत से स्थापित की गई है। जिसके अन्तर्गत बीस हजार लिखित ग्रन्थ है और बारह तेरह विद्वान् निरन्तर शोध खोज के काम मे लगे हुए है। इस सस्था का कार्य श्री प० दलसुख मालवणिया के तत्वावधान मे चल रहा है। आज के समय का तकाजा है कि शास्त्र भडारो की सार–संभाल करना, शास्त्रो को प्रकाश मे लाकर उन्हे सुलभ बनाना समाज का प्रधान कर्तव्य हो जाना चाहिए। साहित्य की उन्नति और समृद्धि से ही समाज की उन्नति और समृद्धि संभव है।

लोक साहित्य —

राजस्थानी सपना–साहित्य में तीर्थङ्कर

महेन्द्र भनावत, एम ए

ब्याह–शादियो मे 'जवारा बैठने' यानी 'चाक नूतने' के दिन से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रात काल जो गीत विशेष गाये जाते है, उन्हे 'सपनो के गीत' कहते हैं। ये गीत तीर्थङ्करो एव धार्मिक महापुरुषो से सम्बन्धित होते हैं, जिनमे उनसे सम्बन्धित स्वप्नो (सपनो) का विशेष उल्लेख मिलता है। प्रात होते–होते 'सपने' गाने वालियो को पास पड़ौस मे तेडे (निमत्रण) दे दिये जाते है। इन सपनो की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्हे विधवा औरतें भी गा सकती है। इसलिए यह देखा जाता है कि सपने गाने के लिए प्राय विधवा औरतें ही एकत्रित होती है और उन्ही को अधिकाधिक सपन कठस्थ होते हैं। सूर्योदय के पश्चात् घर आगन की सफाई कर हर जगह औरतो के बैठने के लिए बिछात बिछादी जाती है। प्रतिदिन पाच अथवा सात सपने गाये जाते है। सपने गान के बाद नूता, राड, साडरी, घूघरी, पामरी आदि एक एक कर प्रतिदिन सुविधानुसार गाये जाते है। इसके बाद अत मे झामटडे गाये जाते है जिनमे 'तारा' तथा दानरण मुख्य है। सपने गाते समय नेवो पर चू दड डाल दी जाती है, जिसे सपन गा लेने के बाद उठाली जाती है। सपने गाने वाली औरतो को अपन २ घर जाते समय एक एक मुट्ठी पतासे दिये जाते है। विधवा औरतें जो सपने गाने आती है, ककू की टिकिया लगानी है। सपनो के साथ २ कूकडे गीत भी गाये जाते है, जो प्रात काल होने के प्रतीक कहे जा सकते है। कूकडो के अलावा 'चू दड' गीत भी होते है। जो सुहाग, सौभाग्य एव सौंदर्य के प्रतीक होते है। इन सपनो, चू दडो तथा कूकडो के कई प्रकार मिलते है। लेखक ने ऐसे कई गीतो का सग्रह किया है जिनम से कुछ नमून प्रस्तुत लेख मे दिये जा रहे है। आशा है इस सम्बन्धित और भी बहुत सारा साहित्य प्रकाश म आयेगा।

सपना

रानी त्रिशला को एक रात चौदह स्वप्न आये, प्रात होते ही वह राजा के पास गई। पलग पर सोते हुए राजा को जगाया और उसने रात्रि का जो चौदह स्वप्न आये, उन्हे कह सुनाया। चौदह स्वप्न इस प्रकार थे—

पेल्ले सपने मे घेवर देख्या, घेवर दख्या
दूजे ओ रखब सुहावणा
अन्न्ये सपने मे सिरजो देख्या
तो चौथे ओ लछमिया देवता
पाच मे पाच वरणरी ओ माला, वरणरीओ
तो छठेओ चाद अभी चढ्या जी।

सातमो सूरज आठमरी ओधजा
तो नमे ओ करस रतना जड़्या ।
पदमसुत दसमे ओ देख्या तो
सील सामंद सामी ग्यारमा जी
देख्या थने वेवाण बांरमड़ा तीरण
जण घंटा बाजरियाजी रतनारी रासी
तेरमड़े देख्यातो धूप देख्या ओसामी ।
चवदमाजी देख्या सपना माता मुरादेनेलादा
तो लाम राजा घर गोरडी जी ॥
जणा माता रकबनाथ जाया, रकमनाथ जाया
तोजणा देवां धरम चलानियोजी ॥

इसी गीत मे आगे सभी तीर्थंकरो के नाम ले लेकर गीत को बढ़ाया जाता है। जिन २ तीर्थंकरो के नाम लिये जाते है उनके साथ २ उनके द्वारा किया गया जो महत्वपूर्ण काम होता है, उसका उल्लेखकर अंत मे 'सामी सिध होया जी । कहकर उनका महत्व प्रकट कर दिया जाता है।

तीर्थंकरो के अलावा कुछ सपने महापुरुषो से सम्बन्धित भी है जिनमे उनकी किसी घटना विशेष का क्रमबद्ध पूरा विवरण सुनने को मिलता है। उदाहरण के लिए भगवान श्री कृष्ण का सपना लिया जा सकता है जिसमे उनका विवाह करने के लिए जाते समय का सुन्दर चित्र उतारा गया है।

सरीओ किसन ठाकर परणवा पधारिया, परणवा पधारिया,
उगरसेन राजारी धीयओजी
सरीओ किशन ठाकर गोइरे पधारिया, गोइरे पधारिया
गवर्‌या रो ले के चुकायो जी ।

इसी प्रकार बागों मे जाकर माली का फूल बंदाना, 'परगंट' पर जाकर पणिहारियो का कलस बंदाना, चोवटे जाकर चौरासा के नारेल (नारियल) बंटाना, समेरे जाकर समेरे की सोपारिया (सुपारिया) बंटाना, तोरण जाकर सुथारों का नेग चुकाना, मांडपे (मंडप) जाकर मगरा गवाड़ना, माया जाकर मंगरे गवाड़ना, बहिन-बहनोई को जल्दी तेडाना, सुरंग बटाना भणिया-गणिया जोशी तेड़ाकर हथलेवा जोड़ाना, चंवर्‌या जाकर चंवर ढुलाना, आलेलीले बास कटा कर नवखंडी चंवरी रचाना, और चंवरी रचाकर आनंदपूर्वक शादी कर अपने घर प्रस्थान करने का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। यही नही घर जाकर जब बहू सासूजी के पाव लगती है तो सासू उमे मन माफिक मांग करने की बात कहती है। बहू यह सोचकर कि कहूं तो लज्जा आयेगी और न कहूंगी तो कुल को लज्जा लगेगी—हिवड़े के लिए हार बनवाने की मांग करती है। सासू उसे 'अमर सुहागिन रहने का आशीर्वाद देकर उसकी इच्छा पूरी करती है।

परणीतो हरणी बबुबड़ घरां पधारिया
लागा सासुजीरे पावो जी।
सासुजी दी दी अमर असीस, अमर असीस
अमर रीजो थारो ऐबातो जी।
मांगरावे जो मांगो ए बबुवड़
जो थांरे मनरी पुरबजे।
मुखड़ो तो सासु हीरा मोती जड़्यो रे
मोतीजड़्यो रे
नहीं म्हारे हिवड़ा रो हार जी।
लंका गढ़रो सोनो मंगावोजी
उजर गड़रो रूपो जी।
टंके तड़ारो सोनी तेड़ावो
मेड़्यां बैठ घड़ावो जी ।

जब हार पोने का प्रश्न आया तो सासु कह बैठी कि इसे दूसरा कोई नहीं पो सकेगा। या तो 'सतवंती सीता' ही पो सकेगी या फिर 'चंदरण बालाजी' या फिर 'कुंवारीकन्या' ही। जब हार तैयार हो गया तो सासु ने बहू को लेजाकर वह हार दिया, इस पर बहू ने कहा—

गाडासी गाड़ा तो गऊं ए मंगावो,
नानो सो रवो ए दरावोजी।
धोरो तो सासु गड़ल्यो मंगावो,
गोर री भेली मंगावो जी।

केवल गेहूं मंगवा कर उनका रवा करना, घी का गड़ल्या मंगाना तथा गोर (गुड़) की भेली मंगवाने मे ही काम नही चलेगा बल्कि नरणद बाई, जेठ जी तथा जेठाणी जी को तेडकर उनकी लापसी बना कर सारी नगरी मे उसे बंटवानी पडेगी।

सासुजी जाये म्हारी नरणद तेड़ावो,
लचपच लापसी रंदावो जी।
जेठाणी साने जेठुत तेड़ावो,
सारी नगरी बंटावो जी॥

एक अन्य सपना गीत मे ऋषभदेव जी के केसर, नेमिनाथ जी के फूल, पार्श्वनाथ जी के केवड़ा, महावीर स्वामी के नारियल, गौतम स्वामी के सुपारी, शातिनाथ के खार में चढ़ाकर उनकी पूजा करने की बात बड़े ही सुन्दर रूप मे कही गई है। अत्यन्त दूर से आई हुई, पूजा की थाल लेकर दर्शनो की लम्बी प्रतीक्षा में खड़ी रहती हुई महिला द्वार नही खुल पाने के कारण जब दर्शन नही कर पाती है तो अन्त में उससे रहा नहीं जाता है और वह जोर से अपनी आवाज भगवान तक पहुंचाने को उमड़ पड़ती है—"हे स्वामी! मुझे तुम्हारे चरण कमल का स्पर्श कर लेने दो। मुझे तुम्हारे चन्द्रमुख के दर्शन करने दो। मैं अत्यन्त दूर से आपके दर्शन करने आई हूं।" सपने के अंत में पूजीमाराज (पूज्य, बड़े महाराज, आचार्य श्री)

के दर्शन की जिज्ञासा प्रकट की गई है। उनके लिए भेंट चढ़ाने को तो वह क्या लाये? और यदि ले भी आये तो किस काम का! अतः उसने जो तपस्या की है, उसी को वह भेंट स्वरूप लाई है। 'स्वामी पांव पूजण दोनी मुख देखण दो, म्हें दूरां सूं आया' में मन की कितनी सुन्दर प्रबल मुराद व्यक्त की गई है, जिसमें आग्रह, अनुग्रह, विनय शिष्टाचार आदि के साथ साथ उसका अपनापन, दर्शनों की तीव्रलालसा, श्रद्धा और श्रद्धेय को अपनी खरी-खोटी सुनाने का पूरा पूरा संबल भी है।

स्वामी कदकी ऊबीने कदकी खड़ी रकमनाथ रे दरबारे
स्वामी केसर गोटी गोटी भर्‌या रे पीयाला
तोई नो खोल्या दरवाजा रे।
स्वामी पांव पूजण दोनी मुख देखण दोनो
म्हें दूरां सूं आया जी॥
स्वामी कदकी ऊबीने कदकी खड़ी पूजीमारासारे दरबारे
स्वामी तपस्या करी करी पूज्यारा मारासा।
स्वामी पांव पूजण दोनी धोक लागण दो
म्हें दूरां सूं आया जी॥

कुछ गीत ऐसे हैं जिनमें जहां जहां तीर्थङ्कर विराजमान हैं, वहां वहां जाकर उनकी पूजा करने की भावना व्यक्त की गई है। उदाहरण के लिए—

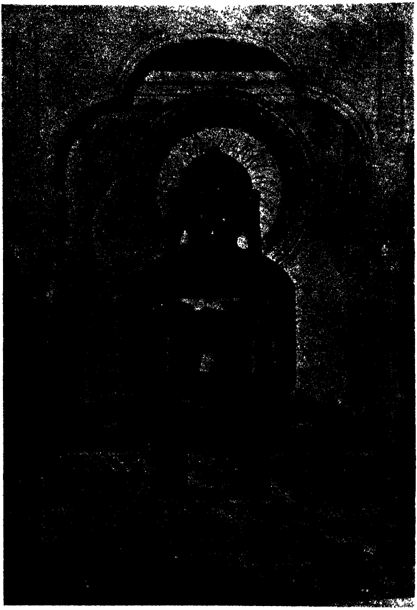
सूती ने सपनो जो आयो म्हारीं सैंया
चालो गिरनार गड़ चाला म्हारी सैंया
गिरनार गड़ में नेमीनाथ बिराज्या
पाछे अ बाड़ी म्हारी सैंया
बाड़ी में फूलड़ारा भाड़ मोरी सैंया
फूलड़ा सूं फूलड़ा उतारो मोरी सैंया
नेमीनाथ रे पाठ चढ़ावो मोरी सैंया॥

भगवान नेमिनाथजी के सपने में 'बालहठ' के रूप में मां-बच्चे का सुन्दर संवाद देखने को मिलता है, जिसमें बालक 'नेम' मोती लेने की जिद्द पर चढ़ जाता है। माता उन्हें येनकेन प्रकारेण समझाती है, मोती की बजाय अन्य बातों में उन्हें बहलाना चाहती है परन्तु फिर भी उनकी जिद्द उतरती नहीं है।

समदेवजीरा राय नीमजी तो मांगे मजू मेला मोती ए।
इतो नीमजी चकरी ने भमरा तो जाय गोठ्यां लाय खेलोजी।
इतो नीमजी दड़ी ने डोटा तो बायर जायने खेलो जी।
कई ए करां माता चकरो ने डोटा लेसां मजूमेला मोती ए।
इतो नीमजी भगल्या ने टोपी तो पैर दुकानां जावो जी।
कई एकरां माता भगल्या ने टोपी लेसां मजू मेला मोती ए।



जयपुर मे श्री चौबीस महाराज के मन्दिर का दृश्य



जयपुर स्थित बड़े दीवानजी के मंदिर में भगवान ऋषभदेव की कलापूर्ण मूर्ति

इती नीमजी गुल्ली ने डंडा तो सैरा में आयर खेलो जो।
कई एकरां माता गुल्ली ने डंडा लेसां मजू मेला मोती जी।

जब किसी प्रकार भी नीमजी नहीं मानते हैं तो अन्त में माता को गुस्सा आ जाता है, इतने में नीम के पिताजी आ जाते है। उनके यह कहने पर कि 'ज्यो मांगे जो दो, पटराणी ने मान्या ने मतरोवाड़ो।' ए रानी मोतियों का हार तोड़ मोती ले आकर उन्हें दे आती है। जितने मोती नीमजी के हाथ लगे, उन्होने अपने मकान के 'पिछोकड़े' (पीछे की तरफ) जादू से बो दिये, सुबह बोये, दोपहर में वे ऊग आये और सांझ होते होते लड़ालूम मोती हो गए। इतने कि गाड़े भर भर घर लाये गए और ढेर सा हो गया।

जादू ओ नीमजी पचोकड़े बाया
जो परबाते बाया ने दपरा में ऊगा
तो सांझ पड्यां लड़ालूम लागाजी
काटी बाड़ी ने गाड़ा जो भरिया
तो गाड़ा भर घरां लायाजी।
दुणाजी भरियाने चुणाजी भरिया
तो ढेयर ढेयो आयोजी।

माता मोतियों का इतना सारा ढेर देखकर कहने लगी कि—'नीमजी, यदि मुझे यह पता होता तो मैं पूरा ही हार तुम्हें दे देती।' माता के वचन सुन कर नीमजी ने उत्तर दिया कि 'वक्त पर बोये वक्त पर ही पैदा होते हैं, इसी प्रकार मोती भी वक्त पर ही निपजे हैं।'

'असा ओ नीमजी थाणे जानती तो आ कोई हारजो देतो ओ।'
'बेरां रा बायाने, बेरां रा जाया तो बेरा रा मोती निपज्याजी।'

गीत के अंत में नीमजी के इस 'सपने' को गाने का फल बताया गया है, जिसमें कहा गया है कि जो नीमजी के सपने को गाती है उसे 'बैकुण्ठ' की प्राप्ति होती है और जो नहीं गाती है उसे 'अजगर का अवतार' बनना पड़ेगा। गाने वाली को चूड़ा चूंदड़ तथा जोड़ने वाली गीत की पंक्तियां बनाने वाली को पालने में झूलता हुआ पुत्र प्राप्त होगा।

जो नीमजी रो सपनो जो गावे ज्यांरो बैकुण्ठ वास्योजी।
नहीं रे गावे नी सामे ज्यांरो अजगर रो अवतारोजी।
म्हैंरे गावां म्हैं सांमलांजी म्हारो बैकुण्ठ वासोजी।
गाबा वारी ने चूड़ाचूंदड़ जोड़णवारी ने झोलण पूतोजी॥

कूकड़ा

'कूकड़ा' गीतों में मुख्यतया 'कूकड़ो' यानी मुर्गों को सम्बोधितकर उनको प्रातः जोर जोर से कां-कू कूकडू-कूं न करने को कहा गया है। स्थान स्थान पर भगवान का वास है। देव

देवियां सभी जब चुके हैं, अतः उन्हें बार बार बोलने से रोका जा रहा है। नमूने के लिए—

म्हारे आंगरा जी आमली
ज्यांरे सीसोद्या पान
ज्यांरे नारेल्या पान
कजरी बन रा रे कूंकड़ा।
म्हीं थाने कूंकडा वरजिया
म्हारे मन्दर मति बोल
मन्दर में रघुनाथ जागिया
मन्दर में नेमनाथ जागिया
दुरेवा में रकबनाथ जागिया
गड़वा रा नेमिनाथ जागिया
जागा पारसनाथ देव
जागा मा' वीर सामी देव
कजरी वन रा रे कूंकड़ा।
पांवापुरी मे सांती नाथ जागिया
रतनपुरी मे सांती नाथ जागिया
जागो देवां रो साथ
जागों देवियां रो साथ
कजरी वनरा रे कूंकड़ा

अन्त मे पारिवारिक सदस्यो तथा बहिन–बेटियो के नाम जोड जोड कर इसी प्रकार गीत को आगे बढाया जाता है।

चूंदड

चूंदड़ गीत भी तीर्थङ्करो से सम्बन्धित है जिनमे उन तीर्थङ्करो की माताओ द्वारा चूंदडी रंगवाकर सावणिया–तीज' खेलने की बात बडी खूबी के साथ प्रकट की गई है। यही नही चूंदड़ के साथ–साथ पंचरंगी पगड़ी' का मेल ऐसा बैठाया है कि 'सोने मे सुहागा' आ मिला है। चूंदड़ गीत का एक छोटा सा नमूना इस प्रकार है–

तांबारी बूंदी बरस गयो मेल
चांदी रा बादल उलटिया
खेलरा गई रा सावणिया री तीज
भींजगई ओ गरबा चूंदड़ी।
माता मूरादे रंगयो चूंदड़ो जी
समदं विजेसारी रंगजो पंचरंग पाग
फेर रंगावो पिया पंचरंग पाग
फेर रंगावो गरवा चूंदड़ी।

कस्यो रंग ग्रायो राणी पंचरग पाग ।
कस्यो रंग ग्रायो गरबा चूंदड़ी ।
ग्राछो रंग ग्रायो राजा पंचरंग पाग
बुरो रंग ग्रायो गरबा चूंदड़ी ।
सिधारथमल सामी पंचरंग पाग
माता तिसलारी गरबा चूंदड़ी ।
खेलण गया रा सावणियारी तीज
भीज गई ग्रो गरबा चूंदड़ी ।[1]

---

१. सपना साहित्य सबधी सारे गीत कानोड निवासी श्री मिटठालालजी डूंगरवाल की धर्मपत्नी से लेखक ने नोट किये है, तथा नेमिनाथ जी का सपना जोजीबाई बडी बहिन सोहनी देवी से लिखा गया है, ग्रतः लेखक दोनों का ग्रत्यन्त ग्राभारी है। गांवो मे ऐसी इनी-गिनी ग्रौरते ही मिलेगी, जिन्हें सपने के गीत याद हो, ऐसे मूल्यवान साहित्य की सबसे बडी कीमत उसकी रक्षा करने में ही ग्रदा की जा सकती है।

छत्र-त्रय

छोटेलाल जैन, एफ. आर ए एस.

[कुछ वर्ष हुए तब पुनः मेरे मन में यह भावना जागृत हुई और इस विषय की विशेष खोज करने लगा। प्राचीन जितनी भी जैन मूर्तियां मेरे देखने में आई उन सब में तीन छत्रों का अंकन एक सदृश था। अर्थात् पहिले सबसे नीचे सबसे बड़ा छत्र, और फिर उससे छोटा और सबसे ऊपर सबसे छोटा ? —स०]

विद्याध्ययन के पश्चात् जब मैंने व्यापारिक क्षेत्र मे प्रवेश किया, उस समय मेरी मित्र मडली मे अधिक बन्धु जैन थे और जो अन्य बन्धु थे, वे भी जैन धर्म मे श्रद्धा रखते थे। हमारी युवक मडली ने विचार किया कि दशलक्षण पर्व आ रहा है, अत कोई ऐसी योजना बनाई जाय जिससे पूजन भजन मे सबको विशेष आनन्द प्राप्त हो। उस योजना के अनुसार २० पुजारियो के लिये २० सेर (पूजन के) चादी के नये बर्तन बनवाये गये, पूजन सामग्री रखने और चढाने के लिये सगमरमर की चौकिया बनवाई गई, जरी की किनार की देशी धोतिया और चद्दर ढाका से मंगवाये गये। दशलक्षण पर्व के समय पढी जाने वाली २० प्रतिया पूजा-पाठ के गुटका, देशी कागज पर घर की बनी शुद्ध स्याही से लिखवाकर तैयार करवाये गये। चितपुर रोड स्थित श्री नया मन्दिर जी को बिजली के झाड-फानूस तथा परदो से सुसज्जित किया गया। वेदी मे कलापूर्ण सुन्दर सिंहासन पर श्री जी को विराजमान कर, ऊपर चादी सोने के तीन छत्र लगाये गये। किंतु छत्रो के लगाने मे मैंने एक सुधार किया। इसके पहिले छत्रो को लगाने की यहा यह प्रथा थी कि सबसे नीचे छोटा छत्र, उसके ऊपर उससे बडा दूसरा छत्र और उसके ऊपर तीसरा छत्र सबसे बडा लगाया जाता था किन्तु इस प्रकार छत्रो का लगाना प्राचीन मूर्तियो पर, मेरे देखने म नही आया था। अर्थात् प्राचीन जैन मूर्तियो पर पहिले सबसे नीचे सबसे बडा छत्र उसके ऊपर उससे छोटा द्वितीय छत्र और सबसे ऊपर सबसे छोटा तीसरा छत्र लगा हुआ देखने मे आता है। (देखो चित्र) इसलिये मैंने प्राचीन पद्धति का अनुसरण किया।

प्रात काल जब वादित्रो के साथ सुमधुर स्वर से पूजन प्रारम्भ हुई, तो लोगो पर बहुत ही प्रभाव पडा और इस शोभा को देखते हुए पूजा सुनने वालो से मन्दिर जी का भवन पूर्णत भर गया। धर्मबन्धुओ ने इस प्रकार के नये आयोजन की बहुत सराहना की और प्रभावित हुए। पूजा करने के लिये अन्य बन्धु भी उत्साहित हुए। यह बात प्राय ४५ वर्ष पूर्व की है। तब से आज तक कलकत्ता मे उसी ठाठ-बाट से भावो मे पूजा होती आ रही है।

समाज मे सभी तरह के लोग होते है। कुछ ऐसे भी भाई है; जिनका स्वभाव नारदीय होता है। जिस कार्य की सराहना अनेक लोग करते है, उसकी निन्दा के लिये वे या तो उसमे त्रुटिया देखते है, या मनघडन्त दोष बनाकर निन्दा करते है। ऐसे ही एक भाई ने उस समय

कहा कि "इन युवकों को धर्म का न तो ज्ञान है और न ध्यान । तीन छत्रों को उल्टा लगाकर धर्म को डुबो दिया । कहीं पर कभी भी इस प्रकार उल्टे छत्र लगे हुए देखने मे नही आये" । और वह भाई सब लोगों मे इसके विरुद्ध प्रचार करने लगा । जब काफी लोग विरोधी हो गये तब मैंने कई प्राचीन जैन मूर्तियों के फोटो लोगो को दिखाये । इस पर कुछ भाई जो समझदार थे, वे तो मान गये पर कुछ लोगो ने आग्रह किया कि छत्रों को पूर्व परिपाटी के अनुसार ही लगा दिया जाय । हमारी मण्डली ने विचार किया कि पवित्र दशलाक्षणी के समय कषाय न बढ़े इसलिये पुनः छत्रों को पूर्ववत लगा दिया जाय ।

कुछ वर्ष हुए तब पुनः मेरे मन मे यह भावना जागृत हुई और इस विषय की विशेष खोज करने लगा । प्राचीन जितनी भी जैन मूर्तियाँ मेरे देखने मे आई उन सब मे तीन छत्रों का अंकन एक सदृश था अर्थात्, पहले सबसे नीचे सबसे बड़ा छत्र और फिर उससे छोटा और सबसे ऊपर सबसे छोटा ?

इसके बाद दक्षिण के कई जैन शिला लेख देखने मे आये । उन पर भी इसी क्रम से तीन छत्र अंकित थे । पुरातत्व विभाग की एक रिपोर्ट मे पढ़ा कि वैष्णवो के शिला लेखों पर भगवान् विष्णु का प्रतीक चक्र अंकित होता है और जैनो के शिला लेखो पर तीन छत्र (मुक्कुडोई)
Annual Report, Archaeological Survey, Mysore, for 1918, p.4.

वैष्णव और बौद्ध मूर्तियो पर केवल एक ही छत्र अंकित होता है किन्तु जैन मूर्तियो पर ही तीन छत्र होते है ।

जैन ग्रंथो के अनुसार, भगवान के अष्ठ प्रातिहार्यों मे तीन छत्र होते है ।

छत्तत्तयसिहासरए भामंडल चामरेहिं जुत्ताह्
जिरएपडिमाग्रोतेसुं रयरामईग्रो विरंजति
तिलोयपण्णत्ति ७।४७

श्री यति वृषभाचार्य कृत तिलोय-पण्णति बहुत प्राचीन ग्रंथ है । इसमे भगवान महावीर के समय से लेकर छठी शताब्दी तक के ग्रंथो मे से सामग्री का संकलन किया गया है । इस महान ग्रंथ के चतुर्थ महाधिकार के श्लोक ९२१ मे लिखा है कि:--

ससिमंडलसकास मुत्ताजालप्पयसंजुत्तं
छत्तत्तय विरायदि सव्वाणं तित्थकत्ताणं ॥९२१॥

अर्थात–सब तीर्थंकरो के चन्द्र मण्डल के सदृश और मुक्ता समूहो के प्रकाश से संयुक्त तीन छत्र शोभायमान होते हैं ।

इसी प्रकार जिन सहस्रनाम अ० ३ श्लोक ४६ मे लिखा है—

वागस्पृष्टासनश्छत्रत्रयराट् पुष्पवृष्टिभाकदिव्याशोको मानमर्दीसगीतः:— र्होऽग्रष्ट मंगल:

इसकी श्रुतसागरी टीका है:—छत्रत्रयराट् अर्थात् छत्रत्रयेणोपर्युपरि धृतेन राजते छत्रत्रयराट् ।

अर्थात् तीन छत्रो को धारण कर समवशरण मे विराजमान रहते हैं इस लिये छत्रत्रयराट् कहे जाते हैं। कल्याण मन्दिर स्तोत्र मे भी लिखा है—

तीनछत्र त्रिभुवन उदित, मुक्तागण छविदेत।
त्रिविधरूपधर मनहुशशि, सेवत नखतसमेत ॥

अब प्रश्न यह होता है कि तीन छत्रो से तात्पर्य क्या है ? जिनसहस्रनाम, अ ५ श्लोक ६६ के अनुसार —

धीरोजगद्धितोऽजय्यस्त्रिगत्परमेश्वर
विश्वासी सर्वलोकेशो विभवोभुवनेश्वर ॥६६॥

त्रयाणा जगता परमउत्कृष्टः ईश्वर. स्वामी त्रिजगत्परमेश्वर. अर्थात् भगवान तीनो जगत के परमेश्वर-स्वामी है। और इसी त्रिजगत्परमेश्वर की सार्थकता के लिये भगवान पर तीन छत्र रहते है।

भक्तामर का श्लोक ३१ वा भी यही सूचित करता है

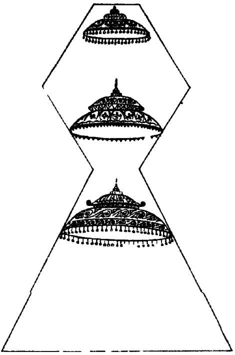
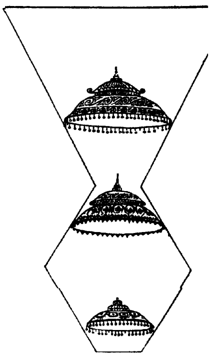
छत्रत्रय तव विभाति शशाककातमुच्चै स्थित स्थगित भानुकरप्रताप।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभ, प्रख्यापर्यत्तिजगत परमेश्वरत्व ॥३१॥

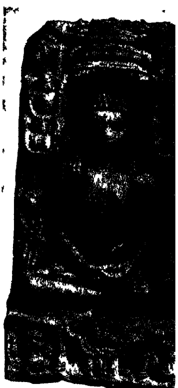
तीन लोक की प्रभुता कहे, मोती झालरसो छविलहै इसकी पुष्टि श्री नमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठा तिलक से भी होती है—

वैडूर्यदड परिलबिमुक्तालबषक भूत्रयनाथचिन्हु
छत्रत्रय यच्छरहिन्दुबिब त्रयोपन नूर्नामहृतहस्तु

जैन मान्यता के अनुसार तीन लोक का स्वरूप पुरुषाकार है। अर्थात् एक मनुष्य अपने दोनो पैरो को चौडा फैलाकर, कोहनियो को निकाले हुए कमर पर दोनो हाथो की हथेलियो को रखकर खडा हो इस प्रकार का आकार तीन लोक का माना गया है। देखो चित्र। इस प्रकार के लोक का सबसे उत्कृष्ट चौडा भाग नीचे ७ राजू है ऊपर ५ राजू और सबसे ऊपर १ राजू है। अस्तु तीन लोक के नक्शा के अनुसार छत्रो को नियोजित किया जाय तो अनुपात मे सबसे नीच सबसे बडा छत्र, फिर उसके ऊपर उससे छोटा और सबसे ऊपर और भी छोटा छत्र लगाना होगा। और इसी पद्धति से कलात्मक रूप बनेगा। यदि इसके विपरीत प्रणाली का अवलम्बन किया जाय, जैसा कि इस समय अनेक जैन मन्दिरो मे देखने आता है—अर्थात् सबसे छोटा छत्र सबसे नीचे, उससे बडा उसके ऊपर और सबसे बडा सबके ऊपर, तो इसके लिये तीन लोक को ही उल्टा कर देना होगा—देखो चित्र

अस्तु जैन बन्धुओ से निवेदन है कि भावना, उद्देश्य और कला की रक्षा तथा सुन्दरता की दृष्टि से प्राचीन और सही विधि को अपनाये और जिन मन्दिरो मे इसके विपरीत पद्धति चल रही है उसका सशोधन करे।



वेदों में अहिंसा

डा० सुधीर कुमार गुप्त

१. इस लेख में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा इनकी शाखा संहिताओं को लक्ष्य करके विचार निबद्ध किए गए हैं। अन्य वैदिक साहित्य की भावनाओं का भी प्रसंग वश उल्लेख किया है।

२. अहिंसा शब्द का अर्थ सामान्यतः हिंसा का सर्वथा अभाव माना जाता है। इसके व्याख्यान में बताया जाता है कि मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को कष्ट चाहे वह कैसा भी हो—नहीं पहुंचना चाहिये। हिंसा के इस परिवर्जन में औचित्य और अनौचित्य का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है।

३. परन्तु साहित्यिक दृष्टि से 'अहिंसा' पद का अर्थ अब्राह्मण पद के समान हिंसा भिन्न, परन्तु हिंसा के सदृश कर्म है। भाव यह है कि मनुष्य हिंसा से बचे, परन्तु यदि आवश्यक हो तो उसके लिए तैयार रहे।

४. वेद संहिताओं और शाखा संहिताओं में अहिंसा पद आत्म रक्षा के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा अपनी अहिंसा के लिए ही मनुष्य अपने आपको लोकों के समर्पित करता है, सर्पों का शमन करता है, देवों की शरण में जाता हैं, पृथ्वी का खनन और वपन करता है परमात्मा के दण्ड रूपी पाशों से मुक्त होना चाहता है। स्वयं शान्त रहता है और दूसरों को भी शान्त चाहता है, यज्ञ करता और कराता है, तथा औषधियों, जल और अन्न आदि का सेवन करता है, मनुष्य की रक्षा के लिए उसमें पुष्टि का आधान किया जाता है।

५. मनुष्य की यह आत्म रक्षा शारीरिक है और आध्यात्मिक भी। इस रक्षा के निमित्त ही मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त होता है—चाहे वे याज्ञिक हों अथवा और किसी प्रकार के। इसी के निमित्त ब्रह्म और क्षत्र शक्तियों का समन्वय किया जाता है, घोर पुरुषों को बन्धन में रक्खा जाता है। आत्म रक्षा की ही भावना पर की रक्षा और पर की हिंसा न करने में प्रस्फुटित होती है और इसी से अहिंसा का लोक में प्रचलित भाव—दूसरों की हिंसा न करना आदि का विकास हुआ है।

६. 'अहिंसा' के इस वैदिक स्वरूप में अपनी रक्षा के लिए आवश्यकता होने पर पर-हिंसा का निषेध नहीं किया गया है, वरन् उसकी अनुमति है। साथ ही इस पर हिंसा की सीमाओं का निर्धारण भी कर दिया गया है। इन सीमाओं का उल्लंघन ही हिंसा है।

७. इस सिद्धान्त का मूल मनुष्य की 'आत्म प्रिय' कर्म करने की प्रवृत्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद ने इस प्रवृत्ति का अच्छा विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हैं कि पति, जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्म, क्षत्र, लोक, देव, भूत, और सब कुछ पति आदि की कामना के लिए प्रिय नहीं होते हैं प्रत्युत अपनी कामना के लिए ही प्रिय होते है।

८. मनुष्य के सब कर्मों और भावों में यह आत्मतत्त्व ही प्रमुख होता है। जो इस को नहीं समझता है वह सर्वत्र पराभूत होता है। आत्म स्थिति के लिए इस का ज्ञान परम अनिवार्य है।

९. मनुष्य अपने लिए सर्वसुख चाहता है। वह जानता है कि परमेश्वर के नियमों का पालन करने वाला सुखी, सुरक्षित और निष्पाप रहता है। यदि उसके नियमों का पालन न किया जाय तो स्थिति विपरीत हो जाती है क्योंकि वह सबको अपनी व्यवस्था में रखता है तथा उत्तम शासक और दण्ड आदि का विधाता है। त्रुटि–त्रुटि ही है–छोटी हो या बड़ी। इन्द्र के लिए स्तुतियां यद्यपि यथाशक्ति निर्दोष बनाई जाती, हैं परन्तु फिर भी वे सदोष और इस कारण अनिष्टकर हो सकती हैं। इसी लिए पुनः पुनः मन्त्रों में परमात्मा के दण्ड से बचने के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं। इन प्रार्थनाओं में कष्ट, दुःख आदि के परिहार की भावना पाई जाना स्वाभाविक ही है। इसी कारण इन प्रार्थनाओं में 'अहिंसा' पद का प्रयोग नहीं पाया जाता है। इसके स्थान पर निषेध–सहित क्रिया पदों का प्रयोग किया जाता है।

१०. एक स्थान पर औषधियों को हिंसा हीन रूप में काटने का विधान किया गया हैं। यहां पर हिंसा का बचाव अपने लिए ही अभिप्रेत, है, क्योंकि औषधियों में प्राण है, जीव नहीं। हिंसा जीवों को कष्ट पहुँचाने में ही होती है, क्योंकि जीव ही चेतन पदार्थ है, और सुख दुःख का अनुभव करता है। अतः प्राण युक्त, परन्तु जड़ औषधियों को काटने से उनकी हिंसा नहीं होती है।

११. वेद और शाखा संहिताओं में आत्म रक्षा और पर रक्षा के प्रकरणों से बाहर प्राणियों की हिंसा करने का कोई विधान उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत हिंसा न करने और प्राणियों के रक्षा करने के कथन अनेकशः मिलते हैं। यजुर्वेद में कहा गया है कि पशुओं की रक्षा करो, किसी जंगम प्राणी की हिंसा मत करो', मन्त्रों में द्विपाद् और चतुष्पाद प्राणियों के लिए अभय और कल्याण की कामना की गई। वहां मांस भक्षण की निन्दा करते हुए मांस भक्षियों को नष्ट करने और भगा देने का विधान भी पाया जाता है। वहां जौ चावल आदि अन्न खाने का ही स्पष्ट विधान किया है, तथा बच्चों के दांतों तक से माता–पिता की रक्षा की भावना पाई जाती है। यज्ञ में प्रयुक्त 'औषधे त्रायस्वैनम्' तथा 'स्वधिते मैनं हिंसीः' का लक्ष्य क्रमशः 'रक्षा करना' और 'अहिंसा' है।

१२. यजुर्वेद के यज्ञ प्रकरणों में भी पशुओं के वध के लिए कोई स्थान नहीं है। उदाहरण के लिए वहां अध्याय २३ का लक्ष्य वागब्रह्म है, ब्राह्मण ग्रन्थों ने अश्वमेध को आदित्य, सूर्य, चन्द्रमा, राष्ट्र, श्री और यजमान आदि कह कर इस ओर लक्ष्य किया है तथा अश्वमेध के व्यापक क्षेत्र और अभिप्राय को व्यक्त किया है।

१३. यजुर्वेद के अध्याय २४ में पशु विज्ञान दिया गया है। यह भिन्न बात है कि उसको कौन कितना समझ पाता है। अध्याय २५ में पुनः प्रजापति–परमात्मा की स्तुति के मन्त्र दिए गए हैं, जो अध्याय के विषय को ईश्वरपरक इंगित करते हैं।

१४. पुरुषमेध प्रकरण में लगभग १८४ पुरुषों का उल्लेख आया। ये समाज में प्रच-लित इतने ही पेशों से सम्बन्धित व्यक्ति हैं। इस प्रकरण में इन पुरुषों को अपने २ पेशे के अनुरूप गुण या पेशे से सम्बन्ध बताया गया है। यथा ब्राह्मण को ब्रह्म शक्ति से, राजन्य को क्षत्र (बल) से, वैश्य को प्रजा से, शूद्र को तप से, चोर को अन्धकार से, सूत को नृत से, शैलूष को गति से, न्यायाधीश आदि समाचारों को धर्म से, वन के रक्षक को वन से, संबंध किया है 'पुरुष' ब्रह्मा के सृष्टि के रूप में विकसित होने का आलंकारिक वर्णन है।

१५. आत्म रक्षा और पर रक्षा के लिए हिंसा की अनुमति है। रक्षोहा अग्नि के सूक्त में राष्ट्र के शासन को राष्ट्र रक्षा के लिए आह्वान किया है और उसे कहा गया है कि शत्रु को जहां कहीं भी, जैसे भी बैठे, गति करने या अन्तरिक्ष मार्गों में उड़ते हुए पाम्रो उसका तीक्ष्ण शस्त्रों से वध कर दो। उसके पोर २ को काट दो और उसे आम मांसभक्षी हिंसक पशुओं के आगे फेंक दो।

१६. इस विवेचन से यह सुव्यक्त है कि जो शत्रु हैं, पर धन आदि के अपहारक, शांति के भंग करने वाले, 'रहो और रहने दो' के सिद्धान्त को तोड़ने वाले हैं, द्वेषी, कुटिल, वञ्चक मिथ्यावादी हैं उनका राष्ट्र से उन्मूलन शान्ति स्थापना के लिए आवश्यक है। जो शान्त उपायों से नहीं मानता उसके साथ ऐसा ही व्यवहार उचित है। इस स्थिति के अतिरिक्त हिंसा पाप है, वर्ज्य है। यही वैदिक अहिंसा है।

जैन प्रेमाख्यान

प्रो० मथुराप्रसाद अग्रवाल, एम ए, बी एड्, रिसर्च-स्कॉलर

[निष्कर्षत, जैन-साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध कथाओं में प्रेम सम्बन्धी विविध व्यापारों को अप्रधानता देते हुये उनके माध्यम से उन धार्मिक सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान दिया गया है, जिनके अनुसार उन्हे उपदेश देना होता है। 'जन्म-जन्मांतर' एव 'कर्मवाद' का महत्व उन उपदेशों की प्रमुखताएँ है। एतदर्थ उन कथाओं को उस अर्थ मे प्रेमाख्यान नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में हिन्दी के सूफी तथा असूफी प्रेम-कथाओं को 'प्रेमाख्यान' की संज्ञा दी गई हैं। स०]

भारतीय प्रेमाख्यानो की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। इसके बीज स्वरूप सकेत प्राचीन वैदिक सहिताओ मे मिलते है। ऋग्वेदीय सहिता के कई सूक्त जिनमे सवादात्मक प्रयोग आते है तथा जिनमे प्रेम-भाव की भी चर्चा है,[1] प्रेमाख्यान की कोटि मे रखे गए है[2]। उदाहरणार्थ दसवें सूक्त मे 'यम-यमी सवाद' और ६५ वें सूक्त मे उर्वशी-पुरूरवस का प्रेमालाप[3]। फिर ये प्रेमाख्यान ब्राह्मण ग्रन्थो और उपनिषदो के अन्तर्गत किसी विधि अथवा सिद्धात के समर्थन प्रतिपादन के लिए दृष्टात स्वरूप प्रयुक्त होने लगने है। पीछे जब रामायण-महाभारत का निर्माण होता है और पौराणिक रचनाओ की एक परम्परा सी चल पडती है तो ये उन आख्यानो के अन्तर्गत पूरको का काम करते हुए उपाख्यान कहलाने लगते है। तदनन्तर बौद्ध साहित्य की सर्जना के समय इन प्रेमाख्यानो को जातको मे तथा जैन साहित्य की धर्म कथाओ मे भी स्थान प्राप्त होने लग जाता है। प्रेमाख्यान वहा धार्मिक बातो के प्रचार साधन बन जाते हैं। परिणामत प्रेमाख्यानो के प्रेम-व्यापार का महत्व बहुत कुछ घटा तक दिया जाता है। पर कथात्मक एव काव्यात्मक साहित्य की रचनाओ का प्रारम्भ हो जाने पर तो इन्हे विशेष गौरव प्राप्त हो जाता है। कथा साहित्य म इन्हे प्रमुख स्थान मिलता है तो काव्य-साहित्य मे ये स्वतन्त्र एव अलकृत हो उठते है। इस समय को प्रेमाख्यानो के चरमोत्कर्ष का युग कहा

---

१ निश्चय ही इस प्रकार के वर्णनो के प्रसगवशात् ही आने से वहा उन्हे गौण स्थान ही प्राप्त हो पाया है।

२ श्री परशुराम चतुर्वेदी की इलाहबाद आकाशवाणी से प्रसारित 'प्रेमाख्यानो की मुख्य प्रवृत्तिया शीर्षक वार्ता मे।

३ सक्षिप्त विवेचनार्थ द्रष्टव्य आकाशवाणी-प्रसारिका (पब्लिकेशन्स-डिवीजन, दिल्ली), वर्ष ३, अक ४, अक्तूबर-दिसम्बर १६५६, पृ० ३८।

गया है[४]। इसी समय प्रेमाख्यानो को सर्व प्रथम बाह्य रूपों की विविधता मिलती है। इसी समय उन्हे आकर्षण की वह अपूर्व शक्ति भी उपलब्ध हो जाती है कि वे सभी प्रचलित भाषाओ द्वारा समान रूप से अपनाए जाने लगते हैं।

वैदिक, पौराणिक अथवा काव्यात्मक प्रेमाख्यानो की कई बातो मे साम्य दृष्टि गोचर होता है —

(१) इनके प्रेमी एव प्रेम–पात्रो मे से या तो दोनो ही किन्ही राज–परिवारो के सदस्य हुआ करते हैं अथवा इनमे से एक अर्थात् कम–से–कम प्रेमी का सम्बन्ध किसी ऐसे परिवार से अवश्य रहता है और इसके अपवाद प्राय नही मिला करते हैं, जहा प्रेम पहले किसी नारी–हृदय म अ कुरित होता है[५]।

(२) प्रेमारम साधारणत गुण–श्रवण, स्वप्न–दर्शन अथवा प्रत्यक्ष भेट से होता है।

(३) प्रेम–विकास मे प्राय सखियो–सखाओ पक्षियो एव दैवी शक्तियो से सहायता ली जाती है।

(४) उलट–फेर मे कभी २ आकस्मिक घटनाओ का पूरा हाथ रहता है।

(५) इनमे प्रेम–भाव का वैवाहिक सम्बन्ध मे परिणित हो जाना निश्चित नही रहता।

(६) प्रेमी–प्रेमिका के वैवाहिक सम्बन्ध का स्वरूप अधिकतर गन्धर्व का रहता है और इसके पूर्व बहुधा स्वयम्बरो की भी रचना कर दी जाती है। इस प्रकार के आख्यानो मे अक्सर ऐसे अवसर भी देखे जा सकते है जहा प्रेमी को प्रेमिकाओ के लिए भीषण युद्ध तक करना पडता है। कभी–कभी सुन्दरियो का अनेक विरोधियो के बीच मे से हरण भी करना पडता है।

लेकिन बौद्धो के पाली साहित्य एव जैनियो की प्राकृत एव अपभ्रन्श कथाओ के अन्तर्गत कई ऐसे प्रमाख्यान मिलत है, जो इन उपयुक्त वर्णित बातो से कई प्रकार से भिन्न प्रतीत हात है। यथा—

(१) बौद्ध एव जैन प्रेमाख्यान अधिकतर लोक-गाथाओ के स्रोतो से आए है, एतदर्थ उनमे जो 'लोक–सुलभ सरलता एव स्वाभाविकता निवास करती है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है।

(२) यह आवश्यक नही कि इनकी कथा–वस्तु का सम्बन्ध विशेषत राज परिवारो से ही हो। इनके पात्र बहुधा वैश्यो शूद्रादि जाति के लोगो मे से चुने गए है और उनमे

---

४ श्री परशुराम चतुर्वेदी भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा (प्रस्तावना)।

५ उर्वशी अर्जुन के प्रति पहले आकृष्ट होती है तो राक्षसी हिडम्बा भीम को चाहने लगती है।

वर्णित राजाग्रो को भी किसी साधारण वर्गीय स्त्री के प्रति ग्रपना प्रेम प्रदर्शन करते कोई सकोच नही ग्रनुभव होता [६] ।

बौद्ध साहित्य की कहानियो मे जितना बल नैतिक शिक्षा एव उपदेशो पर दिया गया है, उतना ग्रन्य ग्र शो पर नही । जैनियो की प्राकृत गाथाबद्ध रचनाग्रो तथा उनकी ग्रपभ्र श धर्म–कथाग्रो मे भी ग्रनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं जिनमे—

(१) मनुष्य योनि के ग्रतिरिक्त कई देव योनि के पात्र भी दीख पडते है ग्रौर भाग्य, सयोग तथा परिस्थितिया महत्वपूर्ण कार्य करती है । सारा वातावरण लाक–साहित्य ग्रौर जीवन के वातावरण से प्रभावित होता है, जिसमे 'भाग्यवाद की प्रधानता रहती है[७] ।

(२) प्रमी–प्रेमिका को उनके पूर्व-जन्मो के ग्रनन्तर ही सफल बनाया है[८] ।

(३) साधनाग्रो के महत्व एव कर्मवाद के निश्चित प्रभावो पर भी विशेष बल दिया गया है ।[९]

---

६ (i) बौद्धो के 'कट्ठहारि जातक' का राजा ब्रह्मदत्त वन मे गा-गा कर लकडी चुनने वाली लडकी पर ग्रासक्त हो जाता है । (विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य . श्री परशुराम चतुर्वेदी भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, पृ० २६)

(ii) 'मणिचोर जातक (विशेष वर्णनार्थ द्रष्टव्य जातक कथा (द्वितीय खण्ड), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ० ,२८८–८) वाला वाराणसी–नरेश सुजाता नाम की स्त्री पर ग्रासक्त हो उसके पति पर मणि की चोरी का ग्रपराध लगाता है तथा उसका सिर तक कटवा लेना चाहता है किन्तु उस साध्वी की विनय पर वह देवेन्द्र द्वारा स्वय मार दिया जाता है ।

७ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य 'लीलावई कहा' (भारतीय विद्या भवन, बम्बई) ।

८ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य ग्रपभ्र श रचना 'पउमसिरि (पद्मश्री) चरिउ', सिंघी जैन ग्रन्थ माला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् १९४८ ई० ।

९ कभी कभी सीधे-सादे रूप मे जीवित कोई लोकगाथा जैनियो के यहा उनकी धर्म कथा का ग्राधार बन एक विचित्र सा रूप ग्रहण कर लेती है । दूसरे शब्दो मे प्रचलित कहानियो का रूप यथापूर्व न रहकर तत्वत ''जैन' हो जाता है । राजस्थानी भाषा मे उपलब्ध 'सदयवत्ससावलिगा' के शुद्ध प्रेमाख्यान के गुजराती रूपातर जैन रचयिताग्रो के हाथ मे पडकर वृहदाकार धारण करते हुए भावुक धर्म के साथ के उपदेश का साधन भी बन जाता है । इसी प्रकार बहुत से जैन कवियो द्वारा गुजराती मे 'रासो-साहित्य' सर्जित हुग्रा है, जिसका मूलाधार भी प्रेमाख्यानो के माध्यम से धर्म प्रसारण ही रहा प्रतीत होता है ।

(४) एक प्रधान कथा के अन्तर्गत अनेक उप-कथाएं क्रमशः गुंफित रहती है।

(५) कथा के रूप को जैसा का तैसा ही रहने देने का भरसक प्रयत्न करते हुए अन्त में कोई परिणाम स्थिर करने की प्रवृत्ति रहती है। यथा—

(i) श्री महावीर स्वामी की प्रमुख शिष्या चन्दनबाला की शिष्या सुव्रता की शिष्या तरंगवती कथा मे प्रेम की अमरता दिखलाई गई है और स्पष्ट किया गया है कि पूर्व जन्म का सच्चा प्रेम नव जन्म में भी फलित होता है। दूसरे शब्दो मे प्रेम की सचाई के कारण अन्त मे प्रेमी प्रेमिका सफल भी हो जाते है। इसके अनन्तर एक जैन-मुनि का उपदेश श्रवण कर तरंगवती को वैराग्य उत्पन्न हो गया तो उसने सुव्रता से दीक्षा ग्रहण कर ली। जैन मुनि पूर्व जन्म का वही पारधी था, जिसने अपने बाण से हाथी का शिकार करते समय, हंस को मार दिया था।[१०]

(ii) जैन-साहित्य के 'नायाधम्म कहाओ' नामक अंग के अष्टम अध्याय की 'मल्ली की कथा' मे मिथिला के राजा की कन्या मल्ली के परम सौन्दर्य शालिनि होने के कारण छः पृथक् २ राजकुमार उमे अपनाने की चेष्टा करते है। मल्ली के पिता उन सभी के द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावो को स्वीकार नही करते है तब वे सब क्रुद्ध होकर मिथिला नगरी पर घेरा डाल देते है। इस समय मल्ली अपने पिता को परामर्श स्वरूप निवेदन करती है कि वे उन छहो राजकुमारो को निमन्त्रित करे और उन्हे उस सम्बन्धी स्वीकृति की सूचना भी भिजवा देवें। तदनुसार वह एक विचित्र 'मोहन घर' का निर्माण कराती है और उसमें अपनी एक सजीव सी प्रतिमा रख देती है। वह घर इस प्रकार बना रहता है कि उसके भीतर से प्रत्येक राज-कुमार दूसरे के परोक्ष मे उस प्रतिमा को देख पाता है और उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। इसी मध्य मल्ली उस प्रतिमा के एक छिद्र द्वारा उसमे प्रतिदिन कुछ न कुछ उच्छिष्ट भोजन भी डालती रहती है। अन्त मे, जब वह उन सभी के सामने उक्त छिद्र का ढक्कन उठाती है तो उसमे मे इतनी दुर्गन्ध निकलती है कि वे अपनी नाक बन्द करके भाग खड़े होते है। मल्ली उन्हें इस अवसर पर धर्मोपदेश देती हुई कहती है कि किस प्रकार स्वयं उसके भी सुन्दर शरीर मे निकृष्ट मल वर्तमान है। इस प्रकार वह उसके प्रति प्रदर्शित प्रेम की व्यर्थता सिद्ध करती हुई अपने पूर्व जन्म का समस्त वृत्तान्त कहती हुई संसार का परित्याग करने की प्रेरणा देती है[११]।

(iii) कवि धणवाल (धनपाल) की 'भविसत्त कहा' और धर्मचक्र की 'मलय सुन्दरी[१२] मे स्पष्ट रूप से यह निर्णय स्थिर किया गया है कि जीवन की सारी घटनाएं विषमताएं अपने पूर्व जन्म के कार्यों का ही परिणाम होती है और भाग्य का चक्र किसी को भी कभी चैन

---

१०. (i) संखित्त तरंगवई कहा (तरंगलोला) अहमदाबाद, सं० २०००

(ii) Dr Winternirz's Jaistory of hdian lireratue, rol. II (University of Calutta) 1933, P. 522.

११. वही : पृ० ४४७-८

१२. वही: पृ० ५३३

नही लेने देता है। राजकुमार महाबल और मलय सुन्दरी दोनो ही क्रमशः जैन धर्म मे दीक्षित होकर अपने भविष्य को सुधारते हैं।

(६) जैन–पौराणिक साहित्य मे अन्य पौराणिक उपाख्यानो की तरह कतिपय प्रेमाख्यान स्वतन्त्र रूप मे नही मिलकर प्रसगतः ही उपलब्ध होते है [13]।

(७) इन प्रेमाख्यानो के पात्र–पात्राए मध्यम एव निम्न वर्ग से सम्बन्धित है, अतः इन कथाओ की घटनाएं साधारण जन–समाज के अधिक अनुकूल पडती है।

(८) इन प्रेमाख्यानो की भाषा पाली, प्राकृत अथवा अपभ्र श ऐसी बोधगम्य ही अपनाई गई हैं कि जिसके पढने–सुनने–समझने वाले प्राय. साधारण वर्ग तक मे हुआ करते थे।

निष्कर्षत., जैन–साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध कथाओ मे प्रेम सम्बन्धि विविध व्यापारो को अप्रधानता देते हुए उनके माध्यम से उन धार्मिक सिद्धान्तो पर विशेष ध्यान दिया गया है जिनके अनुसार उन्हे उपदेश देना होता है। 'जन्म–जन्मान्तर' एव 'कर्मवाद' का महत्व उन उपदेशो की प्रमुख विशेषताएं है। एतदर्थ उन कथाओ को उस अर्थ मे प्रेमाख्यान नही कहा जा सकता, जिस अर्थ मे हिन्दी के सूफी तथा असूफी प्रेमकथाओ को 'प्रेमाख्यान' की सज्ञा दी गई है। हिन्दी के जितने सूफी प्रेमाख्यान है, उनकी विषयवस्तु मे प्रेम–दर्शन की ही अभिव्यक्ति की गई है। सम्पूर्ण कथाए प्रेम पर आधारित है और सभी चरित्रो का विकास उनमे प्रेम तत्व को विकसित करने के लिए किया गया है, पर अपभ्र श के जैन काव्यो का लक्ष्य प्रेम को महत्व देना नही है। प्रेम की असारता दिखलाने के लिए ही उनमे प्रेम का चित्रण किया गया है। जैन प्रेम कथाओ मे तो जैन धर्म की महत्ता स्थापित करना ही मुख्य लक्ष्य रहा है। इन काव्यो मे प्रेम का पर्यवसान प्राय. वैराग्य मे होता है। एतदर्थ प्राकृत तथा अपभ्र श के प्रेमपरक जैन काव्यो को विशुद्ध प्रेमाख्यान नही कहा जा सकता, क्यो कि इनका लक्ष्य न तो प्रेम-दर्शन को अभिव्यक्त करना ही है; और न दाम्पत्य प्रेम को ही प्रकट करना। इनका लक्ष्य तो पूर्व जन्म के कार्यों का प्रभाव और ससार की नश्वरता दिखा कर वैराग्य मे जीवन को परिणत करना है। परिणामत. प्रेम का जो स्वाभाविक विकास होना चाहिए, वह इन काव्यो मे नही हो पाया है। सूफियो की प्रेम कथाएं प्रेम–साधना को प्रकट करने के लिए लिखी गई थी पर कहने दीजिए कि जैन–कवियो ने केवल लोकमत को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए प्रेम कथाओ को एक माध्यम के रूप मे स्वीकार किया है। वस्तुत. ब्रह्मचर्य, सयम, तप आदि की शिक्षा देने वाले धर्माचार्यों से इससे अधिक की आशा ही क्या की जा सकती थी ?

---

१३. विशेष वर्णन हेतु द्रष्टव्य · जैन महापुराण—उत्तर पुराण, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, स० २०११, ७० वा पर्व श्लोक ६४–७१, पृ० ३४३ और श्लोक २०६–३६, पृ० ३८६–६०।

भगवान महावीर

कपूरचन्द पाटनी एम. काम, एलएल. बी, साहित्यरत्न

यह ऐतिहासिक सजीव तथ्य है कि जब जब संसार मे अराजकता, अनीति, अत्याचार, अन्याय और शोषण बढता है, तब तब ऐसे संकटकाल मे प्राणीमात्र को दिव्य सन्देश देने के लिए किसी पुण्य पुरुष का अवतार अवश्य होता है । भारत मे जब उस समय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो मे विषमता फैली हुई थी और धर्म के नाम पर हिंसा, अन्धविश्वास, आडम्बर, ढोंग, साम्प्रदायिकता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गये थे । ऐसे समय मे युग प्रवर्तक एव क्रान्तिकारी भगवान महावीर का जन्म ईसा से ५६७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर क्षत्रिय कुण्ड ग्राम मे हुआ ।

महावीर युग धार्मिक जगत मे एक अद्‌भुत क्रान्ति, तत्व चिन्तन एवं दार्शनिक विचार प्रधान युग कहा जा सकता है । ऐसा लगता है कि भारत मे ही नही समस्त संसार मे सत्य, ज्ञान, जागृति एव नव चेतना की लहर उस समय व्याप्त थी । इसी सौ डेढ सौ वर्ष के समय मे यूरोप मे पैथोगोरस तथा सुकरात, चीन मे कानफ्यूशस ईरान मे जोरास्टर आदि अनेक प्रख्यात विचारक दार्शनिक, धर्म प्रवर्तक, तत्व ज्ञानी अवतरित हुए । भारत वर्ष मे भगवान महावीर और भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने प्राणीमात्र के लिए अपने दिव्य सन्देशो द्वारा ज्ञान दीप प्रज्वलित किया ।

महावीर सिद्धार्थ जैसे समृद्ध क्षत्रिय राजा के घर जन्मे । वे जन्म से अतिशय ज्ञानी, शक्तिशाली, मेधावी और शूरवीर थे । घर मे समस्त प्रकार के सुख और सुविधाये उपलब्ध थी । वैभव उनके चारो ओर बिखरा पडा था । वे वैभव मे जन्मे और वैभव मे ही पले । किन्तु वैभव मे उन्हे सुख न दिखा और वह काटो की तरह चुभने लगा । ३० वर्ष के यौवन काल मे अपने को जीतने के लिए सब राज भोगो के मोह को छोड घर का त्याग कर जंगल की राह ले ली । योग, साधना और तपस्या मे लीन हो गये । भगवान ने बारह वर्ष की लोकोत्तर एव घोर तपस्या के बाद अपने जीवन के ४२ वे वर्ष मे तीर्थंकरत्व को प्राप्त किया । इस बारह वर्ष के समय मे उनपर अनेकानेक उपसर्ग आये किन्तु भगवान महावीर वीरता और धीरता से अपने सकल्प पर अविचल और दृढ़ रहे । दीक्षा लेने के बाद लगभग १२ वर्ष तक उन्होने कैवल्य रहित अवस्था मे भ्रमण किया ।

भगवान महावीर ने दीक्षा के समय से लेकर कैवल्य प्राप्ति तक अर्थात् लगभग १२ वर्ष तक मौन स्वीकार किया । मोहनीय ज्ञान वरण, दर्शना वरण और अन्तराय कर्म का क्षय करके उन्होने वीतरागता प्राप्त की । समभाव और समदृष्टि उन्हे मिली । कैवल्य प्राप्ति के बाद ही भगवान ने उपदेश देना आरम्भ किया । महावीर ने तभी उपदेश देना प्रारम्भ किया जब उन्होने उन बातो का, जिन्हे वे कहना चाहते थे, स्वयं जीवन मे साक्षात्कार कर

लिया। उन्होंने वही कहा जो उन्होंने स्वयं जीवन में उतार लिया। विचार और कर्म एक था। इस तरह उनके हृदय की बात कर्म द्वारा जग पर छा गई। इसीलिए केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान का जहां भी विहार होता था, अहिंसा की इस पूर्ण प्रतिष्ठा के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे।

भगवान महावीर का प्रति दिन चार बार प्रवचन होता था। संख्यातीत श्रोता बिना जाति, लिंग, वर्ग भेदभाव के उनकी प्रवचन सभा में उनकी दिव्य वाणी से लाभ उठाते थे। भगवान के उपदेश या सन्देश का मुख्य आधार सर्व जीव समभाव, सर्व जाति समभाव और सर्व धर्म समभाव थे। कर्मवाद उनके उपदेश की मूलभक्ति थी। उनका साम्यवाद प्रत्येक प्राणी को सुख पहुंचाने का साधन था। अनेकान्त या स्याद्वाद विश्व में पूर्ण शान्ति स्थापित करने का मूल मन्त्र था। उनका कहना था कि निरन्तर साधना द्वारा कोई भी महावीर बन सकता है। इस तरह भगवान ३० वर्ष तक भारत के विभिन्न भागों में अपनी दिव्य वाणी द्वारा सन्तप्त प्राणीमात्र को दिव्यामृत पिलाते रहे। उन्होंने अराष्ट्रीय एवं अधार्मिक सम्प्रदायवाद और जातिवाद जैसी संकुचित विचार धारा एवं प्रचलित मनोवृत्तियों पर अहिंसक एवं अमोघ प्रहार किया और धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति द्वारा मानव समाज को नया ऐतिहासिक मोड़ दिया।

भगवान महावीर के सन्देश की आज के अणु युग में भयभीत एवं शान्ति के इच्छुक मानव तक पहुंचाने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उनके युग में थी। युद्ध तथा हिंसा द्वारा शान्ति प्राप्ति के लिए असफल परीक्षण के बाद आज का बुद्धिजीवी मानव स्थायी शान्ति की खोज में प्रयत्नशील है। उसकी यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि शान्ति युद्ध से कभी सम्भव नहीं। आज विश्व के विचारक अहिंसा दर्शन के महत्व को स्वीकार कर रहे हैं। राष्ट्र पिता महात्मा गांधी ने भारत जैसे विशाल देश को अहिंसा एवं सत्याग्रह के शस्त्रों द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम में प्रयोग कर विश्व के सामने उदाहरण प्रस्तुत कर प्रेरणा दी है। वास्तव में भगवान का दिव्य सन्देश ही हमें कल्याण की ओर प्रेरित कर सकता है।

इस प्रकार जगत को कल्याण मार्ग का निर्देशन करते हुए भगवान महावीर ने ७२ वर्ष की अवस्था में आज के २५६१ वर्ष पूर्व बिहार की पावा नगरी में निर्वाण प्राप्त किया।

स्वाश्रयी तीर्थङ्कर महावीर

अगरचन्द नाहटा

[जैन दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर ध्यान दें तो यही विदित होगा कि जैन धर्म में व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वाश्रयी बनने की विचार धारा व्यक्त की गई है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वाश्रयी है, एक द्रव्य का अन्य द्रव्य कुछ बनाता व बिगाड़ता नहीं, सब द्रव्य अपने अपने गुण स्वभाव में ही लगे रहते हैं। ईश्वर सृष्टि कर्ता या कर्मों के फल का दाता है, तथा देवी-देवताओं की कृपा से भला बुरा होता है, इत्यादि पराश्रित विचार धारा को जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है।........... —सं०]

भगवान महावीर के साधक जीवन में हम उनके स्वाश्रयिता का चरमोत्कर्ष पाते हैं। दीक्षा के अनन्तर वे एकाकी क्षत्रियकुण्ड ग्राम से विहार कर कुरमार ग्राम मे पधारते है और ध्यानावस्थित हो जाते है। तभी एक ग्वाला महावीर से अपने बैलो की निगरानी रखने का कह कर अपने घर पर चला जाता है। घर के काम से निपट कर जब वह वहां वापिस आता है तो अपने बैलो को वहा न देख कर प्रभू से पूछता है कि मेरे बैल कहां है? प्रभु तो अपने ध्यान मे लीन थे। अतः उन्हे बैलो के वहा रहने या चले जाने से क्या मतलब? वे मौन ही रहे। ग्वालिया कुछ भी उत्तर न पा कर रुष्ट हो जाता है और यह सोच कर कि इसी मुंड ने मेरे बैल कही इधर उधर कर दिये है और अब पूछने पर उत्तर तक नही दे रहा है बैलो की रासी (रस्सी) को दुगनी-तिगुनी करके वह महावीर को मारने के लिए उद्यत हो जाता है। उस समय इन्द्र ने आकर उसे समझाया और प्रभु का उपसर्ग निवारण किया। उसी समय इन्द्र ने अवधि ज्ञान से देखा कि यह तो प्रभु के साधारण सा उपसर्ग हुवा है पर उनको तो अपने साढ़े बारह वर्षों के साधक जीवन मे बहुत बड़े बड़े कष्ट आने वाले हैं। प्रभु से इन्द्र ने निवेदन किया कि मैं आपके पास रह कर आज्ञा दें तो उपसर्गों का निवारण करता रहूं। उस समय भगवान ने इन्द्र को जो उत्तर दिया वह विशेष रूप मे ध्यान देने योग्य है। उन्होने कहा "इंदा न एवं भूयं, न एवं भव्वं, न भविष्यई, जणं अरिहंता देविन्दस्स असुरिन्दस्स निस्साए केवल नाणं उपायन्ती।"

अर्थात् हे इन्द्र! ऐसा न कभी हुआ, न होता है न होगा ही कि अरिहंत, देवेन्द्र असुरेन्द्र की सहायता से केवल ज्ञान उत्पन्न करें। वे तो अपने ही बल-वीर्य, पराक्रम एवं पुरुषार्थ मे कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करते है। शुभाशुभ कर्मों का जीवन ने स्वयं ही उपार्जन किया है और स्वयं को ही भोग कर उसे क्षय करना होता है। इसमें दूसरे की सहायता काम नही देती और निकाचित कर्म भोगे बिना मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

पराश्रय कितना दुःखप्रद है इसका अनुभव भी भगवान महावीर को तत्काल ही हो गया। प्रसंग इस प्रकार है–

प्रभु जब मोरूक सन्निवेश में पधारे तो वहां आपके पिता–सिद्धार्थ का मित्र दुखयन्त तापस रहता था। उसने महावीर से निवेदन किया कि हे आर्य ! अगला वर्षाकाल हमारे आश्रम में ही बिताना। वृद्ध तापस के आग्रह के कारण इधर उधर घूम फिर कर वर्षाकाल आने पर वे उस आश्रम में आ गये और तापस ने उनके रहने के लिए स्वतन्त्र झोंपड़ी दे दी। संयोगवश उस वर्षाकाल में वर्षा नहीं हुई और भूखे बैल गाय आदि पशु उस झोंपड़ी का घास निकाल कर खाने लगे। भगवान महावीर तो अपने ध्यान में मस्त थे उन्हें झोंपड़ी की रक्षा की चिन्ता क्यों होने लगी ! तापस, इस तरह पशुओं द्वारा झौंपड़ी की बुरी हालत होना बर्दाश्त न कर सका और उसने प्रभु को उपालंभ देते हुए कहा–हे आर्य ! तुम तो बहुत आलसी हो जिस झोंपड़ी में रहते हो, उसकी भी रक्षा नहीं करते। पशुओं को हटाते भी नहीं हो, यह ठीक नहीं है। तभी से प्रभु ने निश्चय किया कि तापस के लिए मैं अप्रीति का कारण बना; अतः भविष्य में अप्रीति के स्थान पर मैं नहीं रहूंगा और वे वहां से विहार कर गये। इसीलिये उन्हें वायु की तरह अप्रतिबद्ध–विहारी कहा गया है। उन्होंने मुनियों के लिये भी अधिक से अधिक स्वाश्रयी रहने का विधान किया है। मुनि किसी भी व्यक्ति के आश्रम में एक जगह लम्बे समय तक नहीं रह सकते।

स्वाश्रयी बनने के लिये सबसे पहली आवश्यकता है–अपनी आवश्यकताओं को घटाना। आवश्यकता अधिक होने पर परावलम्बी होना ही पड़ता है। जैन मुनियों का संयमी जीवन आवश्यकताओं को कम से कम करने का एक विशेष उपक्रम है। वे अपने सभी काम स्वयं कर लेते हैं। केश बढ़ते हैं यह प्रकृतिका धर्म है पर उनको हटाने के लिये नाई या उस्तरे का आश्रय लेना पराश्रय है अतः उनके लिए अपने हाथ से केशों को लोच करने का विधान रखा गया है। मुनियों के लिये परिग्रह का त्याग तो होता ही है पर वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरण भी वह इतना ही रखे कि जितना विहार में स्वयं उठा कर चल सके। उस भार को ढोने के लिये किसी दूसरे पुरुष व पशु आदि का आश्रय लेना निषिद्ध है। महावीर के समय तो वस्त्र पात्र आदि उपकरण बहुत ही थोड़े थे और पुस्तकों का भार तो था नहीं, क्यों कि ज्ञान सारा कंठस्थ था। आहार भी किसी एक व्यक्ति परिवार या जाति का ही नहीं लिया जाता था जिससे कि किसी के आश्रय या दबाव का मौका मिले। दिन में एक बार जहां कहीं किसी के घर गये और वहां जो भी मिल गया ले लिया।

मुनिजन अधिकांश तपस्या ही करते रहते हैं। स्थान के लिये भी पराश्रय की आवश्यकता नहीं थी। उन दिनों नगर या गांव के बाहर उद्यान या वन खण्ड में ही मुनि ठहरते थे। किसी एक स्थान में अधिक दिनों तक नहीं ठहरने का विधान होने से उस स्थान या व्यक्तियों से ममत्व होने का प्रसंग ही नहीं आता था। इस तरह पराश्रय को प्रश्रय नहीं मिलता था। भगवान महावीर तो गांव में एक दिन, नगर में पांच दिन, इस तरह एक स्थान पर बहुत कम ही रहते थे। मुनियों के लिये भी नव कल्पी विहार की मर्यादा रखी गई है। इस तरह भगवान

महावीर ने अपने चरित्र द्वारा स्वाश्रयीका आदर्श उपस्थित किया। मुनियों के लिये भी स्वाश्रयी रहने का विधान बनाया।

जैन दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओर ध्यान दें तो भी यही विदित होगा कि जैन धर्म में व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वाश्रयी बनने की विचार धारा व्यक्त की गई है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वाश्रयी है। एक द्रव्यका अन्य द्रव्य कुछ बनाता व बिगाड़ता नहीं, सब द्रव्य अपने अपने गुण स्वभाव में ही लगे रहते हैं। ईश्वर सृष्टि कर्ता या कर्मो के फल का दाता है, तथा देवी देवताओं की कृपा से भला बुरा होता है इत्यादि पराश्रित विचार धारा को जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। जीव अपने कर्म स्वयं करता है और स्वयं भोगता है अतः वह ईश्वर या देवी देवताओं के आश्रित नहीं है। स्वयं पुरुषार्थ करके कर्मों के बन्ध तोड़ कर परमात्मा बन सकता है। अपने को तारने या डूबोने वाला व्यक्ति स्वयं है अपनी आत्मा का शत्रु भी वही है और मित्र भी वही है। दूसरे व्यक्ति तो निमित्त मात्र है इसलिये दूसरों के आश्रय पर रहने की आवश्यकता नहीं। अपने पुरुषार्थ पर निर्भर रह कर दृढता के साथ सद्धर्म मार्ग में आगे बढ़ते जाना ही मानवता है। इस तरह भगवान महावीर के जीवन सन्देश से हमें पराश्रिता को छोड़ कर स्वाश्रयी बनने की महान प्रेरणा मिलती है।

भगवान महावीर ने नारी को स्वाश्रयी बनने का जो सन्देश दिया वह उनकी एक महान् देन है। जैन धर्म में उसे पुरुष की तरह ही स्वाश्रयी बनने की सुविधा दी गई है। वह ब्रह्मचारिणी या सन्यासिनी बन कर अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़ सकती है। और मोक्ष प्राप्त कर सकती है। उसके लिए घर परिवार या पुरुषों के आश्रय में सदा गृहस्थी ही बने रहना आवश्यक नहीं है। एकत्व भावना या पृथकत्व भावना स्वाश्रय को पुष्ट करने के लिये ही है। मैं किसी का नहीं मेरा कोई नहीं। ज्ञान दर्शन चरित्र गुण मेरे अपने पास ही हैं। और उसे प्रकट करना भी मेरे पुरुषार्थ का ही काम है। नेमि राजर्षि, अनाक्षी मुनि, भरत चक्रवर्ती आदि ने एकत्व व अन्यत्व भावना के बल से ही मोक्ष प्राप्त किया और स्वाश्रयी बने। अतः स्वाश्रयी जीवन, जैन धर्म का प्रधान संदेश है।

धर्मों में समन्वय की आवश्यकता

रिषभदास रांका

वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीन धर्मों में बहुत सी बातें समान हैं। इन तीनों का ही ध्येय आत्मा को चिर शान्ति अर्थात मुक्ति प्राप्त करना बतलाया गया है। अगर समन्वय की भावना मनुष्य के मन में हो तो इन तीनों धर्मों एवं संसार के अन्य अनेक धर्मों में समानता के तत्व सामने आ सकते हैं। हमें परस्पर के सौहार्द के लिये सभी धर्मों के समन्वय को अत्यन्त महत्व देने की जरूरत है।

जैन दर्शन ने इस समन्वय का साधन स्याद्वाद को बतलाया है जिसको इतर दर्शनों ने भी किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। आज जरूरत इस चीज की है कि इस अपेक्षा सिद्धान्त को अधिकाधिक बल दिया जाये। किन्तु वस्तु स्थिति यह है और यह दुःख की बात है कि सापेक्षवाद का स्वयं जैन ही उपयोग नहीं कर रहे हैं तो औरों से क्या आशा की जा सकती है। जब तक हम हमारे जीवन में स्याद्वाद सिद्धान्त का उपयोग न करें तब तक उसकी महत्ता का असर दूसरों पर नहीं डाल सकते।

जैसे जैन जीवन में बहुत कुछ अंशों में अहिंसा का समन्वय आज भी देखा जाता है वैसे अनेकान्त का समन्वय नहीं देखा जाता है। इसके लिये आवश्यक यह है कि सबसे पहले जैनों के सभी फिरके उदारता पूर्वक एक दूसरे के साथ जहां तक सम्भव हो सके समन्वय का व्यवहार करें। मन की असहिष्णुता निकाल कर धर्म के वास्तविक तत्त्व को जीवन में उतारने का प्रयत्न करें।

महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रत्येक जैन को ऐसा संकल्प करना चाहिये कि राष्ट्र की उन्नति के लिए वह अपने जीवन में अधिकाधिक नैतिकता लाने का सच्चा प्रयत्न करेगा। जब तक हमारे देश के व्यक्तियों में नैतिकता न आये तब तक हम राष्ट्र को कभी ऊंचा नहीं उठा सकते। भगवान महावीर का धर्म हमें यही बतलाता है। उन्होंने सबसे अधिक जोर आत्मशुद्धि पर दिया है। मनुष्य में अगर नैतिकता आ जावे उसका आचरण निर्दोष हो जावे तो उसकी सभी समस्याएं हल हो सकती है।

कविवर भूधरदास

सौभागमल जैन

जैन हिन्दी कवियो मे कवि भूधरदासजी का विशिष्ट स्थान है। उनकी कृतियो का अध्ययन कर कोई भी विवेचक-समालोचक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जैन हिन्दी कवियो मे कवि भूधरदासजी का महाकवि बनारसीदासजी से द्वितीय स्थान है। उनकी रचनाओ मे स्वाभाविकता है और वे पाठक को वर्ण्य विषय का तलस्पर्शी ज्ञान प्रदान करने मे सहायक होती हैं। दुःख है कि ऐसे उच्च कवि से हिन्दी के अधिकाश पाठक परिचित नही है।

उनका समय

भूधरदासजी विक्रम की १८वी शताब्दि के कवि है। उन्होने अपने भूधर जैन शतक और पार्श्वपुराण नामक काव्य मे अपने समय आदि का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन स्वयं दिया है। भूधर जैन शतक का परिचयात्मक पद्य इस प्रकार है—

आगरे मे बाल बुद्धि भूधर खण्डेलवाल के ख्याल सौं कविता कर जाने है। ऐसे ही करत भये। जैसिंह सवाई सूबा हाकिम गुलाबचन्द्र आयो तिहिं थान है। हरिसिंघ साह के सुवश धर्म रागी नर, तिनिके कहे से जोरि कीनी एक ठाने है। फिरी फिरि ऐरे मेरे आलस को अन्त भयो उनकी सहाय यह मेरो मन माने है।

सतरह सै इक्यासिया, पोह पाख तमलीन
तिथि तेरस रविवार को सतक समापत कीना

उक्त जैन शतक वाले परिचयात्मक कवित्त और दोहे से पता चलता है कि कविवर आगरे के रहने वाले थे। वे खण्डेलवाल जाति के जैन थे। उन्हे बालक की तरह कविता का शौक लगा और कविता करने लगे। उसी समय जयपुर के राजा सवाई जयसिंह आगरा प्रात के सूबा हाकिम बने और आगरा मे तब गुलाबचन्द्र नाम के कोई सज्जन आये। यह हरिसिह साह के वशज थे और धर्मानुरागी भी। इन्ही की प्रेरणा से पहले जो पद्य बनाये थे उन्हे एकत्रित किया, नये पद्यो का निर्माण किया और उनके फलस्वरूप जैन शतक बना। यह शतक वि०सं० १७८१ पौषकृष्ण १३ रविवार को समाप्त हुआ।

इसी प्रकार पार्श्व पुराण के रचना काल के समय के बारे मे कवि इस ग्रंथ के अंत मे स्वयं कहते है:—

संवत सतरह सै समय और नवासी लीय।
सुदी आषाढ तिथि पंचमी ग्रंथ समापत कीय।।

कवि की रचनायें

अब तक इस कवि की तीन रचनायें उपलब्ध होती हैं। पार्श्व पुराण, जैन शतक और भजनसंग्रह।

पार्श्व पुराण में तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान के मनोरम चरित्र का वर्णन है। इसमें आठ सर्ग हैं। इसकी कथा बड़ी ही रोचक है। इसमें हिन्दी के नाना छंदों का प्रयोग किया गया है। यह पुराण एक स्वतंत्र ग्रंथ है। यह किसी का अनुवाद नहीं है। इसकी कथा का सारांश इस प्रकार है:—

पौदनापुर के राजा अरविन्द् के मंत्री विश्वभूति के दो पुत्र थे। उनमें एक का नाम कमठ और दूसरे का नाम मरुभूति था। इनमें कमठ दुर्जन और मरुभूति सज्जन था। इन दोनों भाइयों में लगातार नौभवतक विरोध चलता रहा। मरुभूति ने अपना सज्जन स्वभाव नहीं छोड़ा और कमठ ने अपनी दुर्जनता। अन्त में यही मरुभूति भगवान पार्श्वनाथ बना और कमठ एक व्यंतर देव। तपस्या की अवस्था में भगवान पार्श्वनाथ पर इसने घोर उपसर्ग किया किन्तु उन्होंने शांत भाव से सब कुछ सह लिया और उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। इस घटना का कमठ के जीव व्यंतर देव पर भी बड़ा ही अनुकूल प्रभाव पड़ा और वह भी सम्यग्दृष्टि बन गया। कथा बतलाती है कि दुर्जन के साथ की गई मैत्री की अपेक्षा सज्जन के साथ विरोध भी कितना श्रेयस्कर होता है। कमठ और मरुभूति एक ही पिता के सहोदर पुत्र थे, फिर भी उनका स्वभाव परस्पर अत्यन्त विरोधी था। इस स्वभाव का चित्रण करते हुए कवि क्या ही अच्छा कहते हैं:—

जेठो मति टेढो कुटिल लघु सुत सरल सुभाव।
विष अमृत उपज्रे जुगल विप्र जलधि के जाव॥

× × ×

वक्र चाल विषधर नहीं तजे हंस वक्रता भूल न भजे

× × ×

उपजे एकहि गर्भ सों, सज्जन दुर्जन येह।
लोह कवच रच्छा करे खाण्डो खडे देह॥

सज्जन के स्वभाव का वर्णन एवं सज्जन की महत्ता प्रकट करते हुए कवि इसी प्रकरण में कहते हैं:—

दुर्जन दूषित अंत को, सरलस्वभाव न जाय।
दर्पण की छविछार सौं अधिक हि उज्ज्वल थाय॥

एक ही पदार्थ संगति के कारण किस प्रकार विभिन्न रूप में परिणित हो जाता है, इसके विषय में कवि की उक्ति सुनिए:—

तपेतवा परआप स्वाति जल बूंद विनट्ठी।
कमल पत्रपर संग वही मोती सम दिट्ठी॥

सागर सीप समीप भयो मुक्ताफल सोई ।
संगत को परभाव, प्रकट देखो सब कोई ।।

कवि की दूसरी रचना "जैन शतक" है । इसमें कविता, सवैया, दोहा, सोरठा आदि विभिन्न प्रकार के १०७ छंद हैं । इसके सभी पद्य मनुष्य को उन्नत बनाने के लिए बड़े ही प्रेरणाप्रद हैं और मन चाहता कि इन्हें कंठस्थ कर लिया जाय । मनुष्य के नैतिक स्तर को ऊंचा करने के लिए ऐसे पद्यों के प्रचार होने की बहुत जरुरत है । कुछ पद्यों का रसास्वादन पाठक करें:—

अभिमानी को शिक्षा देते हुए कवि कहते हैं:—

कंचन भंडार भरे मोतिन के दिन पूरे, घने लोग द्वार खरे मारग निहारते । जान चढ़ि डोलत हैं भीने सुर बोलत हैं, काहुकी हू और नेक नीके ना चितारतै ।। कोलौ धन खांगे कोऊ कहौ यौन, लांगे तेई, फिरैं पांय नांगे कांगे पर पग झारते । एते पै अपरने गरबाने रहै विभौ पाप, धिक है समझ ऐसी धर्म ना संभारते ।

बुरे शब्दों के बोलने के विरोध में सुनिए:—

काहे को बोलत बोल बुरे नर, नाहक क्यों जस धर्म गमावै ।
कोमल बैन चवैंकित ऐन, लगैं कछु हैन सवैं मन भावै ।
तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै ।।
जीभ कहैं जियहानि नहीं; तुझजी सब जीवन कौ सुख पावे ।।

अगले पद्य में कवि कहते हैं कि मृत्यु अनिवार्य है उससे डरना व्यर्थ है ।

लोह मई कोट केई कोटन की ओट करौ, कोगुटेन परोपि राखो पटभरिकै ।
इन्द्र चन्द्र चौकायत चौकस है चौकी देहु. चतुरंग पमू चहूं ओररहौ ।
तहां पुक भौंहिरा बनाय बीच बैठो मुनि, बोलौ मति कोऊजो बुलावैं नाम टेरिकैं ।।
ऐसे परंपच पांति रचौ क्यों न भांति-भांति, कैसेहू न छोरै जम देख्यौ हम हेरिकैं ।।

कवि ने कुछ भजन और स्तुतियां भी बनाई हैं । उनकी संख्या करीब ८० बतलाई जाती है । उनमें कुछ भजन तो अत्यन्त भावपूर्ण एवं आत्मा पर सीधा असर डालने वाले हैं । उनकी कल्पना की उडान भी ऊंची है । उनमें कुछ का आनन्द लीजियेः—

अब मेरे समकित सावन आयो ।। टेक ।।
बीति कुरोति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ।
अनुभव दामिनी दमकत लागी, सुरति घटाघन छायो ।।
बोलें विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिनी भायो ।।
गुरु धुनि गरज सुनत सुख उपजे, मोर सुमन विहसायो ।
साधक भाव अंकुर उठे बहु, जिन तित हरस सवायो ।।

चूल धूल कहिं भूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो ॥

चित ! चेतन की यह बिरियां रे ॥

उत्तम जनम सुतन तरु नायौ, सुकृत बेलफल फरियां रे ॥
लहि सत संगति सौं सब समझी, करनी खोटी खरिया रे।
मुहित संभाल शिथिलता तजि कै, जाहैं बेलि झरिया रे।
दल बल चतल महल रूपेका, अर कंचन की कलिया रे।
ऐसी विभव बढी कै बढि है, तेरी गरज क्या सरियां रे।
खोय न वीर विषय खल सारे, ये कोरन की घरियां रे।
तोडि न तनक न गाहित भूधर, मुक्ताफल की लरियां रे ॥

कवि भूधरदासजी के भजनों के ये ही नमूने हैं। ये उनके कवित्व की परख के लिए पर्याप्त है। आत्मा की आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट करने के लिए इनमें जो असांप्रदायिक आध्यात्मिक तत्व हैं उसका मूल्य सीमाओं में आबद्ध नहीं है। कविता 'शिवेतर क्षतये' होती है। चाहे दूसरे कितने ही उसके अनुसंगिक फल क्यों न हों। इसका मुख्य फल यही है कि वह मनुष्य को अशिव से हटाकर शिव की ओर ले जाय। इस कवि की कविता में हम इस तत्व को हर जगह पावेंगे।

हिन्दी साहित्य की गौरवान्वित बनाने के लिए हमें ऐसे कवियों की कृतियों का ठीक रूप से मूल्यांकन करना चाहिए।

तीर्थंकर महावीर और उनकी महत्ता

डा० कामता प्रसाद जैन

दिवंगत महात्मा गांधी ने मार्मिक शब्दों में कहा था कि अहिंसातत्व को यदि किसी ने भी अधिक से अधिक विकसित किया है, तो वे महावीर स्वामी थे। मै आप लोगों से विनती करता हूं कि आप महावीर स्वामी के उपदेशों को पहिचानें, उन पर विचार करें और उनका अनुसरण करें।

भ० महावीर के भक्तों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे स्वयं उनके सिद्धांतों का अध्ययन करें और उन्हें जीवन में उतारें तथा उनके सिद्धांतों को आधुनिक शैली से लोक की प्रत्येक भाषा में प्रकाशित करके फैलावें, जिससे लोक का कल्याण हो।

भ० महावीर की जीवात्मा ने केवली तीर्थङ्कर का पद सहज ही नहीं पा लिया था। एक समय था जब उनका जीव एक शिकारी भील था-पूर्ण हिंसक और असंस्कृत! किन्तु उसी जन्म में उन्होंने अहिंसा का बीज अपने अन्तर में बो लिया। भील गया था शिकार करने पशुओं का किन्तु शिकार हो गया उसके अन्तर के पशु का जैन मुनि से उसने जीव दया पालने का व्रत लिया-वह किसी को मारेगा नहीं और निरामिष भोजन करेगा। अहिंसा का यह बिरवा उस जीव के हृदय में पनपा, परन्तु एक जन्म में उस पर फिर हिंसा का तुषार पड़ गया, आदि काल का कुसंस्कार चमक गया। तब वह एक भयंकर शेर था- शिकार करना उसका काम था। किंतु सत्य मिटता नहीं-अहिंसा के बिरवाकी जड़ फिर हरी हो गई। शेर को मुनि के दर्शन हुये और वह अहिंसक बन गया। आज जैसे अमेरिका में टायक नाम की सिंहनी जीवदया पालक शाकाहारी बनी थी वैसे ही वह शेर भी पूर्ण अहिंसक बना था।

आदि तीर्थङ्कर भ० ऋषभ अथवा वृषभ से भी बहुत पहले भ० महावीर के जीव ने अहिंसाधर्म की साधना प्रारम्भ की थी। आदि भगवान का तो वह पोता हुआ था। उपरान्त उत्थान-पतन की भूलभुलैया में भटक कर शेर हुआ जहां से फिर उसने आत्मोन्नति का प्रयास प्रारम्भ किया। अच्छे कर्म का फल भी अच्छा होता है-आम बोने पर आम ही मिलता है। अहिंसा का व्रत पाला तो उसका पुण्य पुष्प चक्रवर्ती जैसी विभूति में फलित हुआ। किन्तु महावीर के जीव को तो आगे बढ़ना था-उनके हृदय में आत्मबोध का फूल खिल चुका था जिससे सम्यक्त्व की सुगंधि आ रही थी। निस्संग का भाव आर्जवता में चमक रहा था। वह राजभोग में नहीं फंसे। उनकी सम्पत्ति लोक कल्याण के लिए थी और उनका समय और शक्ति अहिंसा के विकास में लगी थी। रागद्वेष से निर्लिप्त रहने की आगरूकता ने समता और समानता का भाव जगा रखा था-मैत्री और करुणा उनके आगे नाचती थी। यह प्रिय मित्र चक्रवर्ती तो हुए

परन्तु सार्थक नाम ! छै खंड भूमि पर अहिंसा का साम्राज्य पनपे इसलिए ही वह धर्म विजय की यात्रा पर निकले-निस्पृही तेज पुत्र अहिंसक वीर के आगे सभी नतमस्तक होकर अहिंसा संस्कृति के उपासक बन जाते । प्रियमित्र सर्वत्र मैत्री और कारुण्य की पुण्यधारा बहाकर लौटे तो उन्हें राजस्व का ऐश्वर्य काटने लगा । शासन भार से मुक्त होकर वह साधु हो गये । कर्मशूर तो थे ही अब धर्म्मशूर भी बन गये । केवली भगवान के पादमूल में बैठकर उनके जीव ने तीर्थङ्कर बनने की कला को पहिचाना । उस कला के विकास में मूल प्रेरक सोलह प्रकार के कारणों को अपने रोम रोम से ऐसा चमकाया कि उनको तीर्थङ्कर होते देर न लगी । स्वर्ग के भोग-विलास में भी वह आत्म रसी रहे । आत्मा स्वस्थ तो शरीर भी स्वस्थ । स्वर्ण के संसर्ग से पाषाण चमकता ही है । आखिर उस भील के जीवन ने अपने अन्तर को ऐसा मांझा कि रागद्वेष परक हिंसा की गंध भी उसमें न रही । सहज आर्जव के भाव ने भील के जीव को लोकपूज्य बना दिया । अतः जो बड़े बनना चाहते उन्हें साधना और श्रम की अग्नि में अपने को तपाकर चमका लेना ही उपादेय है ।

युवा होने पर माता ने कहा-'वत्स ! तुम युवा हुये, विवाह करो । कलिङ्ग की राजकुमारी यशोदा तुम्हारे ही अनुरूप है' । सुना तो राजकुमार का माथा ठनका । विवाह क्यों ? क्या संसार से कामुकता और हिंसा मिट गई ? तीर्थङ्कर नेमि तो विवाह का कङ्कन तोड़ कर तपस्वी हुये थे । निरीह पशुओं कीं पुकार पर ही तो नेमि ने भोगों से मुंह मोड़ा था । आज तो पशुओं के ही प्राण संकट में हो यह बात नहीं, बल्कि महिलाओं का भी कोई व्यक्तित्व नहीं है । तो फिर महावीर कैसे भोग में फंसे ? बाल ब्रह्मचारी ही महावीर होते हैं ।

तीस वर्ष की भरी युवावस्था में उन्होंने गृहवास का त्याग किया । तन पर कपड़े की धज्जी भी न रखी । वह प्रकृति के रूप में निर्ग्रन्थ साधु हुये । वस्त्राभूषण सभी याचकों को दे डाले । सिर के बालों को पांच मुट्ठियो में लेकर उखाड़ फेंका—मानों यह प्रत्यक्ष कर दिखाया कि उनको नाशवान शरीर से ममता नही है । वह जन्मजात बालक की तरह सरल और निर्भीक हैं । दिगम्बर होकर—स्वेच्छा से फकीर बनकर राजकुमार वर्द्धमान ने बारह वर्षों तक तपस्या की साधना करने का व्रत लिया ।

साधक महावीर ने जहां एक ओर शरीर की आसक्ति को जीतने और भूख प्यास, रोग शोक जैसी शारीरिक व्याधियों को मिटा देने का प्रयास प्रारम्भ किया, एक एक और दो दो मासों के गहन उपवास करके उन्होंने अनासक्ति को मूर्तमान बनाया, तो वहां दूसरी ओर उन्होंने 'आत्मवत सर्व भूतेषु' को भी अपने जीवन में साकार बना देने का अनुष्ठान किया था । मनोविज्ञान की सूक्ष्म गति और गहरे प्रभाव को उन्होंने अपने रोम रोम में विकसित कर लिया था । मौन रहकर भी वह अपने आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव से जन जन की कष्टदायक विषमताओं का अन्त करने में सफल हुये थे । उनके शरीर से ऐसा तेजोमयी प्रभा मंडल उद्भूत हुआ करता कि उसकी साया में जो भी आ जाता वह बैर और विरोध को खो देता था । चण्डकौशि जैसे भयंकर नागके आतङ्क से लोगों का रास्ता बन्द हो गया था । हो सकता है कि चंडकौशि नाग जाति का भयंकर सरदार हो—आर्यों और नागों से संघर्ष चलता ही था । भ० महावीर ने सुना

तो वह उसके रास्ते से ही गये–चण्डकौशि ने उन पर आक्रमण किये, परन्तु महावीर शान्त थे नाग के आक्रमण विफल गये–उसने वैरभाव छोड़ दिया। जन जन के लिये जो मार्ग बन्द था वह खुल गया। जनता ने प्रेम की–समभाव की अजेय शक्ति को पहिचाना। इसी प्रकार भ० महावीर ने लाढ़ देश की अनार्यपल्ली में जाकर उनके जातिगत द्वेष भाव का अन्त उनके अत्याचारों की समता से सहन करके किया था। भ० पार्श्वनाथ ने पहले ही उड़–बंग आदि देशों के अनार्यों को अहिंसा धर्म का अनुयायी बना दिया था। भगवान महावीर केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद लगातार ३० वर्ष तक धर्मोप देश देते रहे और लाखों पथ भ्रष्ट प्राणियों का उद्धार किया। आज भी भगवान के उपदेशों की उतनी ही जरूरत है जितनी उन के युग में थी। हमारा कर्तव्य है कि हम उन के सच्चे अनुयायी बनें और उनके पथ का अनुसरण करें।

कर्म-दर्शन

डा० सरनामसिंह शर्मा

[जैनों का यह कर्म दर्शन भाव और द्रव्य दो भूमियों पर अवतीर्ण होकर आचरण की कितनी उत्कृष्ट शिक्षा देता है, यह विचार का विषय है.......मैं समझता हूं कि जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी व्यावहारिकता या सामाजिक उपयोगिता। भारतीय दर्शन की यह बड़ी भारी सामाजिक उपलब्धि है। —सं०)

प्रत्येक देश और धर्म में कर्म के महत्व की प्रतिष्ठा मिलती है। भारतीय कर्म-दर्शन अपनी सैद्धान्तिक विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म में मानव जीवन की अनिवार्यता निहित है। महाकवि 'प्रसाद' ने 'कर्म से भोग भोग से कर्म' कहकर जीवन से कर्म के अविच्छेद्य संबंध की ओर ही इंगित किया है। गीताकार ने 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' कह कर इस सम्बन्ध की विवेचना बहुत पहले ही कर दी थी।

शुभ और अशुभ के रूप में कर्म का वर्गीकरण कर्म के सामाजिक मूल्य को प्रकट करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसके कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उसी समय हो गयी थी जिस समय उसने जीवन की पुकार की थी, जिस समय उसे जीवन प्रिय हो गया था। उसके जीवन का प्रियत्व सामाजिक संबंधों के उदय का प्रेरणा-स्रोत बना। सामाजिक सम्बन्धों की रक्षा के लिए जिसमें 'स्वत्व रक्षा' भी निहित थी कर्म-शुभता प्रेरित हुई। उन सम्बन्धों के बटखरों से कर्म को तोला गया। अभाव की प्रतीति होने पर 'अशुभता' की संज्ञा को जन्म मिला। सामाजिकता की भावना के विकास ने 'शुभ और अशुभ' की भावना को रूढ़ कर दिया। किसी देश की संस्कृति का इतिहास इस भावना के मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।

जो संस्कृति जितनी उदार होगी, जितनी महती होगी उसमें कर्म दर्शन उतना ही महत्वपूर्ण होगा। भारतीय संस्कृति का मूल अस्तित्व कर्म-सिद्धान्त में निहित है और यह सिद्धान्त व्यक्ति के आचरण का नियमन करता है। इस आचरणवाद ने अनेक धर्माचार्यों की वाणी का प्रश्रय पाकर अनेक दिशाओं में अभ्युदय प्राप्त किया। किन्तु आचरणवाद अपनी मूलभूत भावना की एकता को अनेक दिशाओं में भी अक्षुण्ण रखे रहा।

भारतीय दर्शन में आचरणवाद पर जितना बल जैन धर्म ने दिया उतना और धर्मों ने दिया या नहीं, यह कहना तो संभव नहीं है किन्तु आचरणवाद की जितनी रक्षा जैनाचार्यों ने की और कराई, इसमें कोई दो मत नहीं हैं। परोपकार, करुणा, निर्वैरता, अहिंसा आदि भावों में आचरणवाद की प्रतिष्ठा देखना दुष्कर नहीं है। वैसे तो, बौद्ध धर्म में भी आचरणवाद प्रतिष्ठित रहा, किन्तु उसमें वह जितना विगलित हुआ उतना और किसी धर्म में नहीं।

वैष्णव आचार्य भी आचरणवाद के मूल तत्त्वों के प्रशंसक रहे और भक्ति-काव्य में संयत आचरण को भक्ति का साधन माना, किन्तु जैन धर्म में आचरण साध्य से बहुत दूर न रखा गया, वरन् यह कहना असंगत न होगा कि जैन धर्म में आचरण भी किसी सीमा तक साध्य बन गया।

आचरण की व्याख्या कर्म के माध्यम से ही की जा सकती है। आचरण अन्तर और बाहर, दोनों की कुंजी है। भारतीय धर्मों ने मानसिक और बाह्य दोनों कर्मों के मूल्य को आंकने का प्रयत्न किया है। वाचिक कर्म भी बाह्य कर्म-प्रणाली के ही अंग होते हैं।

जैन धर्म जीव की अनाहिता तो स्वीकार करता ही है, उसके कर्म-सम्बन्ध की अनाहिता भी स्वीकार करता है। यहाँ जीव या आत्मा के दो भेद माने गये हैं–ज्ञानी और अज्ञानी। आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भावरूप कर्म का कर्ता होता है। ज्ञानी आत्मा का वह भाव ज्ञानमय और अज्ञानी का अज्ञानमय होता है। ज्ञान और अज्ञानी आत्मा का अन्तर यह है कि जैसे अग्नि में तपा हुआ भी सोना अपने कनक स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता उसी प्रकार कर्मोदय से तपा हुआ भी ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता। ज्ञानी ऐसा समझता भी है। इसके विपरीत अज्ञानी राग को ही आत्मा मानता है क्योंकि वह अज्ञान रूपी अधंकार से आच्छन्न है और अपने स्वभाव को नहीं जानता।

पुद्गल पिंड द्रव्य कर्म और उसकी शक्ति अथवा रागद्वेषादिक भाव कर्म की अभिधा प्राप्त करते हैं। मूल रूप से कर्म के आठ भेद हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। पहले चार कर्म आत्मा के गुणों का घात करने के कारण घाती कहलाते हैं और दूसरे चार अघाती कहलाते हैं।

कर्म की बंध, उत्कर्षणा, संक्रमण और अपकर्षणा आदि अनेक व्यवस्थाएँ होती हैं। भाव और द्रव्य के सम्बन्ध से कर्मों के दो आस्रव होते हैं और इन्ही दो नामों से कर्मों के दो बंध अभिहित होते हैं, जिस मोह, राग, एवं द्वेष रूप चेतन भाव से कर्म बंधता है, वह भाव बंध कहलाता है तथा कर्म और आत्म प्रदेशों का परस्पर प्रवेश करना द्रव्य बंध कहा गया है। इनमें से मोह और द्वेष अशुभ भाव तथा राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से कर्म बंध चार प्रकार के होते हैं।

जो आत्मा रक्त है—पर द्रव्य में आसक्ति रखता है–वही कर्म को बांधता है और जो राग रहित है वह कर्म-बंध से मुक्त होता है। जीव और बंध अपने अपने निश्चित लक्षणों से पृथक हो जाते हैं। बंध और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो कर्म बंधनों से विरक्त हो जाता है वही आत्मा मुक्त कर्म हो जाता है। जो सब जीवों को आत्मवत् समझता है, सब कर्मास्रवों का विरोध और इन्द्रियों का दमन कर लेता है वह पाप-बंध को प्राप्त नहीं होता।

कर्मास्रव की अशुचिता एवं विपरीतता तथा उनकी दुःखदता को समझ कर ही जीव इनकी निवृत्ति करता है। आस्रव निरोध से तप के द्वारा कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिसके मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में पाप और पुण्य नहीं होते, उसके शुभाशुभ भाव-प्रेरित कर्म का संवरण (निरोध) हो जाता है। पदार्थों के प्रति राग, द्वेष और मोह के निवारण से शुभाशुभ

कर्म का आस्रव नहीं होता। राग द्वेष का परिहार करके जब तक जीव निर्विषय नहीं हो जाता तब तक वह न तो संचित कर्मों का हनन ही कर सकता है और न आते हुए कर्मों को रोक ही सकता है।

निर्जरा कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना कहलाती है। पूर्वकृत कर्म तप के प्रभाव से उसी प्रकार छूट जाते हैं जैसे फल समय को पाकर स्वतः छूट जाता है।

भाव और द्रव्य के सम्बन्ध से मोक्ष भी दो तपों में अभिहित होता है। मन का संचार क्षीण हो जाने और शुभाशुभ अथवा द्रव्य भाव रूप आस्रव के टूट जाने पर पुराने कर्म नष्ट हो जाते हैं और केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। यहीं मोक्ष की स्थिति होती है जिसे प्राप्त करके जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है। दुःख–सुख, पीड़ा–बाधा, और मरण–जन्म से मुक्त दशा ही निर्वाण की दशा होती है।

जैनों का यह कर्म–दर्शन भाव और द्रव्य दो भूमियों पर अवतीर्ण होकर आचरण की कितनी उत्कृष्ट शिक्षा देता है, यह विचार का विषय है। उसमें संबंधों का विस्तार और संवरण दोनों का अपना अपना स्थान है। जगत् के शुभ कर्म संबंध की छाया में पनपते है और कर्म संवरण व्यक्ति-गत साधना की चरम उपलब्धि है। यह कर्म-दर्शन अपनी नैतिक गरिमा से जितना लोक प्रिय बना उतना संभवतः कोई दूसरा नहीं। इसका दार्शनिक महत्व भी है और व्यावहारिक भी। मैं समझता हूँ कि जैन-कर्म-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी व्यवहारिकता या सामाजिक उपयोगिता। भारतीय दर्शन की यह बड़ी भारी सामाजिक उपलब्धि है।

जयपुर के जैन मन्दिर और वास्तु कला

श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

जयपुर नगर की बसावट ही बता रही है कि यहां की जनता सदा से वास्तु कला–प्रेमी रही है। जयपुर के निर्माण कर्ता महाराजा श्री जयसिंह जी स्वयं वास्तु कला के विशेषज्ञ थे। जयपुर के निर्माण में आज से २३५ वर्ष पूर्व विदेशी विशेषज्ञों के द्वारा भी सहयोग लिया गया था। तत्कालीन दीवान विद्याधर जिन्हें इतिहासकार टाड ने जैन धर्मावलम्बी लिखा है–वास्तुकला में पारंगत थे। उनके बुद्धिबल से इस नगर का निर्माण हुआ जो आज भारत का पेरिस कहलाता है। दीवान राव कृपाराम पांड्या आदि का भी इस सुन्दर नगर के निर्माण में हाथ रहा है।

जयपुर जैनों का केन्द्र माना जाता है अतः यहां जैन मन्दिरों में वास्तुकला का दिग्दर्शन स्वाभाविक है। वैसे राजस्थान भर में जो विभिन्न कलापूर्ण जैन मन्दिर हैं–वे भारत की शान हैं। आबू देलवाड़ा, कुंमरिया, रणकपुर, चित्तौड़गढ़ आदि स्थानों के मन्दिर एवं कीर्त्ति स्तम्भ अपनी सानी के एक ही हैं। जयपुर का सर्व प्राचीन सांगानेर का जैन मन्दिर अपनी वास्तु कला एवं शिल्प कला के कारण विदेशी पर्यटकों का आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है और जयपुर का गौरव स्वरूप है। बारहवीं शती में बना हुआ यह मन्दिर संगमरमर की कारीगरी के लिए विख्यात है। यहां लाल पत्थर में किया गया खुदाई का कार्य भी दर्शनीय है। मुख्य वेदी में जो बारीक कलम का काम है वह सचमुच आकर्षक है। सांगानेर में स्थित गोदीकों के मन्दिर की सफेद संगमरमर की वेदी भी मुगल कालीन बारीक कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है।

जयपुर नगर में दिगम्बर जैनों के ६० मन्दिर हैं जिनमें सभी में थोडा बहुत कारीगरी का कार्य देखने को मिलेगा पर १०–१५ मन्दिर तो ऐसे हैं जो वास्तुकला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। जयपुर निर्माण के साथ साथ विक्रम संवत् १७६४ में बने हुए पाटोदी के मन्दिर के प्रवेश द्वार का तोरण व मुख्य वेदी का काम भारत की प्रमुख कारीगरी की चीजों में है। इसी प्रकार संवत् १८१३ में बना हुआ सिरमोरियों के मन्दिर का मुख्य भाग सारा का सारा संगमरमर का बना हुआ है और कलापूर्ण है जो दर्शक को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

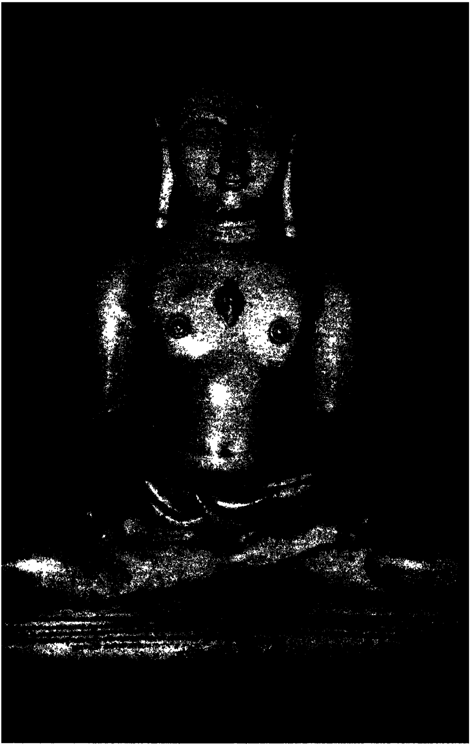
अपनी विशालता के लिए दीवान शिवजीरामजी का मन्दिर, दारोगाजी का मन्दिर आदि प्रख्यात हैं तो साथ ही बडे दीवानजी (दीवान शिवजीरामजी) का मन्दिर व बडा मन्दिर तेरह पंथियान व गोधों का मन्दिर अपनी पच्चीकारी एवं कुराई के काम के लिए जयपुर की शान है। गोधों के मन्दिर में निज मन्दिर के तीन मुख्य द्वारों में जो पच्चीकारी की बेलें व मयूर आदि बने हैं दर्शनीय हैं। समवसरण एवं सोने के काम के लिए दीवान बधीचन्द जी

का मन्दिर एवं बडा मन्दिर भी औरों से कम नहीं है। अपनी विशालता, रमणीयता और स्वर्ण के बारीक काम के लिए राणाजी की नसियां प्रत्येक दर्शक के लिए आकर्षण का केन्द्र है। स्थापत्य कला व शिल्पकला की जो चीजें जयपुर के जैन मन्दिरों में हैं वे जयपुर के नाम को रोशन करती है।

शिल्पकला के साथ साथ मूर्त्ति–निर्माण कला में जैनों ने जी खोलकर द्रव्य का सदुपयोग किया है। भारत के सभी प्रांतों में जयपुर की बनी हुई मूर्त्तियां ही जाती हैं। मूर्त्तिकला, कुराई, पच्चीकारीगरी एवं संगमरमर से किये जाने वाले सभी प्रकार के बारीक कलम के कार्यों को जीवित रखने में जैनों ने काफी योग दिया है। विशाल कलापूर्ण मूर्त्तियां भक्त को ही नहीं सभी कला प्रेमियों को भी अपनी ओर आकर्षित करती हैं। कालाडेरा–जयपुर के मन्दिर में महावीर की विशाल मूर्त्ति, पार्श्वनाथ के मन्दिर में पार्श्वनाथ भगवान की मूर्त्ति, बड़े दीवानजी का मन्दिर, छोटे दीवानजी का मन्दिर, खिन्दूकों के मन्दिर, आमेर की नसियां, पापल्यों का मन्दिर आदि में विराजमान विशाल मूर्तियाँ प्रसिद्ध है एवं दर्शनीय हैं। चौबीस महाराज के मन्दिर की यकसार विशाल चौबीस मूर्त्तियां तो प्रत्येक राहगीर को आकर्षित करती रहती हैं।

वर्तमान में पद्मपुरा क्षेत्र पर जो विशाल गोलाकार संगमरमर का मन्दिर बन रहा है वह स्थापत्य व शिल्पकला का बेजोड नमूना है। वहां का विशाल संगमरमर का गुम्बज और उसके नीचे के स्तूप मन्दिर का मुख्य द्वार वेदियाँ फर्श सभी कारीगरी की चीजें भारत के कोने कोने से आने वाले यात्री को आकर्षित करती हैं। पुराने जयपुर राज्य के कस्बे सवाई माधोपुर, अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, टोडारायसिंह, बघेरा (बराहपुरी) मोजमाबाद, लवाण, साखूण आदि स्थानों के मन्दिर व मूर्त्तियां विशाल एवं दर्शनीय हैं।

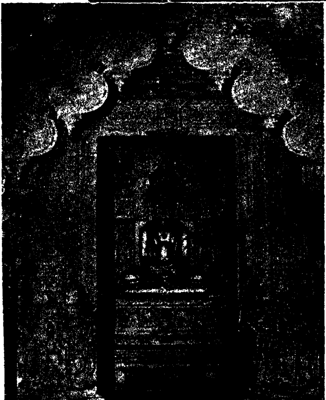
जैनों का कर्त्तव्य है कि वे इस कला के महत्व को समझें और इन मन्दिरों का आकर्षण कम न होने दें।



अति प्राचीन दि० जैन मन्दिर मौजमाबाद के बैरे में आदिनाथ स्वामी की विशाल प्रतिमा



जैसलमेर
के जैन
मन्दिर का
कलापूर्ण
तोरणद्वार



रणकपुर
जैन मन्दिर
की मूल प्रतिमा
की
मनोहर छवी

धर्म की कसौटी

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

(जैन धर्म अपने उत्क्रान्तिमूलक विकास पर ही जीवित रहा है और वह परिवर्तित कसौटियों पर पूरा उतर आया है।

प्रश्न यह है कि क्या वह भविष्य में भी इसी प्रकार जीवित रह सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान जैन धर्मावलंबियों को राजनीतिज्ञों की उस चुनौती को स्वीकार करके देना चाहिए, जो उन्होंने अपने राष्ट्र के लिये धर्म-निरपेक्ष अथवा सम्प्रदायतीत आदर्श को स्वीकार करके उनके सम्मुख उपस्थित की है। यही चुनौती वह कसौटी है जिस पर अन्य वर्तमान धर्मों के साथ जैन धर्म को भी परखा जा रहा है। —सं०]

धर्म के संबंध मे कुछ धारणायें ऐसी बद्धमूल हो जाती है कि धर्मप्राण व्यक्ति और समाज उनमे एक मात्रा का भी परिवर्तन करना सहन नही कर सकते। इसी कारण उनके हृदय में जमी धारणाओ की जडो को हिलाना प्रायः असम्भव हो जाता है। उनके सम्मुख प्रस्तुत किये गए सारे तर्क,युक्ति और प्रमाण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। धार्मिक मूढता और सामाजिक जडता के दुर्गुण व्यक्ति और समाज के जीवन मे इसी प्रकार पनप कर घर कर जाते हैं। लेकिन, उसकी आत्मा की चैतन्य शक्ति और उसकी विवेक बुद्धि को स्वभावतः प्रगतिशील माना गया है। उसकी इस स्वभावसिद्ध प्रगतिशीलता के गर्भ मे से ही वह 'पुरुषार्थ' प्रगट होता है जो विद्रोह, विप्लव तथा क्रान्ति का रूप धारण कर व्यक्ति और समाज की बद्धमूल धारणाओ को झकझोर डालता है। यह "पुरुषार्थ" यदि सफल हो जाता है तो धर्म-विशेष की आयु कुछ बढ जाती है। अन्यथा, वह अतीत मे विलीन होकर केवल इतिहास मे नामशेष रह जाता है अथवा मानव के लिए केवल एक फैशन बन जाता है। जीवधारी प्राणी व वनस्पति की तरह धर्म के भी दो रूप होते है। एक बाहरी कलेवर और दूसरा आन्तरिक प्राण। इस प्रकार उसके प्राण नष्ट हो जाते है और केवल कलेवर रूप मे वह बना रह जाता है। उसकी प्रेरणा शक्ति कारतूस की तरह मर जाती है।

अतीत पर दृष्टि

अपने देश के अतीत पर एक दृष्टि डालें तो विनष्ट हुए राज्यो तथा साम्राज्यो की तरह बहुत से धर्म भी ऐसे मिलेंगे जो केवल इतिहास के विद्वानो के विवेचन के विषय रह गए हैं, और जिनका मानव जीवन के -लोक-व्यवहार के साथ कोई विशेष जीवित तथा जागृत सम्पर्क नही रहा। उनके अनुयायी केवल उनके नामलेवा रह गए हैं और वे वंशपरम्परागत विधि विधान व जप-तप आदि का लोकाचार अनमनेपन से निभाते हुए केवल एक फैशन पूरा

कर लेते हैं। वैदिक ब्राह्मण धर्म जिस रूप में विद्यमान है उसका बाहरी आडम्बर चारों ओर फैला हुआ दीख पड़ता है। परन्तु उसकी प्रेरक शक्ति का तेज इतना मन्द पड़ गया है कि वह प्राणशून्य बन गया है। गीता में जिसको धर्मग्लानि कहा गया है, वैसीही स्थिति वैदिक ब्राह्मण धर्म के संबंध में चारों ओर छायी दीख पड़ती है। बौद्ध धर्म की वर्तमान स्थिति और भी अधिक दयनीय है। सम्राट अशोक, सम्राट कनिष्क और सम्राट हर्षवर्द्धन के सहारे समस्त भारत और विदेशों में भी फैल जाने वाला बौद्धधर्म अपने देश में केवल नामशेष रह गया है। उसके अनुयायियों की संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। उसका वैभव पुरातत्व के अवशेषों में दबकर जीर्ण–शीर्ण स्मृति चिन्हों में शेष रह गया है। जीवित धर्म के रूप में भारत के वर्तमान जीवन में उसका कोई महत्त्व नहीं रहा। जैन धर्म की वर्तमान स्थिति निस्संदेह बौद्ध धर्म से कहीं अधिक अच्छी है। उसकी और उसके अनुयायियों की गणना देश के विशिष्ट धर्मों तथा विशिष्ट समाजों में की जाती है। उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। लेकिन, पूरे दावे के साथ यह कह सकना कठिन है कि उसकी यह स्थिति ब्राह्मण धर्म की तुलना में कुछ अधिक अच्छी है और वह केवल फैशन का धर्म नही रह गया है। यह दावा तो बिना किसी सन्देह के किया जा सकता है कि उसकी स्थिति वैदिक ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी बनाई जा सकती है। हमारे संविधान में स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के लिए धर्म निरपेक्ष आदर्श का स्वीकार किया जाना इस ओर एक स्पष्ट संकेत है कि वर्तमान धर्मों में से किसी भी धर्म में "राष्ट्रधर्म" की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता नहीं है। यह उन सभी धर्मानुयायियों के लिए एक स्पष्ट चुनौती है, जो अपने धर्म की महत्ता का बखान करते कभी थकते नहीं हैं। जैन धर्माभिमानी भी इस चुनौती के अपवाद नहीं हैं।

'राष्ट्र धर्म' की कसौटी

इसी अभिप्राय को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान धर्मों को राष्ट्र धर्म की कसौटी पर कसा जा रहा है। जो धर्म वंश परम्परागत विधि–विधान तथा जप–तप आदि के बाहरी लोकाचार की मूढता जड़ता में जकड़ रह कर अपने अनुयायियों के लिए केवल फैशन बना रहेगा और इसी रूप में अपने अस्तित्व को सार्थक एवं सफल मानकर संतोष कर लेगा, उसका भविष्य निश्चय ही अंधकारमय है। उसके लिए राष्ट्र धर्म की कसौटी पर पूरा उतर सकना सम्भव हो ही नहीं सकता। जब भी कभी कोई धर्म राष्ट्र धर्म की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता तब वह ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की तरह प्रभावहीन अथवा अस्तित्वहीन बन जाता है। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म के इस पतन के इतिहास से वर्तमान सभी धर्माभिमानियों को कुछ सबक अवश्य ही सीख लेना चाहिए और समय रहते सचेत व सावधान हो जाना चाहिए।

इस कसौटी का महत्व

राष्ट्रधर्म की इस कसौटी का तात्पर्य क्या है? प्रत्येक युग की अपनी मांग, अपनी समस्याएं और अपना कुछ सन्देश अवश्य होता है। राष्ट्र की अन्तरात्मा युग की वाणी में प्रकट होती है। युग की मांग राष्ट्र की मांग होती है, युग की समस्याएं राष्ट्र की समस्याएं

होती है और युग का सन्देश राष्ट्र का सन्देश होता है। राष्ट्र और युग दोनों को चेतना मिलती है धर्म से। इसलिए राष्ट्र, युग और धर्म तीनों के स्वर में सामंजस्य होना आवश्यक है। उनका स्वर अज्ञ लोगों में बुद्धि भेद पैदा करने का कारण नहीं बनना चाहिए। यह तभी संभव है जब उनके स्वर में परस्पर कोई अन्तर न हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म को राष्ट्र व युग का वैसे ही गुलाम बन जाना चाहिए, जैसे कि आज का विज्ञान बन गया है। विज्ञान की सारी प्रगति और आविष्कार राष्ट्रों के हाथ का खिलौना बनकर मानव के लिए विभीषिका पैदा करने के निमित्त बन गए हैं। मानव को सुख, शान्ति और संतोष देने में विज्ञान जैसे असफल हुआ है वैसा असफल धर्म को नहीं बनना है। विज्ञान की अपेक्षा धर्म की विशेषता यही है कि वह मानव को संघर्ष, कलह तथा ईर्ष्या-द्वेष, राग से बचाकर सुख, शान्ति व संतोष की ओर अग्रसर करता है। धर्म वस्तुतः राष्ट्र और युग दोनों का नियंत्रण एवं पथ प्रदर्शन करता है। रामायण और महाभारत की कथाओं में बहुत बड़ा मूलभूत भेद यह है कि रामायण में गुरु वशिष्ठ का दशरथ पर नियंत्रण बताया गया है और राजकुमार राम व लक्ष्मण शिक्षा ग्रहण करने के लिए विश्वामित्र के आश्रम में जाते हैं। महाभारत में स्थिति सर्वथा बदल जाती है। गुरु द्रोण, कौरव तथा पाण्डव राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए राजभवन में आकर रहते हैं और भीष्म पितामह सरीखों के मुख से भी यह सुनने में आता है कि मनुष्य अर्थ का दास है और अर्थ किसी का दास नहीं है। रामायण में धर्माचार्य राजाओं के दास नहीं बनते। परन्तु महाभारत में वे दासवृति स्वीकार कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रामायण काल में ब्राह्मण धर्म का राष्ट्र व युग पर नियंत्रण था और महाभारत काल में वह राष्ट्र तथा युग दोनों का दास बन गया। इसीलिए तो महाभारत काल में समाज के जीवन का ऐसा भयानक पतन हुआ और राष्ट्रीय जीवन में भी चारों ओर विश्रृंखलता छा गई थी। उस समय का वैदिक ब्राह्मण धर्म राष्ट्रधर्म की कसौटी पर पूरा नहीं उतर सका और वह शतमुखी पतन का शिकार बन गया। गीता को साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने वाले वैदिक ब्राह्मण धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ मानते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने वैदिक ब्राह्मण धर्म के इस पतन के विरुद्ध कठोर चेतावनी दी और उस चेतावनी के नाते उनको धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से आदि सुधारक कहा जा सकता है। वैदिक ब्राह्मण धर्म के पतन का एक बड़ा कारण उसके कर्मकाण्ड का भोगेश्वर्य प्रधान बन जाना था। तरह तरह की इच्छाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ किए जाने लगे और उनका समर्थन किया जाने लगा वेदों के नाम से। इसीलिए श्रीकृष्ण को 'वेदवाद' का प्रतिवाद करना पड़ा और भोगेश्वर्य प्रसक्त उन लोगों की निन्दा करनी पड़ी, जिन्होंने सारे ही समाज को कर्मकाण्ड के प्रपंच में उलझा दिया था। यह प्रपंच बुरी तरह विकृत होता गया और उसमें हिंसा का समावेश होकर गाय, भैंस, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि पशु पक्षियों की ही नहीं मनुष्यों तक की बलि दी जाने लगी। मन्दिरों में देवी-देवताओं के नाम पर भी बलि प्रथा घर कर गई। इस प्रकार कर्मकाण्ड में जो विकार पैदा हुए उनके कारण ब्राह्मण धर्म राष्ट्र धर्म की योग्यता व क्षमता खो बैठा और वह लोक धर्म नहीं रह सका।

भगवान महावीर और भगवान बुद्ध

यही था वह समय जब भगवान महावीर और भगवान गौतमबुद्ध धार्मिक क्षेत्र में अवतरित हुए। उन्होंने राष्ट्र धर्म के उस अभाव की पूर्ति की जो ब्राह्मण धर्म के पतन से हुआ था

ब्राह्मण धर्म से निराश जनता ने दोनों के सन्देश को इस वेगसे अपनाया कि देश में दोनों का प्रसार आश्चर्यजनक रूप में हुआ। उन दिनों में प्रचार, प्रसार और विस्तार के वर्तमान साधनों का नितान्त अभाव था। किसी भी महापुरुष अथवा धर्मप्रचारक की साधना से पैदा होने वाले प्रभाव के बल पर ही मुख्यतः उसका सन्देश लोकप्रिय बनता था। भगवान महावीर और गौतमबुद्ध दोनों की संयम, साधना और तपस्या लोकोत्तर थी। भगवान महावीर के सन्देश के सम्बन्ध में कुछ अधिक चर्चा करने से पहले भगवान बुद्ध के संदेश के सम्बन्ध में चर्चा करनी आवश्यक है। यह इतिहास का बड़ा ही रोचक, उपयोगी शिक्षाप्रद और महत्वपूर्ण अध्ययन है कि गौतम बुद्ध का संदेश, जिसको बौद्ध धर्म नाम दिया गया, हमारे देश में ब्राह्मण धर्म से भी अधिक बुरी तरह मिट गया। किन्तु भगवान महावीर का सन्देश, जिसको जैन धर्म कहा जाता है, वैसी ही विकट एवं विषम परिस्थितियों में से गुजरता हुआ आज तक बना हुवा है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ।

इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से यहां नहीं दिया जा सकता। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने राष्ट्र धर्म के रूप को खोया नहीं और बौद्ध धर्म ने उसको खो दिया। दोनों का विकास समानान्तर रेखाओं की तरह होता है। लेकिन कुछ दूरी पर जाकर एक रेखा मिट जाती है और दूसरी निरन्तर आगे बढ़ती जाती है। यहां हम जैन धर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं के पूर्वापर विवाद में पड़ना नहीं चाहते। यह मान लेने में कोई हानि नहीं है कि जैन धर्म में भगवान महावीर से पहले प्रारम्भकाल में दोनों ही स्थितियां विद्यमान थीं और उनके समय में भी वे अस्तित्व में थीं। लेकिन, उनके बाद मुख्यतः जो शाखायें प्रस्फुटित हुई वे श्वेताम्बर प्रधान थी। हमारा अभिप्राय स्थानकवासी और तेरापंथ शाखाओं से है। दोनों के साथ श्वेताम्बर विशेषण लगा हुआ है।

जैनधर्म का उत्क्रान्तिपरक रूप

इस क्रम विकास का परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म का रूप कुछ अधिक ही निखरा। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि जैन धर्माभिमानियों ने इस क्रम विकास के महत्व को ठीक ठीक नहीं आंका और उसको साम्प्रदायिक विद्वेष का निमित्त बना दिया। स्थानकवासी शाखा के प्रवर्त्तक वीर लोकाशाह ने जैन समाज में विद्यमान मन्दिर मार्ग अथवा मूर्ति पूजा को जैनआगमों के विपरीत बताकर उसका निषेध किया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म को मूर्ति पूजा के आडम्बर से मुक्ति मिली और उसका जीवन-व्यवहार का रूप आडम्बर रहित बन गया। वीरलोकाशाह को इतने बड़े विरोध का सामना करना पड़ा कि दिल्ली मे लौटते हुए अलवर में आहार में उनको धोखे से विष दे दिया गया और उनकी इह लीला समाप्त हो गई। क्रान्ति कारी धर्म सुधारकों को इसी प्रकार की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। यह भी भुलाया नही जाना चाहिए कि वीरलोकाशाह के समय १५वीं १६वीं सदी में इस्लाम धर्म के कारण मूर्तिपूजा तथा मन्दिर मार्ग के विरोध में एक प्रचण्ड लहर सारे देश में बड़े वेग से फैल चली थी। वीरलोकाशाह ने उस लहर के संकट से श्रमण संस्कृति को बचा लिया। भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के लिए उससे भी अधिक भयानक संकट

उपस्थित हुआ पश्चिम से उठी हुई ईसाई संस्कृति की लहर से। उसको अंग्रेजी शासन का पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। तब जैन धर्म में एक और उत्क्रान्ति हुई वह थी तेरापंथ की। उसके प्रवर्तक आचार्य भिक्खू या भीखनजी ने उन स्थानकों को भी अपरिग्रह के प्रतिकूल बताया जिनकी प्रतिष्ठा स्थानकवासी शाखा में यथावत रखी गई थी। तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के जीवन व्यवहार को स्थानकों के बन्धन से भी मुक्त कर दिया गया। जैनधर्म अथवा श्रमण संस्कृति को निखारने की दिशा में यह एक और ठोस कदम था। वह ब्रह्म–समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्यसमाज आदि के रूप में जो धार्मिक पुनर्जागरण हुआ उसके सर्वथा अनुरूप तथा उसके समकालीन था। ये दोनों उत्क्रान्तियां युग की आवश्यकता का ही मानो तकाजा थीं। इससे इन्कार नहीं किया जाना चाहिए कि इन उत्क्रान्तियों के कारण सौराष्ट्र व राजस्थान में इस्लाम तथा ईसाइयत की लहरें वैसा जोर नहीं पकड़ सकी, जैसा कि दक्षिण भारत तथा देश के अन्य हिस्सों में उन्होंने पकड़ लिया। राष्ट्र के लिए जैन धर्म की यह देन विशेष महत्व रखती है। इसी क्रम विकास का स्पष्ट परिणाम यह है कि जैन धर्म की गणना आज भी देश के प्रमुख धर्मों में की जाती है। परन्तु उसके समानान्तर बौद्ध धर्म की रेखा मिट गई और बौद्ध धर्म का अस्तित्व भी मिट गया।

बौद्ध धर्म की स्थिति

बौद्ध धर्म का क्रम विकास हीनयान से महायान, मंत्रयान तथा वज्रयान (सहजयान) के जिस रूप मे हुआ उसमे उसका मौलिक रूप निरन्तर विकृत होता गया। वह युग व राष्ट्र की मांग तथा आवश्यकता को पूरा करने और उनकी समस्याओं को हल करने की सामर्थ्य खो बैठा। हीनयान को सम्राट अशोक का बल मिला और उनके सहारे वह भारत तथा आसपास के देशों में भी फैला। लेकिन सम्राट कनिष्क के काल में वह महायान के रूप में परिणत हो गया। उसमें मूर्ति, मन्दिर, पुरोहित तथा शास्त्र आदि की प्रतिष्ठा कायम हो गई। इन सबके साथ स्वाभाविक रूप में जो आडम्बर तथा पाखण्ड जुड़ा हुआ है, वह बौद्ध धर्म में भी प्रवेश कर गया। मंत्रयान के रूप में उसमें जादू टोने आदि ने घर कर लिया और बौद्ध बिहारों में निःसन्तान स्त्रियों की सन्तान की लालसा भी पूरी की जाने लगी। सम्राट हर्ष के समय में बौद्ध धर्म ने अहिंसा को भी तिलांजलि दे डाली। विशाल बौद्ध बिहार सम्राट हर्ष की सेना के लिए खाद्य तथा अन्य सामग्री जमा करने के भण्डार बन गए। उस सामग्री को जमा करने के लिए देहातों में आतंक फैलाया जाने लगा और उससे उनकी अर्थ व्यवस्था को बिल्कुल अस्त व्यस्त कर दिया गया। वज्रयान के रूप में तो बौद्धधर्म ने एकदम वाममार्ग का रूप धारण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि वाममार्ग और वज्रयान में अप्रिय गठबन्धन हो गया, जिसका प्रत्यक्ष रूप पुरी का मन्दिर है। मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तियां वज्रयान और वाममार्ग की देन है। उस मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्ति गौतमबुद्ध के रूप में विष्णु के चौवीसवें अवतार की प्रतीक है। इस प्रकार पतनोन्मुख बौद्ध धर्म देश में कैसे बना रह सकता था। वाममार्ग और बौद्धधर्म दोनों का अप्रिय गठबन्धन एक दूसरे को ले डूबा।

जैन धर्म का परिष्कार

बौद्ध धर्म के इस पतनमुखी क्रम विकास की तुलना में जैनधर्म के उत्क्रान्तिमूलक क्रम विकास का महत्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है। वैदिक ब्राह्मण धर्म में विद्यमान अवतार श्रृंखला और जैनधर्म में विद्यमान तीर्थंकर श्रृंखला से यह स्वतः सिद्ध है कि दोनों का निरन्तर निखार एवं परिष्कार होता रहा है। यही कारण है कि दोनों बौद्ध धर्म की तरह बिल्कुल ही नामशेष नहीं हुए। जैन धर्म का जो परिष्कार हुआ वह वैदिक ब्राह्मण धर्म के परिष्कार के लिये भी सहायक सिद्ध हुआ। इसी से जैन धर्म की उत्कृष्टता स्वयं सिद्ध है। यहां हम संक्षेप में जैनधर्म की इस उत्कृष्टता की ही चर्चा करना चाहते हैं। वैदिक ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म जब दोनों ही युग और राष्ट्र की कसौटी पर पूरे न उतर सके तब जैनधर्म ने अपने उत्क्रान्तिमूलक क्रम विकास द्वारा उनका स्थान ले लिया।

क्रमविकास की परम्परा

भगवान महावीर के बाद जैनधर्म के क्रम विकास के सम्बन्ध में ऊपर कुछ विचार किया जा चुका है। परन्तु क्रमविकास की यह परम्परा भगवान महावीर से पहले भी विद्यमान थी। भगवान पार्श्वनाथ २३ वें और भगवान महावीर २४ वें तीर्थंकर थे। भगवान पार्श्वनाथ से पूर्ववर्ती क्रम विकास का ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। उसके लिए केवल पौराणिक आगम ग्रन्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान कपिल को साम्य धर्म का पुरातनतम समर्थक माना जाता है। कालान्तर में इस साम्य भावना को आत्मोपम्य दृष्टि प्राप्त हुई। दोनों में ऐसा कोई विशेष अन्तर नहीं है। व्यावहारिक रूप में इतना ही अन्तर कहा जा सकता है कि साम्य भावना बाहरी व्यवहार से संबंध रखती है और आत्मोपम्य दृष्टि का संबंध है भीतरी व्यवहार के साथ व्यक्तिगत, निःश्रेयस और सामाजिक अभ्युदय के लिए दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। इन दोनों को श्रमण धर्म के दो फेफड़े कहा जा सकता है। इन भावनाओं को पुष्ट करने के लिए अपरिग्रह अनिवार्य बन गया। उसके लिये किये गये आग्रह के फलस्वरूप निर्ग्रन्थ भावना का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रवर्तक भगवान नेमीनाथ और भगवान पार्श्वनाथ माने जाते हैं। केवल निर्ग्रन्थ भावना से मानव हृदय को अध्यात्म शान्ति की साधना सुलभ प्रतीत न हुई। तब यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि राग, द्वेष, ईर्ष्या तथा वैमनस्य आदि की मन को दूषित करने वाली वासनाओं तथा दुष्प्रवृत्तियों पर विजय पाना मानव जीवन का प्रधान साध्य होना चाहिए। उसी की सिद्धि में मानव पुरुषार्थ की सार्थकता मानी गई। इस विचार के प्रवर्तकों को जिन कहा गया। इन जिन परम्पराओं में सर्वोत्कृष्ट स्थान भगवान महावीर को प्राप्त है। इस 'जिन' शब्द से ही जैन शब्द का प्रादुर्भाव हुआ समझा जाता है और उसमें 'जिन' द्वारा प्रतिपादित वीतराग भावना श्रेष्ठतम महत्त्व रखती है। इस प्रकार जैन धर्म साम्य, आत्मोपम्य, निर्ग्रन्थ तथा वीतराग भावनाओं के उत्कृष्ट विकास क्रम का एक सुन्दर समन्वय है और यही उसके धर्मविकास का आदिक्रम है। उसको भगवान महावीर ने चरम सीमा पर पहुंचा दिया। यह भी स्वीकार किया जाता है कि वीतराग भावना का सम्बन्ध आन्तरिक दृष्टि से इन्द्रिय निग्रह के साथ होने के कारण महावीर

के समय में पूर्ववर्ती चारों व्रतों में पांचवें व्रत के रूप में ब्रह्मचर्य का भी समावेश किया गया। वैसे अपरिग्रह भावना में इन्द्रियनिग्रह भावना का भी सामान्य रूप से समावेश हो जाता है। परन्तु, वीतराग साधना के लिए ब्रह्मचर्य का निर्देश विशेष रूप से करना आवश्यक हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति प्रधान जैनधर्म का उत्तरोत्तर जो विकास हुआ वह उसके रूप को निरन्तर निखारता ही गया। भगवान महावीर के बाद भी विकास का वह क्रम निरन्तर जारी रहा और उससे भी उसका रूप निखरता ही गया।

भगवान महावीर का क्रान्तिकारी रूप

भगवान महावीर को धार्मिक परिष्कार की दृष्टि से दुःमुखी कार्य विशेष रूप से करना पड़ा। एक का सम्बन्ध है श्रमण संस्कृति के साथ और दूसरे का सम्बन्ध है ब्राह्मण संस्कृति के साथ। श्रमण संस्कृति को निखारकर उसको जिस प्रकार जैन धर्म का रूप दिया गया उसका विवेचन किया जा चुका है। ब्राह्मण संस्कृति को निखारने के लिए भगवान महावीर ने क्रान्ति का जो सन्देश दिया उसको संक्षेप में निम्न प्रकार उपस्थित किया जा सकता है:—

१—ब्राह्मण धर्म के कारण वर्ण व्यवस्था में समाज को इस बुरी तरह जकड़ दिया गया था कि उसमें धार्मिक दृष्टि से मूढ़ता और सामाजिक दृष्टि से जड़ता घर कर गई थी। उसका विकृत रूप जन्मगत जात-पात में परिणत हो गया था। उच्चकुल और नीच कुल का वैषम्य समाज में विष की तरह समा गया था। उसको दूर करके भगवान महावीर ने मानव मात्र के लिए धर्मसाधना का मार्ग प्रशस्त बना दिया। शूद्रों तक के लिए भिक्षु बनने का मार्ग खोल दिया। समाज में गुण से भी अधिक पवित्र जीवन और पवित्र व्यवहार की भावना को जागृत किया।

२—समाज में ब्राह्मण धर्म के कारण स्त्रियों की स्थिति शूद्रों के ही समान बना दी गई थी। यह व्यवस्था दे दी गई थी कि शूद्र व स्त्री दोनों को पढ़ने लिखने का अधिकार नहीं है और वे 'पवित्र आत्मा, बन ही नहीं सकते। भगवान महावीर ने स्त्रियों के लिए भी आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त बना दिया और विद्याध्ययन तथा तपस्या द्वारा अध्यात्म साधना को सुलभ कर दिया। इसी दृष्टि से सन्त विनोबा ने भगवान महावीर को महान क्रान्तिकारी कहा है।

३—लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उन्होंने राजनीति को कुछ पढ़े लिखे मुट्ठी भर लोगों के मनोरंजन का विषय न रहने देकर उसको ग्राम जनता के लिए वैसे ही सुलभ बना दिया जैसे कि महातपस्वी भागीरथ गंगा को देवलोक से सर्व साधारण के लिए भूतल पर ले आए थे। धर्मप्रभावना संस्कृत ग्रन्थों में निहित होने के कारण एकमात्र ब्राह्मणों के एकाधिकार का विषय बन गई थी और वे अपनी मनमानी व्यवस्था को धर्म के नाम से समाज पर थोप देते थे। भगवान महावीर ने इसके विरुद्ध विद्रोह का शंख फूंका और सर्वसाधारण की लोकभाषा में धर्मोपदेश किया। आचार विचार परक तथा दर्शनपरक दोनों ही दृष्टियों से धर्म का तत्व ज्ञान सबके लिए सुलभ बना दिया।

४—ब्राह्मण धर्मपरक कर्मकाण्ड केवल यज्ञों तक सीमित रह गया था और उसका लक्ष्य एक मात्र भोगैश्वर्य की प्राप्ति रह गया था। इसी कारण यज्ञों में गाय, घोड़े, भेड़, बकरी तथा अन्य पशु–पक्षी की ही नहीं, अपितु मनुष्यों तक की बलि दी जाने लगी थी। भिन्न २ प्रकार की लोकेषणाओं की पूर्ति और अध्यात्म साधना के लिए भी विविध प्रकार की बलि देने का विधान वेदों तक के नाम से किया जाता था। यह व्यवस्था दे दी गई थी कि वेदों के नाम से यज्ञों में की जाने वाली हिंसा हिंसा नहीं है। ऐहिक और पारलौकिक सुख शान्ति की प्राप्ति के लिए दी गई इस ब्राह्मण व्यवस्था को भगवान महावीर ने आमूल चूल बदल दिया। समाज में संयम, तपस्या तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा करके आत्म पुरुषार्थ की भावना को जागृत किया। आत्म पुरुषार्थ की यह भावना ही श्रमण संस्कृति की अन्तरात्मा है। इस दृष्टि से भोग के स्थान में योग की भावना को उद्दीप्त करना भगवान महावीर की सबसे बड़ी देन है। श्रमण संस्कृति इसी कारण मानव के आत्म पुरुषार्थ में इतना अधिक विश्वास रखती है कि वह इसी जन्म में आत्म साधना द्वारा भगवान का परम पद प्राप्त कर सकता है। उसके लिए दूसरे जन्म की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

शाश्वत विरोध

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने ब्राह्मण धर्म की दृष्टि मे उससे सर्वथा विपरीत धारा को प्रवाहित किया। उन्होंने ३०–३१ वर्ष की आयु में लोकोत्तर तपस्या में लीन होकर जिस वीतराग स्थिति को प्राप्त किया उसने श्रमण संस्कृति को निखारने का काम किया। उसके बाद लगभग ३० वर्ष तक धर्मोपदेश करते हुए अपने को समाज में बद्ध मूल ब्राह्मण संस्कृति के कुसंस्कारों को दूर करते हुए उसको निखारने में लगा दिया। भगवान महावीर के इसमहान कार्य को महाभाष्यकार पतंजलि ने जिन शब्दों में व्यक्त किया है वे उसके यथार्थ रूप को प्रकट करते हैं। संस्कृत व्याकरण के आचार्य पाणिनी के शाश्वत विरोध की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें सांप नेवले तथा गो व्याघ्र के साथ ब्राह्मण श्रमण का भी उल्लेख किया है। अर्थात् ब्राह्मण और श्रमण में वैसा ही जन्म सिद्ध विरोध है जैसा कि सांप नेवले अथवा गौ और शेर में पाया जाता है। यह विरोधभाव ब्राह्मण श्रमण दोनों शब्दों और उनमें निहित भावना में भी विद्यमान है। ब्राह्मण ब्रह्म के नाम से निट्ठल्ला जीवन बिताने का आदी बन गया और श्रमण मानव को निरन्तर आत्म पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करता रहा। निठल्लेपन और आत्म–पुरुषार्थ में वैसा ही विरोध विद्यमान है जैसा कि अन्धकार और प्रकाश में पाया जाता है। यह विरोध भाव परस्पर द्वेषपरक नहीं है। वह दोनों के उस रूप का सूचक है जो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत है। यदि यह विरोध द्वेषपरक होता तो श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति के अनुयायियों में परस्पर सामाजिक व्यवहार का मेलमिलाप कभी भी कायम न हुआ होता। यदि इस विरोधभाव के वास्तविक रूप को ठीक ठीक समझ लिया जाय तो श्रमपरक श्रमण संस्कृति पर आधारित जैनधर्म युगधर्म तथा राष्ट्रधर्म की कसौटी पर पूरा उतर सकता है। क्योंकि आज के युगधर्म की राष्ट्रीय दृष्टि से सबसे बड़ी मांग पुरुषार्थ या श्रम की ही है। राष्ट्र निर्माण की सारी योजनाएं इसी पर निर्भर हैं।

जैन धर्म का रूप दार्शनिक तत्वज्ञान की अपेक्षा मानव के जीवन व्यवहार से अधिक संबंध रखता है और उसी दृष्टि से वह विकासोन्मुख रहा है। प्रस्तुत लेख में केवल उसके श्रम परक रूप का ही अधिक विवेचन किया गया है। वैसे सामाजिक विधान में निहित साम्य भावना व आत्मोपम्य दृष्टि और अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद आदि भी ऐसे तत्त्व हैं, जो वर्तमान युग की समस्याओं को हल करने में सहायक हो सकते हैं। जैनधर्म की साम्य भावना अथवा आत्मोपम्य दृष्टि साम्यवाद तथा समाजवाद से कहीं अधिक व्यापक है। साम्यवाद तथा समाजवाद का संबंध मानव के केवल लौकिक व्यवहार के साथ है, किन्तु जैन भावना अथवा दृष्टि में मानव के आध्यात्मिक संबंध का भी समावेश है। इसलिये वह कहीं अधिक पूर्ण है और अपने राष्ट्र द्वारा स्वीकृत समाजवाद के आदर्श को पूरा करने में कहीं अधिक समर्थ है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद की भावना को स्वीकार कर के समाज में सहिष्णुता को आदर्श रूप में कायम किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि मानव को अपनी ही मान्यता को एकान्त सत्य नहीं मान लेना चाहिये। दूसरे की मान्यता के सच होने की भी गुंजायश रखनी चाहिए। वर्तमान में विभिन्न मान्यताओं के संघर्ष को इसी प्रकार टाला जा सकता है और शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की स्थिति पैदा की जा सकती है। सारांश यह है कि वर्तमान राष्ट्र धर्म व युगधर्म के अनुसार जैन धर्म की विस्तृत व्याख्या की जानी चाहिये और यह बताया जाना चाहिये कि वह उनके प्रतिकूल नहीं है।

राष्ट्र तथा युग की समस्याओं, आवश्यकताओं तथा मांग की पूर्ति के लिए यदा कदा धर्म की व्यावहारिक व्यवस्था में कुछ न कुछ परिवर्तन करने अनिवार्य हो जाते हैं। जैन धर्म के विकास का सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है कि उसमें परिवर्तन के रूप में समय समय पर आवश्यक परिवर्तन होते रहे हैं। धर्म विकास का इतिहास यही तथ्य उपस्थित करता है कि उत्तरोत्तर प्रकट होने वाली नई-नई अवस्थाओं में धर्म की पुरानी परम्पराओं तथा मर्यादा का समावेश रहना तो आवश्यक है, किन्तु उनकी नई व्याख्या करने में संकोच नहीं किया जाना चाहिए। यही संकोच संशयात्मा वृत्ति का रूप धारण करके समाज में उस मूढता व जड़ता को पैदा कर देता है जो धर्म को ले डूबती है। जैन धर्म अपने उत्क्रान्तिमूलक विकास पर ही जीवित रहा है और वह परिवर्तित कसौटियों पर पूरा उतरता आया है।

प्रश्न यह है कि क्या वह भविष्य में भी इसी प्रकार जीवित रह सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर वर्तमान जैन धर्मावलम्बियों को राजनीतिज्ञों की उस चुनौती को स्वीकार करके देना चाहिए जो उन्होंने अपने राष्ट्र के लिए धर्म-निरपेक्ष अथवा सम्प्रदायातीत आदर्श को स्वीकार करके उनके सम्मुख उपस्थित की है। यही चुनौती वह कसौटी है जिस पर अन्य वर्तमान धर्मों के साथ जैन धर्म को भी परखा जा रहा है।

जैन सन्त भुवनकीर्ति—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल, एम. ए. पी-एच. डी.

[ब्रह्मजिनदास ने अपने रामचरित्र काव्य में भट्टारक भुवनकीर्ति का गुणानुवाद करते हुये लिखा है कि वे अगाध ज्ञान के वेत्ता तथा कामदेव को चूर्ण करने वाले थे। संसार पाश को त्यागने वाले एवं स्वच्छ गुणों के धारक थे। अनेक साधुओं के पूजनीय होने से वे यतिराज कहलाते थे। —सं०]

भट्टारक सकलकीर्ति १५ वीं शताब्दी के प्रमुख भट्टारक थे। ये प्रतिभासम्पन्न, मेधावी एवं उत्कृष्ट वक्ता थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी पर इनका पूर्ण अधिकार था। पहिले वे मुनि थे और बाद में भट्टारक बने। बागड एवं गुजरात में इन्होंने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक अभूतपूर्व क्रान्ति की और तत्कालीन समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में ये पूरे सफल हुये। उनकी मृत्यु संवत् १४६६ में महसाना नगर में हुई। भुवनकीर्ति इनके प्रमुख शिष्यों में से थे[1]। ये भी पहिले मुनि थे और अपने गुरु की मृत्यु के पश्चात् भट्टारक बने। लेकिन ये भट्टारक किस संवत् में बने इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। भट्टारक सम्प्रदाय में इन्हें संवत् १५०८ में भट्टारक होना लिखा है[2]। लेकिन अन्य भट्टारक पट्टावलियों[3] में सकलकीर्त्ति के पश्चात् धर्मकीर्ति एवं विमलेंद्र कीर्ति के भट्टारक होने का उल्लेख आता है। इन्हीं पट्टावलियों के अनुसार धर्मकीर्ति २४ वर्ष तथा विमलेन्द्र कीर्ति १२ वर्ष भट्टारक रहे। इस तरह सकलकीर्ति के ३६ वर्ष के पश्चात भुवनकीर्ति का भट्टारक होना चाहिये था, लेकिन भुवनकीर्ति के पश्चात् होने वाले सभी विद्वानों एवं भट्टारकों ने उक्त दोनों भट्टारकों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया इसलिये यही मान लिया जाना चाहिये कि इन भट्टारकों को भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा के भट्टारक स्वीकार नहीं किया गया और भुवनकीर्ति को ही सकलकीर्त्ति का प्रथम शिष्य एवं प्रथम भट्टारक घोषित कर दिया गया।

---

१. आदि शिष्य आचारि जूहि गुरि दीखिया भूतलि भुवनकीर्ति-सकलकीर्तिराम

२. देखिये भट्टारक सम्प्रदाय-पृष्ठ संख्या १५८

३. त्यार पुठे सकलकीर्ति नै पाटै की धर्मकीर्ति आचार्य हुआ ते सागबाडा हता तेणे श्री सागवाडो जुने देहरे आदिनाथ नो प्रासाद करावी नै। पाछे नोगामो नै संघै पर स्थापना करिनै। पाछे सागवाडे जाई ने पिता ने पुत्रकने प्रतिष्ठा करावी पोते सुर मंत्रदीधो ते धर्मकीर्ति ये वर्ष २४ पाट भोगयो। पछै परोक्ष थया। पुठे पोताने दी करे।

भुवनकीर्ति को आंतरी नगर में भट्टारक पद पर सुशोभित किया गया। इस कार्य में संघवी सोमदास का प्रमुख हाथ था।

"पाछे गांम आत्रीये संघवी सोमजी नै समस्त संघ मिली नै भट्टारक भुवनकीर्ति थाप्या"।

—भट्टारक पट्टावली डूंगरपुर शास्त्र भण्डार

× × × × × × ×

पछे समस्त श्रीसंघ मली ने आंतरी नगर मध्ये संघवी सोमदास भट्टारक पदवी भुवनकीर्ति स्वामी थाप्या।

—भट्टारक पट्टावली शास्त्र भण्डार ऋषभदेव

व्यक्तित्व—सन्त भुवनकीर्ति विविध शास्त्रों के ज्ञाता एवं प्राकृत, संस्कृत तथा राजस्थानी के प्रबल विद्वान थे। शास्त्रार्थ करने में ये अति चतुर थे। वे सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत तथा पूर्ण अहिंसक थे। जिधर भी आपका विहार होता, वहां आपका अपूर्व स्वागत होता। ब्रह्मजिनदास के शब्दों में इनकी कीर्ति विश्व विख्यात हो गयी थी। वे अनेक साधुओं के अधिपति एवं मुक्ति मार्ग के उपदेष्टा थे। विद्वानों के पूजनीय एवं पूर्ण संयमी थे। वे अनेक काव्यों के रचयिता एवं उत्कृष्ट गुणों के मन्दिर थे।[1]

जुना देहरानं सन्मुखनि सही करावी। पछै धर्मकीर्ति ने पाटै नोगांमाने संघ श्री विमलेंद्रकीर्ति स्थापना करी तेणे वर्ष १२ पाट भोगव्यो।

—भट्टारक पट्टावली–डूंगरपुर शास्त्र भण्डार

\+ \+ \+

स्वामी सकलकीर्ति ने पाटे धर्म्मकीर्ति स्वामी नौतनपुर संघे थाप्या। सागवाडा-नाहाता अंगारी आ कहावे हेता प्रथम प्रथम प्रासाद करावीने श्रीआद्यनाथनो। पछे दीक्षा लीधी हती ते वर्ष २४ पाट भोगव्यो पोताने हाथी प्रतिष्टाचार करि प्रासादानी पछे अंत समे समाधीमरण करतां देहरा सामीनसि करावी दीकरे करानी सागवाडे। पछे स्वामी धर्मकीर्ति ने पाटे नौतनपुर ने संघ समस्त मली ने वीमलेंद्रकीर्ति आचार्य पद थाप्या ते गोलालारनी न्यात हती। ते स्वामी वीमलेन्द्रकीर्ति दक्षण पोहता कुंदणपुर प्रतिष्ठा करावा सारु ते वीमलेन्द्रकीर्ति स्वामी दक्षण जे परोक्ष थया। स्वामी प्रष्टा प्रासादा वंवनी ४ तथा ५ वागड मध्येकरि वर्ष १२ पाट भोगव्यो। एतला लगेण आचारय पाट चाल्या।

—भट्टारक पट्टावली भ० यशःकीर्ति शास्त्र भण्डार ऋषभदेव

१, जयति भुवनकीर्ति विश्वविख्यातकीर्ति
बहुयतिजनयुक्तो मुक्तिमार्गप्रणेता।
कुसमशरविजेता भव्यसन्मार्गनेता ।।३।।
विवुध जन निषेव्यः सत्कृतानेककाव्यः
परमगुणनिवासः सद्कृताली विलासः
विजित करणमारः प्राप्त संसारपारः
स भवतु गतदोषः शर्म्मणे वा सतोपः ४

जम्बूस्वामीचरित (ब्रह्मजिनदास)

इन्हीं ब्रह्म जिनदास ने अपने रामचरित्र काव्य में भट्टारक भुवनकीर्ति का गुणानुवाद करते हुये लिखा है कि वे अगाध ज्ञान के वेत्ता तथा कामदेव को चूर्ण करने वाले थे। संसार पाश को त्यागने वाले एवं स्वच्छ गुणों के धारक थे। अनेक साधुओं के पूजनीय होने से वे यतिराज कहलाते थे।[1]

भवनकीर्ति के बाद होने वाले सभी भट्टारकों ने इनका विविध रूप से गुणानुवाद किया है। आपके व्यक्तित्व एवं पांडित्य से सभी प्रभावित थे। भट्टारक शुभचन्द्र ने आपको निम्न शब्दों में स्मरण किया है—

तत्पट्टधारी भवनादिकीर्तिः जीयाच्चिरं धर्मधुरीणदक्षः

चन्द्रप्रभ चरित

शास्त्रार्थकारी खलु तस्य पट्टे भट्टारकः भुवनादिकीर्तिः

पार्श्वकाव्य पंजिका

भट्टारक सकलभूषण ने अपनी उपदेशरत्नमाला में आपका निम्न शब्दों में उल्लेख किया है।

भुवनकीर्तिगुरुस्तत उर्जितो भुवनभासन शासनमंडनः।
अजनि तीव्रतपश्चरणक्षमो विविधधर्म्मसमृद्धिसुदेशकः ॥३॥

भट्टारक रत्नचन्द्र ने भुवनकीर्ति को सकलकीर्ति की आम्नाय को सूर्य मानते हुए उन्हें महातपस्वी एवं वनवासी शब्द से सम्बोधित किया है।

गुरुभवनकीर्त्याख्यस्तत्पट्टोदय भानुमान्।
जातवान् जनितानन्दो वनवासी महातपः ॥४॥

इसी तरह भ० ज्ञानकीर्ति ने अपने यशोधर चरित्र में इनका कठोर तपस्या के कारण उत्कृष्ट कीर्ति वाले साधु के रूप में स्तवन किया है।

पट्टे तदीये भुवनादिकीर्तिः तपोविधानाप्तसुकीर्त्तिमूर्त्तिम्।

यशोधर चरित्र

भुवनकीर्ति पहिले मुनि रहे और भट्टारक सकलकीर्ति को मृत्यु के पश्चात् किसी समय भट्टारक बने। भट्टारक बनने के पश्चात् इनके पांडित्य एवं तपस्या की चर्चा चारों ओर फैल

---

१. पट्टे तदीये गुणवान् मनीषी क्षमानिधाने भुवनादिकीर्तिः।
जीयाच्चिरं भव्यसमूहवंद्यो नानायतिव्रात निषेवणीयद ॥१८५॥
जगति भुवनकीर्ति भूतलख्यातकीर्तिः,
श्रुतजलनिधि वेत्ता ऽनंगमानप्रभेत्ता।
विमलगुणनिवासः छिन्नसंसारपाशः
सजयति यतिराजः साधुराजिसमाजः ॥१८६॥
रामचरित्र (ब्रह्मजिनदास)

गयी। विहार के लिये विविध नगरों से उन्हें निमन्त्रण मिलने लगे। इन्होंने अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य जनता को सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से जाग्रत करने का बनाया और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। इन्होंने अपने शिष्यों को उत्कृष्ट विद्वान एवं साहित्यसेवी के रूप में तैयार किया। भ० ज्ञानभूषण इनके प्रमुख शिष्य बने। वे भी इनके समान शास्त्रों के पारगामी विद्वान थे। भट्टारक भुवनकीर्ति की अब तक निम्न रचनायें प्राप्त हो चुकी है।

१. नेमिराजुलगीत	हिन्दी–राजस्थानी
२. जीवकाय सज्झाय	,,
३. जीवंधररास	,,
४. रात्रिभोजनवर्जनराम	,,
५. जम्बू स्वामीरास	,,
६. चिन्तामणिपार्श्वनाथ स्तोत्र	,,
७. कलावतीचरित्र	,,
८. अंजना चरित्र	
९. पवनंजयचरित्र	,,

उक्त रचनाओं में जीवंधर रास, जम्बूस्वामी रास, अंजनाचरित्र आपकी उत्तम रचनायें हैं। इनके अतिरिक्त आपकी और भी रचनायें होंगी लेकिन वे अभी कहीं शास्त्र भण्डारों में छुपी पडी होंगी।

साहित्य रचना के अतिरिक्त इन्होंने कितने ही स्थानों पर प्रतिष्ठा विधान सम्पन्न कराये तथा प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया।

(१) संवत् १५११ में इनके उपदेश सेहूंवड जातीय श्रावक करमण एवं उसके परिवार ने चौबीसी की प्रतिमा (मूलनायक प्रतिमा शांतिनाथ स्वामी) स्थापित की।[1]

सं० १५११ वर्षे वैशाख बुदी ५ तिथौ मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति उपदेशात् हूंबड जातीय श्री करमण भार्या सूल्ही सुत हरपाल भार्या खाडी सुत आसाधर एते श्री शांतिनाथं नित्यं प्रणमंति।

(२) संवत् १५१३ में चतुर्विंशति प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी।[2]

---

१. संवत् १५११ वर्षे वैशाख बुदि ४ गुरौ श्री मूलसंघे भ० सकलकीर्ति तत्पटटे भुवनकीर्ति — देवड भार्या लाडी सुत जगपाल भार्या सुत जाइया जिणदास एते श्री चतुर्विंशतिका नित्यं प्रणमंती। शुभं भवतु।

२. प्रतख्य पनर पनरोत्तरिइ गुरु श्री गंधारपुरी :
मतिष्ठा संघवइ रागरिए।। १९।।
जूनीगढ गुरु उपदेसइ सिखरबंध प्रतिसव
सखि ठाकर अदराज्यस्संघ राजि प्रासाद मांडीउए !।२०।।
मंडलिक राइ बहू मानीउ देश व देशी ज व्यापीसु।
पतीलमइ आदिनाथ थिर थापीया ए ।।२१।।

सकलकीर्त्तिनुरास

(३) संवत् १५१५ में संघ सहित गंधार पुर में प्रतिष्ठा करवायी तथा फिर इन्हीं के उपदेश से जूनागढ़ में एक शिखर वाले मन्दिर का निर्माण करवाया और उसमें धातु (पीतल) की आदिनाथ की प्रतिमा की स्थापना की गयी। इस उत्सव में सौराष्ट्र के छोटे बड़े राजा महाराजा भी सम्मिलित हुये थे।

(४) संवत् १५२५ में नागद्रहा ज्ञातीय श्रावक पूजा एवं उसके परिवार वालों ने भुवनकीर्ति के उपदेश से आदिनाथ स्वामी की धातु की प्रतिमा स्थापित की।[1]

(५) संवत् १५२७ वैशाख बुदि ११ को आपने एक और प्रतिष्ठा करवाई। इस अवसर पर हूंवड जातीय जयसिंह आदि श्रावकों ने धातु की रत्नत्रय चौबीसी की प्रतिष्ठा करवाई।[2]

---

१. संवत् १५२५ वर्षे ज्येष्ठ बदी ८ शुक्रे श्रीमूलसंघे कुन्दाकुन्दाचार्यान्वये श्रीसकलकीर्तिदेवा तत्पट्टे भ० भुवनकीर्ति गुरूपदेशात् नागद्रहा ज्ञातीय श्रेष्ठि पूजा भार्या वाछू सुत तोल्हा भार्या वारु सुत काला; तोल्हा सुत वेला—एते श्री आदिनाथं नित्यं प्रणमंति।

२. संवत् १५२७ वर्षे वैशाख बदी ११ बुधे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भवनकीर्ति उपदेशात् हुवंड जातीया ब्र० जयसिग भार्या भूरी सुतधर्मा भार्या हीरु भ्राता वीरा भार्या मरगदी सुत माड्या भूषर खीमा एते श्री रत्नत्रय चतुर्विंशतिका नित्यं प्रणमंति।

★ वीरावतार ★

'तन्मय' बुखारिया

पूछते हैं चाँद से नन्हें सितारे–
'रात है, लेकिन धरा पर धूप क्यों है ?
चाँदनी को लग गई किसकी नज़र यह,
तेज अपना क्षीरा, आहत रूप क्यों है ?'

फूल से बोली पड़ोसिन एक कलिका–
'आज क्या अपनी सुरभि को हो गया है;
क्यों न मुखरित आज इठलाता समीरण,
किन अंधेरों में भटक कर खो गया है।'

एक उत्तर था सभी का, एक आशय,
एक ही अनुभूति, चुभती चिन्तना थी;
दृश्य कुछ ऐसा अकथ था वह कि बरबस
हो रही सबकी समर्पित बन्दना थी !

इसलिए आकाश शरमाया हुआ – सा
इसलिए धरती चकित, विस्मित, ठगी – सी;
इसलिए हर रूप की आंखें विनत हैं,
सृष्टि – श्री हत्प्रभ उनींदी, अधजगी – सी !

आज धरती पर पदार्पण हो रहा है
उस महामानव, चिरन्तन चेतना का;
जो अमर साकार स्मारक बन जिएगा
प्यार का, विश्वास का, समवेदन का !

जो चलेगा तो जमाना भी चलेगा,
जो रुकेगा तो जमाना भी रुकेगा;
देह तो थक जायगी जिसकी किसी दिन,
पर नहीं संदेश शाश्वत तक थकेगा !

इसलिए हर रूप की आंखें विनत हैं;
इसलिए हर ज्योति शरमायी हुई;
सृष्टि भर की श्री स्वयं नरवेष धर कर,
आज त्रिशला के भवन आई हुई !

कामना अपनी कि यह अवसर अमर हो;
वीर का अवतार मंगलमय, शुभम् हो,
और अन्तिम वे बिना जो है अपूरन,
पूर्ण वह तीर्थंकरों का पुण्य-क्रम हो !

२. द्रोण्ये यक यशोदेव देव—रिदं जैन कारितं युग्मुत्तंम ।

३. भयशत परम्परार्जितं गुरु कर्म्मराजो कारापितां परदर्शनाय
शुद्ध सज्ज्ञान चरण लाभाय । संवत् ८ (७१) ४४

४. ओं साक्षात् पिता महेने व विश्वे रूप विधायिना ।
शिल्पिना गोपगर्गेन कृतमेतज्जिनद्वयमे ।।

इस लेख में भी दो जैन मूर्तियों के निर्माण का उल्लेख है । इसमें तिथि भी वही है ।

दूसरा महत्वपूर्ण जैन शिलालेख जो नवीं शताब्दी का है वह है, घटियाले का शिलालेख यह शिलालेख वि. सं. ८१८ का है । यह शिलालेख भी जिनदेव के निमित्त एक मन्दिर के निर्माण का उल्लेख करता है । शिलालेख इस प्रकार से है:—

तेन श्री कक्कुकेव जिनस्य देयस्य दुरित निर्दलनम् ।
कारितंम चलमिदं भवनं भक्तया शुभं जनकम ।।

परि लिखित लेख प्राकृत का संस्कृत रूपान्तर है । वि. सं. ६४४ का पाली स्थित शान्तिनाथ के मन्दिर का लेख भी उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त जोधपुर के उत्तर में स्थित गाङ्गाणी का जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है । इसमें ऋषभदेव की जैन प्रतिमा के पृष्ट पर वि. सं. ६३७ का लेख भी महत्वपूर्ण है—वह लेख भी इस प्रकार है ।

१. आन वसु शतेव्दानां सप्ततृ शदधि के स्वतीतेषु
श्री वच्छलांग लीभ्यां ।

२. परमभक्तया ।। नामये जिनस्यैषा ।।
प्रतिमाऽषाडार्द्ध मासनिस्पन्ना श्रीम—

३. त्तारेण कलिता । मोक्षार्थं करिता ताम्यां ज्येष्ठार्यपदं
प्रा प्रौ द्वावपि

४. जिन धर्म वच्छ लौ ख्यातौ । उद्योतन सूरेस्तौ ।।
शिष्यौ—श्री वच्छ बलदेवौ ।।

५. सं० ६३१ आषाढार्द्धे ।

प्रतिमा मोक्ष प्राप्ति के लिए स्थापित की गई थी । उद्योतनसूरि का उल्लेख इसमें विचारणीय है । इनकी निर्वाणतिथि पदावली के आधार पर वि. सं. ६४४ है । वि. सं. ६३६ में सम्भवतः यह आचार्य पद प्राप्त कर चुके थे ।

इस प्रकार से पूर्व मध्यकालीन तथा गुप्तोत्तर काल में राजस्थान में महत्वपूर्ण जैन लेख प्राप्त होते हैं । उनमें से कुछ प्राचीन लेख दिये गये हैं ।

प्रद्युम्नचरित के कुछ शब्द और पाठार्थ

डा० दशरथ शर्मा

प्रद्युम्नचरित को सानुवाद प्रकाशित कर पण्डित चैनसुखदासजी और श्री कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने महान् कार्य किया है। किन्तु कृति की भाषा न विकसित हिन्दी है और न अपभ्रंश। इसलिए इसमें कुछ ऐसे शब्द और पाठ हैं जिनका अर्थ अभी विचारणीय है। हम इनमें से कुछ पाठकों के विचारार्थ उपस्थित करते हैं। सम्भव है कि प्रद्युम्नचरित का यह आंशिक अध्ययन भी कुछ उपयोगी सिद्ध हो।

(१) भरिवाउ

यह शब्द प्रद्युम्नचरित में अनेकशः प्रयुक्त है। द्वारिकाधिपति यादव राज ने 'अरियण-दल भरिवाउ' (२१) दुश्मनों के दल का भंजन किया। जब भीष्मराज और शिशुपाल की सेना के निकट आने पर रुक्मिणी डर गई तो नारायण ने उससे कहा, "सेसपाल भानउ भरिवाउ, बाधिन आणौ भीषमराउ" (७४)। शिशुपाल भी नारायण को देखते ही कह उठता है, 'कहा जाइ दिठि पर्‌यउ, अब भानउ भरिवाउ' (७६)। पद्य ८३ में 'सेसपाल भानि भरिवाउ', पद्य १६४ में 'को भाणइ इहि को भरिवाउ', पद्य १७१ में 'अरियण दलु भानउ भरिवाउ' पृष्ठ १७८ में 'अद भाणउ तेरउ भरिवाउ', पद्य १८६ में 'अब भानउ इनको भरिवाउ', पद्य २०२ में 'गहि विषहर भान्यउ भरिवाहु' और पद्य २०२ में 'आजु मयण भानौ भरिवाउ' शब्द प्रयुक्त हैं। इन अवतरणों से स्पष्ट है कि शत्रुओं के 'भरिवाउ' का भंजन सभी वीरों का लक्ष्य था। दूसरी दर्शनीय बात यह है कि जहां कवि ने 'भरिवाउ' शब्द का प्रयोग किया है वहीं साथ में निश्चित रूप से 'भानइ' क्रिया का कोई न कोई रूप भी प्रयुक्त है। गर्व भंजन ही सम्भवतः भरिवाउ भंजन है। परतर कृतियों में भडिवाउ शब्द प्रयुक्त है जिससे हम इसे भट-वाद (वीरोचित ख्याति) का अपभ्रष्ट रूप समझ सकते हैं।

(२) पेखणें (३४)

यह प्रेक्षणक का अपभ्रष्ट रूप है और कान्हडदे प्रबन्धादि ग्रन्थों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। साहित्य दर्पणकार ने पेखणे (प्रेंखण) की निम्नलिखित परिभाषा दी है:—

> गर्भावमर्षरहितं प्रेंखणं हीन नायकम्।
> असूत्रधारमेकाङ्क-मविष्कम्भक-मप्रवेशकम्।
> नियुद्ध-संफेट-युतं सर्ववृत्ति समाश्रितम्।

दरबारों में ऐसी ऐसी छोटी कृतियों का प्रदर्शन दरबारियों के मनोविनोद और कला के प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन का अच्छा साधन था।

(३) 'कालरूप केलि देखत फिरहि' (३१)--

इस पद्यांश का यह अर्थ करना सम्भवतः उचित होगा कि नारद काले रंग के थे और झगडा ढूंढते फिरते थे। नारद की कलि (कलह) प्रियता तो प्रसिद्ध ही है। 'नार नरसमूहं द्यति भिनत्ति कलहैर्नारदः', नारद नाम ही उसका है जो कलह द्वारा नरसमूह का भेदन करे (क्षीरस्वामी की अमरकोश पर टीका)।

(४) 'सांति करत आयउवेतालु' (३२)—

इसका अनुवाद 'कोई मार डालने वाला पिशाच आ गया है' करना ठीक नही है। वास्तव मे यह एक प्रसिद्ध कहावत है जिसका रूप महेश्वरसूरि की ज्ञानपञ्चमी कथा मे 'सेती विकरालणंवेयालो उट्ठए (८.७६)" है। शान्ति करने मे वेताल न उठना चाहिए, किन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है। शृङ्गार करते समय 'कालरूप' नारद का आ टपकना सत्यभामा के लिए कुछ ऐसा ही था।

(५) महमहण--

इस शब्द को कवि ने आठ बार श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त किया है। इसे 'महामहिम्न' से अनूदित न कर 'मधुमथन' रूप मे देखना उचित होगा।

(६) गूडी उछली (८६)—

इसका अर्थ गुडिया उछालना नही है। पुरानी राजस्थानी, महाराष्ट्री, कन्नड आदि भाषाओ मे गूडी का अर्थ 'फर्री' या Buntings है। उत्सव के समय 'फरियो' या छोटी ध्वजाओ को लगाने की रीति अब भी सर्वत्र प्रचलित है। विशेष जानकारी के लिए जुलाई, १९६१ की वरदा देखे।

(७) कुरवइ (११५):—

इस शब्द का संस्कृत रूप कुरुपति है।

(८) समदिउ (१८४)—

यह शब्द प्राचीन राजस्थानी मे 'समधिउ' रूप मे प्रचलित था। इसका विपरीतार्थक शब्द 'विसमादी' ३२ वें पद्य मे प्रयुक्त है। 'समधिउ' का अर्थ स्वस्थ या प्रकृतिस्थ है। १८४ वें पद्य मे समदिउ' स्वस्थ या प्रसन्न के अर्थ मे प्रयुक्त है।

(९) उलगाणा (३३६)—

यह शब्द भी प्राचीन राजस्थानी, महाराष्ट्री और कन्नड भाषाओ मे प्रयुक्त है। इसका अर्थ सेवा करना है।

(१०) वेद-हड (४३०)—

इसका अर्थ सम्भवतः चार वर्ष का करना ठीक होगा।

(११) खारिपांच (४६६)—

इसका अर्थ पांच सेर ठीक नहीं है। खारी का बोझ १०२४ पल है जो लगभग डेढ मन के बैठता है।

(१२) गीम्व गहे तक करहि पुकार,
डोम डोम हुइ रहे अपार। (६४४)

इस पद्यांश का अर्थ सम्भवतः यह कहना उचित होगा कि 'उसके ग्रीवा पकड़ते ही वह पुकार उठा और (चारों ओर) अपारसंख्यक डोम ही डोम दिखाई पड़ने लगे। प्रसंग से यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है।

कई अन्य ऐसे ही शब्दों और पद्यांशों पर हम अवसर मिलने पर फिर विचार करेंगे। यह भी हमें आशा है कि अन्य विद्वान् भी प्रद्युम्नचरित के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालेंगे।

राजस्थान के कतिपय महत्वपूर्ण पूर्व मध्यकालीन जैन लेख

डा० सत्यप्रकाश

राजस्थान की कांस्य प्रतिमाओं पर तथा अन्यत्र कुछ प्राचीन लेख ऐसे हैं जो बड़े ही महत्व पूर्ण हैं। गुजरात क्षेत्र में पाये जाने वाली ऐसी कई कांस्य प्रतिमायें पूर्व मध्यकालीन हैं, पर इस प्रकार की प्रतिमायें राजस्थान क्षेत्र से कम ही प्राप्त हुई हैं। अतः वे उल्लेखनीय हैं। इन प्रतिमाओं पर प्राप्त लेख भी इसी कारण बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। मुनि कल्याण विजयजी ने सन् १९२१ में श्री महावीर स्वामीजी के मन्दिर में (सिरोही स्थित पिन्दवाडा में, जो सिरोही से चार कोस की दूरी पर स्थित है) कुछ कांस्य प्रतिमाओं का पता लगाया था। इन प्रतिमाओं में दो कायोत्सर्ग फुट कर प्रतिमायें उक्त मन्दिर के गूढ मण्डप में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमायें ४ फीट ऊंची हैं और ५ पक्तियों के एक लेख को स्थान देती है। ये लेख इस प्रकार से हैं:—

१. ॐ नीरागत्वादि भावेन सव्वज्ञत्वं विभावकं
   ज्ञात्वा भगवतां रूपं जिनानामेव पावनं ॥ द्रो वयक

२. यथो देवदेव—भि रिदं जैनं—कारितं युग्मुत्तमं ॥

३. भवशतपरं पराज्जित—गुरु कर्म्म रसो
   (जो)—त—वरदर्शनाय शुद्ध सज्भ्न ॥ चरणलाभाय

४. संवत ७४४

५. साक्षा पिता महेनेव विश्वरूप विधायिना ॥
   शिल्पना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम्।

आदिनाथ की प्रतिमा पर उक्त लेख है। इस लेख से प्रतिमा की महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। इससे उन गृहस्थियों का पता लगता है जिन्होंने इस प्रतिमा का जीर्णोद्धार कराया, इनमें से एक का नाम इसमें दिया है। वह है यशोदेव का। मूर्तिदर्शन से जो पुण्य लाभ होगा उसका भी उल्लेख है। शिल्पी शिवनाग का उल्लेख है और शिल्पी की योग्यता का भी इसमें आभास मिलता है।

इसी मन्दिर में एक शिलालेख भी है जो कांस्य प्रतिमा पर दिये हुए लेख से साम्य रखता है। यह लेख इस प्रकार से है। इसका उल्लेख श्री नाहडजी ने जैन लेख संग्रहों में किया है—

१. नीराग गन्धादि भावेन सर्वज्ञान विनायकं। ज्ञात्वा भगवतां जापं
   जिनानाभिव पावनं।

Lord Mahavira In Early Buddhist Literature

Dr. Jyoti Prasad Jain.
M. A. LL. B., Ph. D.

At one time the European Orientalists, carried away by a superficial resemblance in certain features between Jainism and Buddhism, had, rather dogmatically, surmised that the former was a later derivation of the latter. It took serious efforts and time to expose the unsoundness of this theory. Consequently, the world of scholars has now given it up and has accepted without cavail the fact that Jainism is much older than Buddhism. In fact, Gautam Buddha, the founder of Buddhism, was a junior contemporary of Vardhamana Mahavira, the twenty-fourth and last Tirthamkara of the Jains (vide, the author's book—*Jainism, the Oldest Living Religion*, pp. 44). There are a number of interesting references in the early Buddhist Literature of Mahavira, his doctrines and his followers. They often refer to the Jains (by the designation 'Niganthas' or 'Nirgranthas') as constituting a rival sect, but nowhere even hint that this sect was a newly founded one. On the contrary, from the way in which they speak of it, it would seem that this religion was in the time of the Buddha already one of long standing. Unlike the Buddha, Mahavira made no attempt to discover or preach a new religion but only propagated the faith which had been preached again and again by the preceding twenty-three Tirthamkaras. On the other hand, the Buddha made several experiments in his quest of knowledge and is even said to have entered the order of Jain ascetics with the same object.

In the Pali texts of the Buddhists there are a number of allusions to Nigantha Nataputta, as Mahavira was called by them, and to his greatness. It was said that he 'knew and saw all things, claimed perfect knowledge and faith and taught the annihilation by austerities of the old Karma and prevention by inactivity of new Karma and that when Karma ceases, misery ceases. '(SBE, Vol. XXII, pp. xv.). According to the *Majjhima Nikaya* (PTS, II, p. 214) the Nirgrantha ascetics once told the Buddha that their master, Nataputta, was an omniscient and that by his infinite

knowledge he had told them what sins they had committed in their previous births. The *Samyutta Nikaya* (PTS,IV, P.398) speaks of the popular belief that the famous Nataputta (Mahavira) could tell where a person would be born after his death and, on being enquired, could also tell where a particular person was thus reborn. The *Anguttara Nikaya* also refers to the fact that it was generally believed at that time that Nigantha Nataputta could know all and could percieve all, that his knowledge was unlimited and that he was omniscient during all the time other people were awake or asleep or busy in their mundane pursuits. Rockhill, in his *Life of the Buddha* (Page 259), says that King Ajatashatru (Kunika) of Magadha was also once made acquainted with these facts of Mahavira himself.

The *Mahavagga* gives the story of the conversion to Buddhism of the Lichhivi general Simha of Vaishali who had gone to see the Buddha despite Mahavira's having forbidden him to do so ; and the *Majjhima Nikaya* speaks of the conversion of Upali, a lay follower of Mahavira, after he had had a disputation with the Buddha as regards the comparative iniquitousness of the sins of the body and those of the mind. Mrs. Rhys Davids, in the *Psalms of the Early Buddhists*, gives several instances of conversion from Buddhism to Jainism, and *vice versa* ; Ajjuna, a Buddhist, is said to have contacted the Jains and entered their order, prince Abhaya to have been taught a dilemma by Nataputta and so on. Dr. B.C. Law, in his *Historical Gleamings*, also refers to the relations of the Buddha with the Niganthas and to their mutual conversions, giving examples of Simha, Saccaka, Srigupta, Grihadinna, Digha Tapassi, Upali, Abhaya Rajakumara, Visakha, etc.

A number of specifically Jain metaphysical and ethical doctrines, theories and terms also find mention in several texts of the Pali canon. (vide. *Jainism, the Oldest Living Religion*, pp. 9—10).

These texts speak of the Niganthas (the Jains) as the opponents and converts of the Buddha, but never imply, much less assert, theirs was a newly founded sect. Morever, they mention the older Nigantha Caitys (chapels), particularly of the Licchavis of Vaishali, the Caturyama Dharma of Parshvanatha, the Buddha's disputation with Saccaka who himself was a non-Jain but whose father had been a Jain, and the schism that appeared among the

Jains after Mahavira's nirvana at Pava. The last menioned incident, was according to the *Samagama Sutta*, related to the Buddha himself who evidently survived Mahavira and was thus a junior contemporary of the last Tirthamkara. As Prof. Buhler observed, "From the Buddhist accounts in their canonical works as well as in other books, it may be seen that this rival (Mahavira) was a dangerous and influential one, and that even in the Buddha's time his teaching had spread considerably." (vide. *The Jains*) "Mahavira must have been a great man in his way and an eminent leader among his contemporaries," says Dr. Herman Jacobi, and "Like his great rival Buddha, he must have been an eminently impressive personality," is the surmise of Dr. Hoernle. According to the Buddhist tradition, Nigantha Nataputta was one of the more important of the six Tirthakas of Buddha's time, who together with the Buddha himself were the famous religious teachers, outside the pale of Brahmanism, of those times, And Mahavira's followers, the Niganthas (or the Jain ascetics) have been described in an old Buddhist text, the *Mahaparinibbana Sutta*—(SBE, XI,) page 106.), as "Heads of companies of disciples and students, teachers of students, well-know and renowned founders of doctrine, esteemed as good men by the multitude."

German Studies On Jainism

Dr. W. Noelle

Deep interest in Jainism on the part of German scholars has been a feature of the cultural relationship between India and Germany. The list of celebrated German Indologists includes several specialists in Jain studies. A general survey of the research undertaken by Indologists in Germany shows that for some time Germany was foremost in the field of Jain studies.

The pioneer in this field was H. Th. Colebrook whose work, "Observations on the Sect. of Jains", brought out in 1808, is a study of inestimable value. Half a century later Albrecht Weber (1825-1901), who edited the White Yajurveda under the patronage of the East India Company, published a monograph entitled "On the Satrunjaya Mahamtmyam" in German. The author was then Professor of Sanskrit at Bonn University, and the outcome of his elaborate study is incorporated in two later works-"On the Sacred Texts of the Jains" and "A Catalogue of the Sanskrit and Prakrit MSS of the Royal Library of Berlin (1892)". "On the Sacred Texts of the Jains" contains the first authenticated information about the Shvetambara canon which reached the West. In the Catalogue 259 Jain manuscripts are listed, analyzed and edited in specimen.

While Albert Weber's book can be described as a stock-taking in the vast field of literature unknown up to that time with Hermann Jacobi's (1850-1935) Jain studies enter a new stage beginning with the critical editions and translations of many canonical and post-canonical texts of Jainism. Unlike the studies of other scholars Hermann Jacobi's "Introduction to the Kalpasutra" (1879) showed, for the first time, that Jainism was absolutely independent of Buddhism. While Jacobi was a professor at Bonn University, he discovered most valuable Jain texts during a trip to India in the winter of 1913-1914, his second visit to this country. He was also a specialist in Indian epics, poetry, philosophy and astronomy.

A contemporary of Jacobi, Ernst Leumann (1859-1931), who was at Strasbourg, implemented the study of single texts by investigating into the inter-relation and stratification of the works. Literary parallels are traced and Jain tradition is seen in the context of Indian tradition in general. Ernst Leumann had a distinguished pupil, Wather Schubring (born in 1881) who held the Chair in Indology at Hamburg University from 1920 to 1950. He made a thorough study of the Shvetambara canonical texts and published in 1935 a valuable treatise, "The Doctrine of the Jains". Schubring also compiled a Catalogue of the Jain manuscripts in the Prussian State Library in Berlin which was published in 1944.

Ludwig Alsdorf (born in 1904) is another authority on Jainism. He teaches also at the Hamburg University. He reached the conclusion that the Shvetambara and Digambara versions of the Universal History, that is History after the 63 great men, originated from a common source, and that this source was independent of literary Brahminical works like "Harivamsa-purana" and "Mahabharata". Alsdorf also published numerous works on problems in philosophy, literature and historical religion within the field of Jain literature. He will be honoured most for his discovery that the "Vasudevahindi" of the Jain poet Sanghadasa contains a new and so far unnoticed version of "Brahatkatha'', the famous fables.

The most outstanding German Indologist at the present time, who has made a substantial contribution to Jain studies, is Prof. Helmuth von Glasenapp who recently celebrated his 70th birthday. He occupied the Chair in Indology at Tuebingen till 1960 and is well-known to Indian scholars. Prof. von Glasenapp has visited India several times. At the invitation of Dr. Rajendra Prasad and Prime Minister Nehru Prof. von Glasenapp visited India in 1952 and participated in the UNESCO Round Table discussion on the philosophical and cultural relations between East and West held in New Delhi. Later, in 1956, he participated in the 2,500th anniversary celebration of the Buddha's parinirvana in India. At that time he toured many holy places in this country. Prof. von Glasenapp has published many works on Jainism. In "The Polemics of the Buddhists and Brahmins against the Jains" he traces many points of dogmatical controversy. His foremost work on Jainism is, however, "Jainism" published in 1925. This

has been translated into Gujarati under the title "Jain-Dharma". Ten years earlier he had published a study on the teachings of karma and their place in the philosophy of the Jains.

In writing about German studies on Jainism one cannot ignore a devoted scholar working in India, Mr. Lothar Wendel, Professor at the Birla Education Trust, Pilani. In a study entitled "Thought, Life and Humanity", published by the Jain Academy of Wisdom, Etah, Mr. Wendel compares the Jain thought with Western ideals. He sees common features in the basic philosophical conceptions of Jainism, of Goethe and even of an eminent Protestand theologian like Paul Tillich.

Practical Jain Dharma

Swami Anuruddha
Ph. D. of Geremany

Straight from the beginning I'll without hesitation admit that there is no other more perfect way of life saturated by the sublime principle Ahinsa than Jaina-Dharma !

Although I am a Buddhist monk since many years, my mind and soul is not narrowed by dogmatism and prejudice but I am intellectually sincere enough to subscribe to the fact that only Jainism has Ahinsa propagated as its first religious principle. Even the Buddha did not make Ahinsa the first command of his 'Dhamma' less Christianity, Islam or any other religion; therefore, Jaina Dharma stands out as the perfect religion. Here I will not enter a religious discussion about which is best-Buddhism or Jainism—in practical life, but will limit myself to the latter.

Ahinsa is the *amrit* of life, it is the song celestial of all the Tirthankaras beginning from Rishabadev to Mahavira. How wonderful it is to listen or to read the peaceful life stories of the great Jaina-saints, such stories are far more elevating, inspiring and glorious than the stories of war-criminals, gangster Kings and sex offenders ! All Jaina parents should give their children only good literture in their hands, books which teach Ahinsa and the purity of life, a life without violence in thought, speech and action ! Ahinsa is not only abstaining from bodily injuring or even killing, but Ahinsa also is the purity of our thought and speech as well ! Abusive language, harmful thought (including evil thoughts of corruption and cheating !) should by all good means be eradicated by the followers of Jaina-Dharma in order to be an example to the world and to demonstrate that adherence to Jainism is not merely because of traditions or lip confession only. Perhaps I am lashing out a little too freely, however, I think that in our time when the world is still at the brink of a III World War, some apostles of peace and Ahinsa have to rise their voices in protest against religious laxity, corruption and-humbug in order to be able to counteract the great danger of an alround new massacre. All evils in this world are based fundementally upon

Hinsa, violence in thought, speech and action, and by removing Hinsa there will be no longer these three evils by which the world is burning.

India is the country traditionally known as the birthland of the greatest men the world ever has seen and India is furthermore the country of all the Tirthankaras and of Ahinsa-Dharma. Alas ! There are still slaughter houses, hangmen, animal sacrifices in this country, also to those lamentable facts we should not be blind or even indifferent, No ! we should unite and help to abolish the black marks on Ahinsavarsha. More strength, more good will, more determination is needed by all who have the welfare of all living beings at their heart. We should not wait until some body else will do it. Do it yourself and do it now ! What now ? namely the most sincere adoption of Ahinsa Dharma in our practical every day life ! To inspire others to follow the examples of us and so make this country (at least) worthy again of its great reputation, worthy of the memory of all her great saints. How to start ? (if a start still is needed). Here are some good advises how to practice Ahinsa:

1. Be not indifferent against cruelties towards animals. Do not turn off your eyes if some one ill treats a horse, buffalo, dog etc. go teach Ahinsa ! Be not a weakling, but a true son of a Jina !
2. Boycott the use of tongas, go on foot, if necessary !
3. Send letters of protest against capital punishment ! Do it immediatly when you read about it. Capital punishment will never solve or prevent crimes. What is needed is the reformation of the offender rather than hanging him ! (A number of Western countries (Christian ones !) have already abolished Capital punishment).
4. Do not allow your children to play with war-toys or to read books glorifying wars, crimes and sex.
5. Do all the above four points yourself first and then teach it to others.

The glorious memory of Lord Mahavira whose Jayanti is approaching you can best honour by making a stern resolve to be a worthy follower of His and His perdecessors.

Jai Mahavira ! Jai Hind !

The Nature of Unconditionality in Syadvada

Prof. Ram Jee Singh, Ranchi

Ahimsa, Anekanta-vada and Syadvada:—Jainism is a great experiment in Ahimsa (Non-violence) in word, deed and thought. Infinite knowledge, faith power and bliss are the innate characters of every soul. What is needed is complete external non-interference. The doctrine of Anekanta-vada (Non-absolutism) is simply an extension of Ahimsa in the field of reality. When things have many characters (*anantedharmakam*)[1] naturally they are objects of all-sided knowledge. Any particular object can be viewed from different points of view. So when we speak of a particular aspect, we have to use the word 'syat' i.e., from a particular point of view, or as related to this aspect, this object is such and not otherwise. So Syadvada is the doctrine of Relativity of Judgment which is born out of the non-violent and non-absolutistic attitude of the Jainas, which led to the uttermost cautiousness of speech of "explaining problems with the help of *siyavava* (syadvada) or vibhajjavada. Our thought is relative. Our expressions are relative".[2] Thus the doctrines of Ahimsa, Anekentavada and Syadvada are organically related.

2. Syadavda-a form of Scepticism :—Scepticism "denies the possibility of knowledge",[3] said James Ivvrach. It starts from "no more such than such "and ends in "we know not where, why and whence". It doubts or denies the very possibility of knowledge. But the position taken by Jainism is this: "there is reality; its nature is such and such; still it is possible to understand it in quite opposite ways".[4] Prof. K.C. Bhattacharya who gives indeterministic interpretation of this theory clearly says that the

---

1. Haribhadras' *sad-darasanana-sammuccaya*, 55.
2. Tatia, N, *Studies in Jain Philosophy* (1951), P. 22.
3. *Ency. of Religion and Ethics* (Hastings)-Vol-5, P. 340b.
4. Raju, P. T., "The principle of Four-cornered Negation in Indian Philosophy". *The Review of Metaphysics*, June, 1954, P. 697.

Jaina "theory or indeterministic truth is not a form of scepticism. It represents, not doubt, but *toleration* of many modes of truth".[5] Prof. Kalidas Bhattacharya who tries to interpret Anekantvada from alternative standpoints also holds that "the Syadvadin is quite definitely assertive so far, as *asti*, *nasti* etc are concerned".[6] This is a form of realism which asserts a plurality of determinate truths and they have thus developed a wonderful organon of Saptbhangi or the sevenfold pluralistic doctrine of Jaina dialectics. True, every judgment bears the stamp of relativity, but this relativity does never mean uncertainty. In fact, this theory of sevenfold predication is "derived from Jaina ontology that reality is determinate".[7]

3. Is Non-absolutism Absolute :—Put into the dialectics of the sevenfold predication, the negation of non-absolutism (i.e., non-absolutism does not exist) is equivalent to the affirmation of absolutism. If non-absolutism is absolute, it is not universal since there is one real which is absolute; if non-absolutism is itself non-absolute, it is not an absolute and universal fact. "Tossed between the two horns of the dilemmna non-absolutism thus simply evaporates".[8]

But we should remember that every proposition of the dialectical sevenfold judgment is either Complete or Incomplete. In Complete Judgment (" we use only one word that describes one characteristic of that object, and holds the remaining characters to be identical with it".[9] On the other hand, in Incomplete Judgment (Naya) we speak of truth as relative to our standpoints, hence a partial knowledge. " Hence the non-absolute is constituted of absolutes as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes".[10]

---

5. "The Jaina theory of Anekants-vada," *Jaina Antiquary*, June, 1943, P. 14.
6. His kind lerter to me dated 30. 12. 53. C. F. His "*Alternative Standpoints* in *Philosophy*" (1953), P. 364.
7. Mookerjee, S., *the Jaina Philosophy of NonAbsolutism* (1944), P. 163.
8. Ibid., P. 169.
9. Mehta, M. L., *Outlines of Jaina Philosophy*, (1954), P. 123.
10. Mookerjee, S., Ibid., P. 171,

4. Is Conditional Judgment Unconditional :—We have seen every judgment is true but conditionally or relatively. But the statement that "all propositions are conditional" cannot be a sweeping remark, for then it will mean that "all statements including even the statement that 'all statements are conditional' would be conditional". But the Jainas insist that all propositions except the propositions of its own system have relative truth. They say that all seven alternatives are true and so their seven-fold conditioned predication is an all comprehensive categorical statement. True, they treat the alternatives only as alternatives and not as disjunctives in which, alternatives are mutually exclusive, they are nevertheless making a categorical judgment. Does this mean that their doctrine is the doctrine of relativity of knowledge but not of relativity of truth? Of course, yes. The Jainas do hold that their own system is absolutely true. But if knowledge is relative, then our knowledge of reality also can have only relative truth.

So we come to this : the statement that "every statment is conditional" may in a sense be taken as itself unconditional. This is unconditionality in conditionality, or absolutism in non-absolutism. When the Jainas say that "every-thing is conditional", they are *unconditional* at least to this extent that "everything is conditional" Now does this not mean self-condtradiction or complete overthrowing of the non-absolutistic position?

Let us analyse. "A categorical judgment asserts an actual fact absolutely",[11] in which the relation between the subject and the predicate is simple, unconditional one, Now, in the above proposition, "every proposition is conditional", the relation between every proposition' (subject) and 'conditional' (predicate) is apparently *unconditional*, but there is no clash between its *unconditionality* and *conditionality*.

For example, when Bhattas say that consciousness associated with ignorance is the Self, on account of such Surti passages "During dreamless sleep the Atman is undifferentiated consciousness".[12] Even in the waking state a man says, "I do not know myself" though he is aware of his own existence. "I had no knowledge". But here there is no clash between 'knowledge', and 'ignorance', hence no contradiction.

11. Bosanquet, B., *Logic*, (2nd. Ed. 1911.) Vol. I, P. 88.

12. *Mandokyopnisad*-5.

Similarly when I say "I am undecided", (when I am extremely perplexed about everything) there is indeed one *decision* that I am undecided. But this *decision* does not quarrel with my indecision, hence no contradiction.

Similarly in Logic, we have disjunctive judgments—"The signal is either red or geeen", "A man is either good or bad"[13] etc., we do mean something categorical behind them. But this categoricality does never clash with the proposition being disjunctive. True, the basis is always categorical but this categoricality is not like the catigoricality of a simple unconditional judgment, "The horse is red".

When a logical positivist says that "there is no metaphysics" or when a sceptic says that " there is nothing real", metapysics and reality may come through the back-door. "Like Hydra, they raise their heads over and over again, not to be destroyed afresh, but to conquer anew."[14]

In the conclusion we may say that the unconditionality in the statement that 'all statements are conditional' is quite different from the normal conditionality. The question is how and why?

5. Senses, Reason and Faith.:—There are primarily two sources to understand the *senses* and *reason*, closely corresponding to them there are two grades of Reality—*existence* and *reality* (as the existentialist will tell) or *existence* and *reality* (as the Hegelians will say). Existence is actuality, or actual verification. This is unconditional, absolute and categorical. There is no alternation or condition, being monistic and unilateral in attitude. But there is another thing—*thought*.

Thought is rational thought or simply reason. Thought gives us essences either by a sort of reflection or by way of hypothesis and then interprets the world in terms of these essences. However, this interpretation is not verification. There may be alternative essences or hypothesis in terms of each, which the world can be interpreted. Thought, therefore, is not concerned with existence, but with essences, and there is always the possibility of alternative essences or hypothesis. This is exactly what we mean, when we say that "everything is

---

13. Bradley, F. H., *The Principles of Logic*, *2nd*. Ed. V.I.P. 130.

14. Gajendra Gadkar, V. (Mrs.)—"Logical Positivism versus Metaphysics," *Proc.* of *Indian Phil. Congress* (Mysore) P, 183.

conditional". To thought or reason thus, everything is *conditional* or alternative.

But we cannot live in the world of thought alone; we cannot forget *existence*. But this attitude to existence must be other than thought or reason and what is *other than thought or reason* must be *un-reason* or *irrationality*. This irrationality leads us to existence, which as such is unconditional. Behind reason there is always the unreason. We can give the name of *faith* to this phenomena as Kant,[15] Herder, Jacobi etc., have suggested. There are many grounds of faith—one being the *scripture*. Scriptures differ from one another. Jainas must stick to their own position. Here is definiteness. However, we cannot expect such definiteness on other side. Reason only offers alternative pictures—Jaina, Advait, Vaisesika etc., all are equally *possible*. But do we always obey the command of reason ? No, we have also own interest in irrationality. Hence, in order to avoid indefiniteness etc, we stick to one such possibility which is chosen for us by the community to which we belong or some superior intuition. Thus there comes unconditionality. However another may choose another possibility as existence if he belongs to another community or if his genius moves in another direction. So there apears to be again alternation among *existence*. But this alternation is not genuine. There is alternation only so far as we think. There is alternation only on thought-level. We compare our thoughts with other thoughts. and, what is comparison ? Comparison involves thinking and reasoning, so it is thought-process. So we are bound to admit alternation. My standpoint is only a *possible* one. But I cannot always fly in the air of *possibilities*, I must have morings in some definite form of actuality. I must adopt one standpoint.

6. Conclusion :—Jainism is against all kinds of imperialism in thought. For each community there is a special absolute. But the absolute themselves are alternations so far as they are possibles. But this is only on thought level. But when I have chosen one, it is more than possible, it is existence or actual. So there is a wonderful reconciliation between conditionality and unconditionality. Everythihg is conditional on thought level, but not on the level of existence. Thus there is no real contradiction.

---

15. Kant's *Critioue of Pure Reason*, E. T. by Kemp Smith, PP. 110n. 174n. 315-16, 323-24.

The Conception of Moksa in Jaina Philosophy

Dr. T. G. Kalghatgi
M A., Ph. D,
Reader in Philosophy, Karnatak University, Dharwar

Introduction:—The idea of release of the soul from the wheel of *samsara* was common in Indian philosophy except with the Carvakas. Philosophy was not merely an academic persuit but it had a practical aim of the attainment of *moksa*. The ancient Indians did not stop at the discovery of truth but strove to realize it in their own experiences. They followed up *tattvajnana* by strenuous efforts to attain *moksa* or liberation[1]

But the conception of *moksa* was not in the spirit of the Vedic Aryans, as they were profoundly interested in the happiness in this life. The *Rigveda* asmhitas largely present the invocations of the gods for the promotion of happiness in this life. Awareness of emancipation as such is not patent in the earliest recorded expressions in the Vedas. *Moksa* as a release from the wheel of samsara and in its positive aspect as oneness with the Highest, was becoming gradually clear in the *Upanisads*. In the *Chhandogya Upanisad*, it is still not clear. The *Brhadaranyaka Upanisad* describes the release as freedom from death day or night, of waxing and waning of the moon.[2] In the later *Upanisads* like the *Maitrayani* we find new ideas 'jolting against old ones'[3]

It is therefore possible to say that the conception of *moksa* or release from the bonds of empirical life is primarily pre-Aryan. It was prevalent in India before the Aryans settled here. Indian philosophy is the synthesis of two currents of thought-the Aryan and the pre-Aryan. The Jaina and the Buddhist thoughts were original and pre-Aryan. They were assimilited in the subsequent Hindu philosophy through the *Upanisads*. The dravidian contribution to the development of Indian philosophy was no less

1. Hiriyanna : Outline of Indian Philosophy. pp 18.
2. Brhadaranyaka Upanisads III. i. 3.
3. Encyclopedia of Religion and Ethics. Vol-8. pp 770.

important. The influence of forest life, the emergence of female gads and the conception of '*avatara*' were largely due to the dravadian influence[4]. And so was the conception of *moksa* brought from the pre-Aryan thought and developed in the Upanisads and subsequent philosophy.

Jaina religion is very ancient and pre-Aryan. It prevailed even before *Parsva* and *Vardhamana*, the last two *tirthankaras*. The *Yajurvada* mentions *Risabha*, *Ajita* and *Aristanemi* as *tirthankraras*. Jainism reflects the cosmology and anthropology of a much older pre-Aryan upper class of North-Eastern India[5]. Jacobi has traced jainism to early primitive currents of metaphysical speculation.[6].

II. The Jains' conception of moksa : For a Jaina, the highest ideal is *moksa*, freedom from the wheel of samsara. It is to be attained through right intuition, right knowledge and right conduct.[7].

The idea of the soul has occupied an important position in Jaina philosophy. The existence of the soul is a presupposition and proofs are not necessary. From the noumenal point of view (niscaya naya), the soul is pure and perfect. It is pure consciousness. It is characterised by *upayoga*, the psychic force which may be translated as horme. It is simple and formless. It has the tendency to go upwards.[8]. *Pancastikayasara* describes the *atman* as the agent of its own *bhavas*.[9]. As a potter considers himself as a maker and enjoyer of clay pot, so, from the practical point of view, the mundane soul is said to be the doer and enjoyer of sense objects.[10].

Due to the activity, the soul gets entangled in the wheel of samsara. This process of entanglement is beginningless but has an end. The soul gets entangled in the samsara and embodied

4. History of Philosophy (Eastern) : edt. Radhakrisnan : ch. I.
5. Zimmer (H); Philosophies of India. Vol. I, p. 287
6. Jacobi (Hermann) : Studies in Jainism.
7. Tattvarta-sutra. I. i.
8. Dravyasamgraha. 8, 9.
9. Pancastikayasara. 6. 28.
10. ibid 27, and Samayasara, 124.

through the operation of karma. It gets various forms due to the materially caused conditions (upadhi), and is involved in the cycle of birth and death.

But the Jainas believe in the inherent capacity of the soul for self-realization. The deliverance of the soul from this wheel of *samsara* is possible by voluntary efforts on the part of the individuals. The veil of *karma* has to be removed. This is possible when the individual soul makes efforts to stop the influx of *karma* by (*samvara*) and remove the accumulated *karma* by nirjara. When all the obstacles are removed the soul becomes pure and perfect and free from the wheel samsara. Being free, with its upward motion, it attains liberation or *moksa*.

However, the journey of the soul to freedom is long and arduous, because the removal of karma involves a long moral and spiritual discipline. The journey has to be through fourteen stages of self-realization called *ganasthana*. The soul has gradually to remove the five conditions of bondage-*mithyatav* (perversity), *avirata* (lack of control), *pramada* (spiritual inertia), kasaya (passion) and triyoga (threefold activity of body, speech and mind). In the highest stage of spiritual realization, the soul reaches the stage of perfection and omniscience. This is the consummation of the struggle.

Radhakrishnan says that it is not possible to give a positive description of the liberated soul. The state of perfection is passively described as freedom from action and desires, a stage of utter and absolute quiscence. [11]. It is a state of unaffected peace since energy of past karma is extinguished. In this state, the soul is 'itself' and no other. It is the perfect liberation. Zimmer says that, after its piligrimage of innumerable existences in the various inferior stratifications, the life monad rises to the cranial zone of the microscopic being, purged of the weight of the subtle karmic particles that formerly held it down. Nothing can happen to it any more; for it has put aside the traits of igonrance, those heavy veils of individuality that are the precipitating causes of biographical events. 'In the higher stage of perfection, the individuality, the masks, the formal personal features are destilled away. "Sterilized of colouring, flavour and weight, the

---

11. Radhakrishnan (S) : Indian Philosophy. Vol I. pp. 333.

sublime crystals now are absolutely pure-like the drops of rain that descend from a clear sky, tasteless and emasculate".[12].

This state is the *siddha* state. The liberated soul has no empirical adjuncts. It is neither long nor small, nor black nor blue, nor bitter nor pungent. It is without body and without rebirth. He perceives all and he knows. There is no analogy to describe the condition of the liberated soul. It is difficult to give a positive description of the freed soul. It is the state in which there is freedom from action and desire, a state of rest, a passionless inaffable peace. However in terms of positive description, we are told that the liberated state has infinite consciousness pure understanding, absolute freedom and enternal bliss. [13]. It lives in this state for eternity. The freed soul has beginning but no end, while the soul in the *samsara* has no beginning but an end of that state in its freedom. From the noumenal point of view the freed soul is the absolutely unconditioned [15]. It is beyond the causality. [16]

It is difficult to give a clear and graphic description of the liberated soul, as language is an inadequate instrument for such description. Attempts have, therefore, been made in various ways to present a picture of the state of moksa in different systems in Indian philosophy. The buddhist have been inclined to give a negative description as the extinction of every trace of individuality. It is state of nothingness. But, some Buddhists have repudiated the negative conception of the liberated state, *nirvana*. The Madhyamikkas consider this stage as inexpressible. *Nirvana* is not an end (bhava) or abhava (nonens). It is abandonment of all such considerations of the real. The Madhyamika conception of *nirvana* comes very close to the Advaita notion of mukti as *Brahmabhava Nirvana* is the transcendent life of the spirit [17] But *moksa*, according to the Advaita, is the absotutely uncoditioned and is characterised by infinite bliss. But for Madhyamika, *nirvana* is inexpressible and cannot be identified with the Good or Bliss.

12. Zimmer (HO) : Philosophies of India. pp. 260.
13. S. BE. xxii p 54.
14. Pancastikayasara. 36
15. ibid 176.
16. Dravyasamgraha. 39-40.
17. Murti. (T. R. V.) : The Central Philosphy of Buddis m. pp. 275.

According to the Naiyayikas, *moksa* is a state of pure existence to which a liberated soul attains and is compared to a dreamless sleep. The critic feels that the *moksa* of the Naiyayikas is a word without meaning Sleep without dream is a state of torpor, and we may as well say that a stone is enjoying supreme felicity in a sound sleep without disturbing dreams. [18] For the Samkhya, salvation is phenomenal as bondage does not belong to the *purusa*. When *purusa* is free from the defilement of *prakriti*, it passes beyond the bondage of the *gunas* and shines forth in its pure intelligence. There is no bliss nor happiness in the state of *mukti* as all feeling belongs to *prakriti*. Jaimini and Sabara did not face the problem of ultimate release. For Prabhakara, *moksa* is a state in which there is absolute cessation of all *dharmas*. It is a simple natural form of the soul. Kumarila states that it is a state of *atman* in itself free from all pain. Some refer it as a bliss of *atman*. For Samkara *moksa* is a state of direct realization of something which existed from eternity. When the limitations are removed the soul is liberated. It is the state of absolute peace and eternal bliss. When *avidya* vanishes, the true soul stands self-revealed, free from the impurities, as the star shines in a cloudless night. [19] The nature of the liberated soul is a state of oneness with Brahman. [20] *Moksa* is described negatively as the state of freedom where there is neither day nor night, where the stream of time has stopped and where the sun and the stars are no longer seen. [21]

The state of perfection or *moksa* need not be attained only after shedding off this bodily existence. It is possible to attain such a state in this life only. The conception of Jivanmukta has, therefore, played an important part in the ancient thought. Samkara admits the possibility of *kramamukti* (gradual liberation.) He says that the meditation of '*aum*' leads one to the *brahmaloka* where one gradually attains perfect knowledge. [22] He also admits the possibility of perfection and freedom from pain even in this life. As the potter's wheel continues for a time to revolve even after the vessel has been completed, so also life continues even

18. Radhakrishnan (S): Indian Philosophy. Vol. II. pp152
19. Samkara's Bhasya. I. i. 4 and I. 3. 19.
20. ibid.
21 ibid I. 39.
22. ibid I. 39, 2.13

after liberation for some time. In this stage the perfect being does not acquire new *karma*. The Buddhists have also made a distinction between *upadhisesa nirvana* and *anupadhisesa nirvana*. The former comes nearer to the conception of *jivanmukti*. Similarly the distinction corresponds to *nirvana* and *parinirvana*. In the state of *upadhisesa nirvana*, there is the total cessation of ignorance and of passions, though the body and the mind continue to function but without passions. [23] This state corresponds to the *jivanmukti* of Samkhya and the Vedanta. The Buddha after his enlightenment is a representative example. The Mahayanists added one more type of *nirvana* in '*apratisthita nirvana*', the state of *Bodhisattva* who does not accept the final release although he is entitled for it. He decides to serve humanity out of compassion.

According to the Jainas, in the thirteenth stage of *gunasthana* called '*sayoga kevali*' all the passions and the four types of *ghati karmas* are destroyed. One is free from the bondage of *mithyatva*, pramad and passions. However, it is not free from *yoga* and empirical activity and is still not free from embodied existence, as the four types of non-obscuring *karma*, like *vedaniya* which produces feeling, *ayu* which determines the span of life, *nama* determining the physical structure and the *gotra* responsible for one's status in life, are still operating. One is not free from bodily existence, because the *ayu karma* is still to be exhausted. But there is no influx of *karma*. In this stage we find omniscient beings like the *tirthankaras*, the *ganadharavas* and the *samanya kevalins*. They attain the enlightenment, but still live in this world, preaching the truth that they have seen. This stage may be compared to the *jivanmukti* described by the Samkhya and Vedanta systems of thought. It is like the *upadhisesa nirvana* of the Buddhists. It may also be likened to the 'apratisthita nirvana' of the Mahayanists. Such a perfect being may appear to be active in this world in many ways, yet, at root, he is inactive. He is like a man assisting a magician in a magical show, knowing that all that is shown is merely an illusion of the senses. He is unaffected by all that happens. [24] When Gautam, the Buddha attained enlightenment, he wanted his enlightenment

23. Madhyamika Karika Vrtti. pp. 519.

24. Vedantasara. 219.

not to be known to others. But Brahma inspired the Buddha to be the teacher of mankind. This is the stage of *sayoga kevalin* or *jivanmukta* so did the *tirthankaras*, *ganadharas* and *samanya kevalins* preach the sublime knowledge to the people of this world. Zimmer compares this attitude of the *kevalins* to the functicn of a lamp. Just as the lamp lights the room and still remains unconcerned with the what is going on in the room, so the self enacts the role of 'lighting the phenomenal expersonality solely for the maintenance of the body, not for persuit of any good, any gratification of the sense or any kindly goal.,[25]

In the fourteenth stage of *gunasthana* called *ayoga kevali*, the self has attained peaceful perfection. The influx of *karma* is completely stopped and the self is freed from all karmic dust[26]. This state lasts only for a period of time required to pronounce five syllables. At the end of this period the soul attains disembodied liberation. Being now free, with its upward motion the soul attains the liberation or *moksa*.

The liberated souls live in perfect peace and purity in 'siddhasila' which is the abode of the omniscient souls. In the *Tiloyapannatti* we get the description of the *siddha sila*, which is also called the *moksasthana* or *nirvanasthana*. These freed souls enjoy 'a kind of interpenetrating existence on account of their oneness of status. Their soul substance has a special power by which an infinity of souls could exist without mutual exclusion. The identity of the saved is determined by the living rhythm retaining the form of the last physical life and by the knowledge of the past.'[27]

The pure and perfect souls live in enternal bliss. But they do not lose their identity as the *Vedantin* would emphasise. In the *eighth khanda* of the *Chhandogya Upanisad*, it is said that when a man departs hence his speech is merged in ind, his breath in fire which in the highest being is *sat*. In the eleventh khanda also we read that when the body withers and dies and the living self leaves it, the living self dies not. Jacobi says that here we come nearer to the concept of the soul. It differs from

25. Zimmer (H) : Philosophies of India. pp. 446.
26. Gommatasara : Jivakanda.
27. Radhakrishnan (S) : Indian Philosophy. Vol. I. pp. 333.

the Jaina concept in that the soul, here, does not possess a permanent personality, for in *mukti* the *jiva* is merged in *Brahman* and its individuality lost. For the Jaina, the souls live in their eternal existences without losing their indentity, Mctaggart's analogy of 'College of Selves' would appear to be apter, although what type of spiritual unity there is in *moksa* Jainism cannot say. McTaggart speaks of the unity of the Absolute as that of a society. All the selves are perfect, and 'if an opponent should remind me of the imperfections of all the lives of all of us, I should point that every self is in reality enternal ...' [28]. The conception of the liberated seul and the abode of the souls in *siddhshila* where they live with all their identity, is a logical possibility and psychologically significant.

---

28. Prinle-Pattison (A, Seth) : Idea of God 2nd edt. XX. pp. 391.

The Life of the Upper Classes in the Earliest Jain Literature

Dr. G. C. Pande, M. A., D. Phil, Jaipur.

The earliest Jinist texts are so exclusively occupied with the life of the ascetic that it is impossible to glean from them any considerable information regarding secular culture. There is also the additional difficulty that infromation about secular society is fuller in those parts of the canon which abound in myths and legends of a very uncertain chronological position.

Consequently to build a composite picture of society by utilizing all the infromation scattered in the Jinist canon[1] would hardly be a permissible procedure; it may give us a picture not true of any particular time or place. It must be remembered that the Jinist canon took its present shape in the period from c 300 B.C. to the fifth century A.D., a period of much political, and hence probably much social change.

Further, the main centre of the Jinist Community shifted during this formative period of the canon from Magadha westwards. It must also be remembered that to adhere to old ideas unchanged is not inconsistent with setting them in a narrative context which draws its social fromework from the present. On account of these facts it is likely that in the case of some texts atleast of the Jinist canon the social infromation supplied incidentally belongs to a different age and region than Magadha and the area there about in the 6th century B.C. In what follows, therefore, only the earliest group of texts in the Jinist canon is utilized.[2] In conjunction with that to be found in the Buddhist canon the available political data have already been utilized by scholars like Jacobi, Charpentier, V.A. Smith and Ray

---

1. As for example in Dr. J.C. Jain. Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons (Bombay 1947)
2. For the texts, see the author's 'Studies in the Origin of Buddhism' (Allahabad 1957) pp 567H. Dr. B.C. Law's 'India as Described in Early Texts of Buddhism and Jainism' does not really utilize early Jain Texts.

Chaudhury. It may be noted that the Bhagavati, like the Anguttara, offers a list of sixteen Janapadas. The two lists differ considerably, although all the names in the Jinist list are not clear. The same work also infroms us that the mother of Mrgavati Devi, was the daughter of Cetaka. If this Cetaka was the same as the uncle of Mahavira, it would follow that Ajatasatru and Udayana were cousins.

It is apparent that N. India at least was at this time divided into a number of states, monarchical and oligarchical. And although complicated marriage relations existed between many of the leading royal and noble families, that did not prevent the occurrence of wars of ambition. At their root, it may be surmised, apart from ostensible causes, lay the imperialist political ideals held up before the monarchs by Brahmana thinkers. When Nami, the royal sage (Rayarisi), prepares to renounce the world, Indra comes to him in the guise of a Brahmana. Among the many temptations he holds forth is that of political power - "Je kei patthiva tujjham nanamanti narahiva ! Vase te thavayittanam tao gacehasi Khattiya !!" (Uttarajjhayana, IX, 32). That the Brahmanas systematically framed such bellicose ideals for the king is amply confirmed by a perusal of later Vedic literature. The Horse-sacrifice, originally perhaps a popular solar fertility-rite was worked up into a veritable challenge thrown out for universal dominion. And the history of the times shows that such advice did not go unheeded. It is, of course, quite possible to argue that the Brahmanas were not so much the prime movers in this growing chauvinistic idealogy, which passing through an Epic-phase reached its climax in the Arthasastra, as merely the willing intellectual instruments of greedy royal ambition. Even so a heavy responsibility devolves upon them. Economic dependence was most probably the cause of this cooperation of the priest with the king. In this respect the Jinists were as much "protestants" as the Buddhists who evolved a complete counter theory of royal functions, a theory which received active expression at the hands of the most famous sovereign of ancient India. The Jainas were at this date content to condemn war as merely a great killing and offering the same panacea of "far from the madding crowd".

The kings, however, were not mere leaders of war; like the European despots of the "Aufklarung" they were also keenly interested in contemporary thought ferments. They patronized

renowned teachers, held "symposia" and occasionally themselves attained fame as Masters. The testimony of the Upanisads and the Nikayas receives support in this respect from the Jinist canon. Uttarajjahayana XX narrates the earnest conversation and the consequent conversion of king Seniya of Magadha. His son Ajatasatru and grandson Udayin are also supposed to have belonged to the Jinist fold, although that did not prevent Ajatasatru from listening to the teachers of other faiths. Mahavira and Parsva themselves belonged to the ruling class. Indeed, the Kalpasutra lays how the dogma that Arahantas, Cakkavattis and Baladevas could not be born among the Antakulas, Panta,° Tuccha,° Daridra,° Kivina,° Bhikkhaga,° and Mahana,° they could not be born among Ugga,° Bhoga,° Rainna,° Ikkhaga,° Khattiya,° Harivamsa or similar "Visuddha jai-Kulavamsesu". King Nami of Mithila is described as a "Rayarisi". (It may be noted that the verse fragment "Mihilse dajjhamanie na me dajjhai kimcana", ascribed to Nami in the Uttarajjhayana, is in the Mahabharata ascribed to Janaka, who, like the former belonged to Mithila and is reputed to have been a philosopher king. According to later tradition Nimi was an ancestor of Janaka. May it not be that Nami and Janaka are but two legendary variants of the same historical figure?). Uttarjjhayana XVIII gives a long list of other kings who similarly became great spiritual figures. The historicity, however, of these kings is quite uncertain and more so is their chronology. The same difficulty besets some other Jinists tales about rulers comes with spiritual attainments. So much, however, clearly comes out that according to the Jinists the Khattiyas took a prominent part in the origin and spread of their doctrines.

The Khattiyas thus appear to have formed a proud aristocracy, affluent and warlike, though interested in the arts of peace. The occupations regarded befitting the dignity of a Kulaputta were Mudda, Ganana, Sankhana, Kasi, Vanijja, Gorakkha, Issattaha or service as Rajaporisa.[3] On Ganas the Ganaka moggalanas, in the Majj-N. is infromative. Hunting with bows and troops of dogs was one of the pastimes with the nobility.[4]

The Barhmanas appear as another proud class, and had the efficacy of sacrifice and caste-purism as their central beliefs.

3. Najjhima Nikaya, P.T.S. Ed. I p. 85.

4. cf. Ang. N. iii. 75.

We know, of course, from Buddhist texts that all Brahmanas were not priests,: some of them were engaged in administration, some were landlords and yet others were petty cultivators, and lowly serfs. In the life of the poorer strata the bigger Strata sacrifices must have played but a small part. For them the essence of their faith must have consisted in the performance of a time-worn ritual which, if we are to trust the Dharma Sutras, appears to have been woven into the very fabric of their daily life. On this domestic ritual the earliest Jinist texts are quite silent. Apparently their hostility to it was not of the same order as that to srauta sacrifices. And in any case it would have been more difficult to fight.

The Gahavais formed another important element in society. The Uvasagadasao gives us a glimpse into the life of wealthy merchants and craftsmen. The description, it is true, are conventionalized, and rigorously speaking, of uncertain date. But apart from exaggeration, the mian features present no inconsistency with what we know of the sixth century B.C.

The Setthi-banker - and the Satthavaha - the trader - are placed alongside "Raisaratalavaramadambiyakodumbiya".[1] The antiquity of the terms Talavara and Madambiya may be questioned. But, as Fick has pointed out on Buddhist evidence, it is likely that the Setthi had a quasi-official status. That the kings should have attached a special importance to the wishes and opinions of powerful vested interests is, in any case, believable on general probability alone.

According to the formula for describing a Gahavai's wealth, he appears to have divided it between Nihana (hoarding?), Vaddhi (lending), Pavitthara (investment in real estate ?) and maintaining Vayas (herds of catlle). The last two items seem to suggest the important conclusion that the rich man of the town had not yet severed his connections with land. This is also suggested by the fact that the Gahavai is warned to avoid "Khetthavatthupamanaikkame" and "Khettavoddhi".[2]

If the account of Saddalaputta is to be trusted veritable industrial magnates were not wanting. Of the modes of paying labour a distinction seems to be implied between Bhai-Bhatta and

1. Voasagadosas Ed. Vaidya, p-5.
2. Uvasaga p. 10-11.

Veyana. The silence of our texts about the guilds is, however, curious. Is it because the Jinists did not receive many lay disciples in that quarter ?

Trading along oceanic ways is also referred to. In Uttarajjhayana XXI a merchant goes to Pihumda from Campa in a ship.

The wealthy, however, appears to have lived under the terror of the law of escheat, for the Azaramigamtta 1. 2. 3. states "Dayada vibhamti adattaharo va se avaharai, rayno va se vilumpanti". The Sainyutta Nikaya (Kosala Sam.) shows us the law in operation.

The life of a rich devaneuppiya is thus described "Annam Annakale panam panakale vattham vatthakle leanm kale sayanam ......sapuvvaparam ca nam nhaye kanthe malakade aviddhamanisuvanne......candanovakhittagayasarire ...uraeaim manussagaim bhogabhogaim bhunjamane...".[1]

A life of extreme luaury indeed ! Of any serious pursuit or interest in higher culture there is no indication. There is similar picture of the pleasure of the Vesalka Gahapati Vgga which included Salapupphakam, khadaniyam, sampannakalakam sukaramamsam, nibbaddhatelakam naliyasakam, salinam odano... ...; kasikani vatthani, pallank...kadalimigapavarapaccattharanosa-uttaracchado ubhato lohitakupadhano......[2]

Although Buddhist texts too describe wealthy merchants as solicitious about the needs of the Church and as following the lay discipline, it is only the Jinists texts which seem to raise them to the dignity of Uvasagas par excellence. This is quite in harmony with the later relations of the Jinist faith with the marchant community. It may indicate that this close relationship held from the beginning; but it may equally well indicate that texts like the Uvasagadasao are, in their present shape at least, quite late.

---

1. Steyagadaingo, II. 2-17.

2. Angutlaranikaya, III. 49-50.

The Concept of self and the various expressions of the ethical ideal in Jainism

Dr. Kamal Chand Sogani, M. A. Ph. D.
Lecturer, Govt. College, Sri-Ganganagar

The problem of self is the most fundamental problem in the domain of philosophy. Since the dawn of philosophical speculation down to the present time it has vexed, by virtue of its inherent abstruseness, the greatest of the philosophers and led them to formulate different conceptions consistent with the metaphysical outlook upheld by them. With Jainism though the probing into the nature of self is not a new enterprise, the special point of the Jaina view consists in substantiating the notion of self without blinking the loftiest mystical heights on the one hand and without condemning the unabstracted experience as sheer illusion on the, other. The self, as an[1] ontologically underived fact, is one of the six substances subsisting independently of anything else. The experience of knowing, feeling[2] and willing[3] undeniably proves the existence of self. The Kartikeyanupreksa recognises that the self is to be regarded as possessing supreme significance among the substances and as having the highest value among the Tattvas.[4] It is the repository of excellent characteristics[5]. It is the internal Tattva. It is to be distinguished from the other substances which are merely external since they are without any knowledge of things to be renounced and accepted[6]. Kundakunda in the Pravacanasara calls it Maha Artha (a great objectivity[7]). It is neither merely an immutable principle as advocated by the Vedanta, the Samkhya Yoga. and the Nyaya-Vaisesika, nor merely a momentarily tarnsmutable series of psychical states as recognised by the Buddhist. But, according to the Jaina, it is the synthesis of permanence and change. Consciousness, according to him, is its essential and distinguishing feature. The Jaina, therefore, differs from the Nyaya-Vaisesika and the Purva-Mimamsa which regard consciousness as an adventitious attribute, as also from the Carvaka which envisages consciousness as an epiphenomenon of

---

1. Acaranga 1.1.5 p. 50. 2. Karti 183. 3. Karti 184. 4. Karti 204, 5. Ibid, 6 Karti 205. 7. Prava. II. 150.

matter, something like the inebriating power emerged from the mixing of certain ingredients. The systems of thought like the Samkhya-Yoga and the Vedanta of Samkara and Ramanuja betray a fair resemblance to the consideration of the Jaina that consciousness is intrinsically associated with the self.

In the Jaina writings we are confronted with the conception of self as variously dealt with. We may comprise these various ways under two objective points of view. First, there is the transcendental view which represents the nature of self in its unadulterated state of existence, and secondly, there is the empirical view which describes the nature of self in its corrupted form. At present we propose to discuss the nature of self from the empirical stand-point. We postpone the discussion from the transcendetal view to a later stage.

Nature of Empirical self : First, the empirical self has been in a state of transmigration since an indeterminable past. It is on this account contended that the self originates and decays. But this is valid only from the Paryayarthika point of view and not from the Dravyarthika one which lays down indestructibility an Unproductivity of the self[1]. Secondly, the empirical self is in the possession of non-essential Vyanjanaparyaya and non-essential Arthaparyaya. It illumines the whole of the body by pervading in it, just as the lotus-hued ruby illumines the cup of milk[2]. Thirdly, the empirical self is considered by the Jaina as the doer of evil and good actions. Fourthly, it is also the enjoyer. To sum up, the empirical self is bound by Karmas from an indefinite past, is the enjoyer of the self-performed good and bad actions is the knower and the seer, and is associated with the triple nature of origination descruction and continuance. Besides, it possesses the narrowing and dilating characteristics, extends up to the limit of bodily dimentions and owns its specific characteristics, of knowledge bliss etc.[3] It may be noted here that Jainism recognises the metaphysical reality of infinite selves. We may point out in passing that the relation between the empirical self and transcendental one is one of identity-cum-difference, i. e. there is metaphysical identity between the two states (empirical and superempirical) of the same self, but the difference is also undeniable in respect of

1. Prava. II-20, 22, Panca. 17, 18. and Comm. Jayasena.
2. Panca. 33.
3. Siddha. Bhakti. 2.

the Upadhis which have been persisting since an infinite past. The empirical self is potentially transcendental, though this noumenal state of existence is not actualised at present; hence the distinction is incontrovertible.

Empirical classification of selves.

One-sensed empirical selves : The empirical self is recognised by the Pranas it owns. The minimum number of Pranas possessed by the empirical self is four (one sense, one Bala, life-limit and breathing), and the maximum number is ten, (five senses, three Balas, life limit, and breathing). However encumbered by the cruel matter a self may be, it cannot obstruct the manifestation of consciousness to the full, just as even the most dense cloud cannot interrupt the light of the sun to its farthest extreme. The lowest in the grade of existence are the one-sensed Jivas. They possess four Pranas, To make it clear, of the five senses, namely the sense of touch, taste, smell, colour and sound, the one-sensed Jivas possess only the sense of touch; and of the three Balas, namely, Bala of mind, body and speech, they have only Bala of body, and besides they hold life-limit and breathing. These one-sensed Jivas admit of five-fold classification,[2] namely, earth-bcdied, water-bodied, air-bodied and lastly, vegetable-bodied souls. The recognition of these one-sensed souls is fraught with great difficulty since the four Pranas are not explicitly manifested, just as the Pranas of a man in the State of numbness, or just as the Pranas of a growing soul in the egg of a bird or in the embryonic state cannot be recognised owing to the lack of their explicit manifestation[3],

Two-sensed to five-sensed empirical souls : Having pointed out the various forms of existence of the one-sensed Jivas and the number of Pranas upheld by them, we now proceed to the higher grades of existence. The two-sensed Jivas possess six Pranas, i. e. addition to the four Pranas of one-sensed souls, they have two Pranas more, namely, sense of taste, and Bala of speech; the three-sensed souls have the sense of smell additionally; the four-sensed souls have the sense of colour besides the above; and lastly the five-sensed souls which are mindless are endowed with the sense of hearing in addition, and those with mind possess all the ten

1. Panca, 30, Prava II. 54, 55 and Comm. Amrta.
2. Panca. 110. Sarvartha. II-13.
3. Panca. 113.

Pranas[1]. Thus the number of Pranas possessed by one-sensed to five-sensed souls are four, six, seven, eight, nine and ten respectively. The illustrations of the two-sensed souls are, sea-snail, cowrie shell-fish, conch-shell-fish, earth-worm etc.,[2] of the three-sensed souls are louce, bug, ant[3], etc; of the four-sensed souls are mosquito, fly, bee, beetle, dragon fly, and butter fly[4]; of the five-sensed souls with ten pranas are celestial, hellish & human beings and some subhuman souls[5]; and of the five-sensed souls with nine Pranas are only some sub-human souls[6]. All the diverse mundane souls right up to four-sensed ones are designated as non-rational or mindless (Asanjni), wheres the five-sensed sub-human beings may be rational and non-rational, but the celestial hellish and human beings are necessarily rational[7]. The rational souls may be recognised by the capability of being preached, of receiving instruction, and of voluntary action[8].

Spiritual classification of selves.

Apart from the empirical classification of Selves, Jainism gives us a different classification of Selves from the spiritual point of view. If the former classification refers to the scientific attitude of Jain, the latter refers to his spiritual outlook. The three kinds of self which the Jain recognises from the spiritual stand-point are Bahiratman, Antaratman, and Paramatman.

Bahiratman :—The attitude of Carvaka materialist may very well sum up the meaning of the Bahiratman. The characteristics of the Bahiratman may, in the first place, be accounted for by affirming that he identifies himself with the physical body,[9] wife and children, silver and gold[10] etc. with the logical consequence that he is constantly obsessed with the fear of self-annihilation of

1. Sarvartha. II-14.
2. Panca. 114.
3. Ibid. 115.
4. Ibid. 116.
5. Panca. 117 and Comm, Amrta.
6. Ibid. (In all these references from 4 to 6 translation borrowed from Chakravartis' Pancastikaya).
7. Panca. Comm. Amrta. 117.
8. Comma. Ji. 660.
9. Mo. Pa. 8l Samadhi 7, 13, 69. Karti. 193.
10. Mo. Pa. 10. Samadhi. 11. 14. Jnana XXXII. 17, 21. Pp.-I-83.

the body and the like[1]. Secondly, he remains engaged in the transient pleasures of the senses[2], feels elated in getting the coveted things of the unsubstantial world, and becomes dejected when they depart. Thirdly, he is desirous of getting beautiful body and physical enjoyment in the life hereafter as a result of his penances[3], and is tormented even by the thought of death[4].

(*b*) ***Antaratman.*** First, he is the spiritually converted self[5] who has relinquished the eight kinds of pride[6], and reflects on his own self as his legitimate and genuine abode, disparaging the outward physical dwelling places as unnatural and artificial[7]. Secondly, he renounces all identification with the animate objects like wife, children etc. and inanimate objects like wealth, property etc. and properly weighs them in the balance of his dicsriminative knowledge[8]. Thirdly, by virtue of the sprouting of profound wisdom in him, he develops a unique attitude towards himself and the world around him. His is the only self that has acquired the right of Moksa[9]; consequently he adopts such attitude as is necessary to safeguard his spiritual status and interest. He gets endowed with such type of insight as will enable him to resolutely march for spiritual invasion and then sound the bugle of triumph after defeating the treacherous foes of attachment and aversion assaulting him in his Bahiratman state.

(*c*) *Paramatma.* The Paramatman is the supreme-self, the consummation of aspirant's life, the terminus of his spiritual endeavours. The embodied Paramatman is Arhat, while the disembodied one is Siddha[10]. The Moksa Pahuda proclaims Paramatman as bereft of collyrium, defects, body, senses and as associated with omniscience, and purity[11]. He is free from birth,

1. Jnana. XXXII. 18.
2. Samadhi, 7, 55. PP.-I-84.
3. Samadhi-42.
4. Samadhi. 76.
5. Mo. Pa-5. Karti. 194.
6. Karti-194.

* The eight kinds of pride are—Pride of (1) learning (2) honour (3/ family (4) caste (5) power (6) opulence (7) penance and (8) of body.

7. Samadhi-73. 8. Mo. Pa. 17. 9. Ibid 14.37.
10. Karti. 198. 11. Mo. Pa. 5, 6,

old age, and dealth; he is supreme, pure, and devoid of eight Karmas; he possesses infinite knowledge, intuition, bliss, and potency; and he is indivisible, indestructible, and inexhaustible[1]. Besides, he is supersensuous and unparalleled; is free from bostructions, merit, demerit, and rebirth; and is enternal, steady, and independent[2].

Having dealt with the nature and kinds of self, we now discuss the nature of the ethical ideal, the Summum Bonum of human life. This will also make clear the nature of the transcendental self. Just as the validity of the existence of self is incapable of being impugned, in a similar way, the existence of the highest good is unquestionable. The empirical souls from one-sensed to four-sensed, as also some sub-human five-sensed ones are impotent to reflect on their own good in that state of existence. They are not endowed with that type of understanding which may assist them to absolve themselves from the thraldom of Karman. Such being the overwhelming effect of Karman, their progress to the higher grades cf existence is decided by 'time'. But the human souls, being possessed of mind, can ponder over the objective to be aimed at for their beneficence and can achieve the highest good. The possibility of the realisation of the supreme good is the possibility of a free, sacred, im mortal, human life which ends the transmigratory existence and its attendant evils. The Tirthankaras are the concrete examples of such achievement

In the ethico-religo philosophical works of the Jainas the highest good is diversely formulated. Being fed up with the kaleidoscopic transformations of the world, the Jaina Acharyas have dived deep into the inner hidden regions of the human spirit, and have expressed the highest good in different ways. But it may be noted here that all the formulations of the highest good convey identical meaning.

Liberation as the ethical ideal : First, deliverance of the self is deemed to be the highest good. Every human being ought to render strenuous efforts to seek his own salvation from the miseries of the world. All the systems of Indian philosophy with the solitary exception of Charvaka acquiesce in recognising liberation as the ethical ideal, though they differ in the nature of realisation. From the view-point of Jaina, it is not the identification of self with

1. Niyama-176. 2. Ibid.177.

the Braham, as contemplated by the Vedantin, but it is the attiainment of Siddhahood, wherein self-individuation is sustained. In the state of final liberation the empirical self is metamorphosed into transcendental, permanent existence[1]. Again, having totally annihilated the eight types of Karman, and having experinced the supersensuous bliss that passes understanding, the empirical self becomes completely bereft of any collyrium that may again cause bondage, and as such abides at the summit of the world without having abandoned anything to be accomplished[2].

Paramatman as the Summum Bonum. Secondly, the ideal is also described as the attainment of Paramatman after passing through the state of Antartman and renouncing the state of Bahiratman[3]. These three states of the same self may very well be compared with the three types of attitudes as recognised by Dr. Caird, "Man looks outward before he looks inward; and he looks inward before he looks upward"[4]. The Bahirtman sees outward; when it becomes Antartman, it sees inward and when it becomes Paramatman, it sees upward. Thus realisation of the Paramtman amounts to the realization of the highest good. Kundakunda, Yogindu and Pujyapada, the great proponents of the Jaina thought converge on this point. They frequently speak of the realisation of Paramatman as the highest good. Here a word of caution is necessary, The words Paramatman and Brahman are used synonymously in the Jaina philosophical texts, but they should not be confused with the Upanisadic Brahman which is the ccsmic principle. The Jaina gives credence to the existence of infinite Brahmans; i.e. Paramatman-which are the consumatory stages of spiritual evolution of the indi viduals existent in their own right. Soul and God according to the Jainism are identical, in as much as they are the two stages of the same entity. Thus every soul is potentially divine, and the manifestation of divinity is called Paramatmanhood. If this connection im plicit in the Jaina view of Paramatmanhood is not conceded that constitute a virtual abandonment of the cotological pluralism of selves which it champions. Though Brahman of the Upanisada and

1. Gomma.Ji. 68.
2. Ibid.
3. Mo. Pa. 7.
4. Evolution of Religion. II. 2. (vide Ranade, constructive survey of Upaṇsadic philosophy. P. 247.)

Brahman of the Jains exhibit may resemblances, yet they differ enormously. In laying stress on this conception of Paramatman as the Summum Bonum, the goal of all human pursuance, we are committed to the view that the religious ideal and ethical ideal coalesce. The spiritual values and the ethical values are identical.

Niscaya Naya as the ethical ideal: *Transcendental experience transcends the conceptual points of view whether Niscaya or Vyavahara.* Thirdly, we encounter a different mode of expressing the ethical ideal. The Jainas in order to expound this speak in the language of Nayas. Kundakunda, the outstanding ethico-religious philosopher of the first century A.D. is conspicuous for using Nis caya Naya (Transcendental view) and Vyavahara Naya (empirical view) as the language of spiritualism to make out the ethical ideal. The Niscaya Naya which grasps the soul in its undefiled state of existence may very well serve as the ethical ideal to be achieved in contradistinction to the Vyavahara Naya which describes the self as bound, impure, and the like. No doubt, we are in the corrupt form of existence from beginning less past, but the Niscaya Naya reminds us of our spiritual magnificence and glory. It prompts the sullied self to behold its spiritual heritage. It endeavoures to infuse and instill in our minds the imperativeness of Suddha Bhavas after abundantly showing us the empirical aud evanescent character of Subha and Asubha Bhavas that bind the soul to mundane existence. It does not assert that the soul is at present purfect but simply affirms that the self ought to attain the height illumined by it. It has the force of 'ought' and not of 'is', but this force is valid for empirical selves[1] In the opening chapter of the Semayasara Kundakunda summarises the implication of the aforementioned two Nayas by saying that every self has heard, observed and personally experienced about the worldly enjoyments and the consequential bondage, but the nature of the highest self has never been comprehended. Hence the former is Vyavaharanya, while the latter is called Niscayanaya, as pointing to the potentiality of the empirical self to become pure and enjoy its unalloyed status. It is therefore averred that when the self has elevated itself to the domain of spritual experience, the Vyavahara Naya becomes false and Niscaya

1. Samaya. 4.
2. Sama. 144.

Naya seems to be genuine. In other words, we achieve the right to renounce the Vyavahara Naya only when we have accompalished the loftiest height of mystical experience. If we relinquish the Vyavahara Naya as untruthful at a low stage, Punya and Papa, bondage, and the necessity to do strenuous effort to achieve liberation would be of no avail. It may be noted here that the falsity of the Vyavahara Naya neither affects the existence of objects nor the omniscience of the transcendental self which reflects the differences of the world as they are. In explaining the nature of the ethical ideal in terms of Naya, Kundakunda advances a step further and affirms that the transcendental experience surpasses all the conceptual points of view whether Niscaya or Vyavahara.[3] The former represents the self as unbound and as untouched by Karmas, while the latter, as bound and touched by them, but he who transcends these verbal points of veiw is catled Samayasara,[3] the goal to be achieved. The self becomes pure consciousness, bliss and knowledge.

It may be noted here that like the Paramartha and Vyavahara Nayas enunciated by Kundakunda, Samkaracarya, the great exponent of the Advaita doctrine makes use of the Parmarthika and Vyavaharika view points as the corner stones of his Philosophy. But the two differ widely. The Paramarthika view as advocated by Samkara negates the Paramarthika existence of other material and non-material objects of the world which, in view of the Jaina, have their own independet existance. The Vyavahara Naya of the Jainas simply points to our slumbering state in the domain of spiritualism, and does not in the least touch the existential aspect of things. The Niscaya or Paramartha Naya simply serves to awaken the slumbering soul to attain its spiritual heritage. It does not pretend to annul the external things by mere spiritual outlook.

Sva Samaya as the transcendent objective. Fourthly, there is witnessed a different expression of the Summum Bonum. 'Sva-Samaya' is the sublime ideal to be aimed at, it is the transcendent objective to be achieved. The self which is absorbed in the mundane modifications referring to the four Kinds of transmigratory existence and which dose not believe that the substance is self-evident and self-existent is 'Parasamaya', and that which is self-established is 'Sva-Samaya'.[1] The interminable stay of the self in Darsna (in-

3. Ibid. 141, 142.

tuition), Jhana (knowledge), and Caritra (conduct) also explains the implication of the term Sya-Samaya, and thus allows to discriminate it from Para-Samaya wherein the self identifies itself with body and foreign psychical states of attachment and aversion and the like.[1] In other words, Sva-Samaya nonconceptual state of existence, the state in which all differentiations caused by the infinite characteristics disappear. It is the Advaita state of existence. The Tattvanusasana elucidates Advaita by pointing out that the recognition of the soul as associated with something other is duality while non-duality is realised by those who see their own self quite unttached to anything whatsoever[3] But this Advaita of Jainism should be trenchantly distinguished from the Advaita of Vedanta, wherein everything disappear except the Brahman. The contention of the Jaina is that the existence of other substances is incapable of counteracting the mystical experience of the self; only the self must not experience conceptual duality or the plurality of infinite characteristics inherent in it. The self submerges in itself after transcending all conceptual differences of infinite attributes in the domain of the spirit. It is an experiential intuitive mystical state and so escapes and eludes our conceptual discussions. Thus Jainism has arrived at the conception of Advaita, though not of the Vedantic type, by proceeding from a different side and acknowledging a different conception of reality.

Suddha Upayoga as the goal. The self synchronically realises omniscience and happiness which are its congnitive and affective potencies respectively. Fifthly, the attainment of Suddhopayoga is the goal of human pursuance. We have seen that conciousness is the discriminative characteristic of the soul. It manifests itself in Upayoga which follows from consciousness as the conclusion from the premises. The Upayoga is of three kinds, namely, Subha (auspicious), Asubha (Inauspicious) and Sudha (pure). The self is said to possess auspicious Upayoga when it is obserbed in the performance of meritorious deeds of moral and spiritual nature. Hence the self acquires celestial births which, it may be noted, are also a part and parcal of worldly career. Besides, when the self entangles itself in demeritorious actions of violence, sexual pleasure, and the

1. Parva. 11. 2, 6.
2. Samaya. 2.
3. Tattvanusasana. 177.

like, it is said to possess inauspicious Upayoga. Hence the self is led to the sub-human and hellish births. Both these auspicious and inauspicious Upayogas result on account of the Karmic upadhis, and these Upayogas will again continue to captivate the self in the never-ending wheel of misery. Consequently, the attainment of these two Upayogas can never function as the Summum Bonum of human life. The Jaina, therefore, makes an explicit pronouncement that so long as the self is mated with these two types of Upayoga, it will be unfruitfully dissipating its energies in the pursuit of vain mirages, and so the highest good will ever remain shrouded in mystery. But as soon as the self parts company with these auspicious and inauspicious Upayogas, it joins hands with Suddha Upayoga. In other words, the exeprience of Suddha Upayoga automatically obliges the Asuddha (Subha and Asubha) to disappear with the consequence that the transmigratory character of the self in totality. Spiritually considering, we may say that both the impure Upayogas in the form of virtue and vice prevent the soul from attaining to the loftiest mystical heights, hence they should be equally condemned as unwholesome for the healthiest development of the spirit. But if the empirical self finds that it is difficult to rise to mystical heights, it should perform auspicious activities so as to achieve at least heavenly happiness but with the clear knowledge that these performances however intensely and ceaselessly conducted will in no way enable it to relish the pure Upayoga. The inauspicious activities should by all means be disapprobated, inasmuch as they will pave the way for thousands of heart-rending miseries. The pure consciousness which relinquishes the impure Upayogas associated with the empirical consciousness realises omniscience and such happiness as is transcendental, born of the self, supersensuous, incomparable, infinite, and indestructible[1] The transcendental self as the transcendental ideal may also be designated as 'Svayambhu'[1]. To make it clear, it is a state of self-sufficiency which requires no other foreign assistance to sustain itself. It is itself the subject, the object, the means for its achievement, it achieves for itself, destroys the extraneous elements, and is the support of its infinite potencies. Hence the self manifests its original nature by transforming itself into six cases; it is at once the nominative, the accusative, the instrumental, the dative, the ablative, and the locative case respectively[2]. The whole of our

1. Prava. I. 19, 13; Siddha Bhakti. 7. 2. Prava. I. 16.
2. Prava. Comm. Amrta. I-16.

discussion may be summarised by saying that the ideal consists in the full manifestation of the cognitive, the affective and the conative potencies inherent in the soul. We have so far dwelt upon the former two and now we shall turn to the last in brief.

Agency of pure Bhavas as the ideal. Sixthly, the ideal may be expressed in terms of activity. Kundakunda, the prominent exponent of the Jaina spiritualism has bequeathed to us the philosophy of the doer and the deed. He proclaims that in whatever deeds the self may get itself engaged in the world they are not the representatives of the self in its pure, undefiled and transcendental nature. The self in its real nature is not the doer of material Karmas, it is the doer of its own pure states. Even the empirical self is not the doer of material Karmas, it is simply the doer of impure disposition (Asudha Bhavas), by which the material paritcles transform themselves into various Karmas. No substance is capable of doing a thing foreign to its nature. And since these impure dispositions do not pertain to the self in its original nature and are the results of Karmic association, the transcendental self is denied the agency even of these impure dispositions. The denial of the authorship of material Karmas, nay, even of auspicious psychical states points to the supermundane, uncontaminated state of the self. There is no denying the fact that the empirical self has been the doer of impure dispositions since an indeterminable past; so it is the author of these dispositions. If this is not granted, it will make the position of the Jaina indistinguishable from the position of the Samkhy which imputes all actions to the material Buddhi and regards the principle of consciousness as immutable. When the Jaina says that the empirical self is not the agent of impure dispositions, he simply pursuades the empirical self to look behind the Karmic veil. Hence here the chief point of reference is the self in its pure nature. The Jaina reads no contradiction in affirming that the enlightened self which has become familiar with its true nature manifests the pure modes and thereby becomes the substantial agent of those modes and in affirming that the ignorant self because of its erroneous identification with the alien nature develops impure dispositions, and thereby it is called their agent[1]. Just as from gold only golden things can be produced, and from iron only iron things, so in a similar manner the enlightened self produces pure modifications and the ignorant self produces impure[2]

1. Samaya. 128, 129. 2. Ibid. 130, 131.

ones. When the ignorant self becomes enlightened, it starts generating pure modifications without any discongruity. Thus the self is simply the doer of its own states and not the doer of anything else what so ever. The empirical self is the author of impure psychic states on account of its association with the Karmas. But if we advance a step further and reflect transcendentally, we arrive at the inevitable conclusion that the pure self cannot be the author of these impure psychical states because they are foreign to its nature. Thus the transcendental self is the doer of of transcendental Bhavas. Besides it is also their enjoyer. Consequently it may be asserted that the manifestation of the conative potencies is the manifestation of the genuine nature of self which is the same as the realisation of the ideal.

Realisation of Svarupasatta as the terminus of self-development. Seventhly, the ethical ideal may also be expressed in metaphysical terms. The realisation of the self's Svarupasatta, or the manifestation of intrinsic characteristics and modifications of the self, or the expression of the self's original origination, destruction and continuance, is the ethical ideal. No doubt the self is existent, but its existence is mundane and corrupt from beginningless past. The self is not to acquire existence, but what is to be acquired is simply the purity of existence. Dharma, Adharma, Akasa, and Kala are the pure existents. Pudgala in the Anu form is pure and in the Skandha form is impure, but the self exists in defiled state of existence. It is, the empirical state, characterising itself with impure modifications and qualities, and consequently impure origination, destruction, and continuance originate. By its own strenuous efforts transcendental modifications, and qualities, pure origination, destruction and continuance are to be revealed. In this state alone, the self realises its true substantiality. This again is the same as the Siddha state, Paramatmanhood, disembodied liberation, Sva-Samaya etc., hence the metaphysical ideal, the ethical ideal, and the religious ideal are perfectly indentical.

Pandita-Pandita Marana as the ethical Summum Bonum. Eighthly, Jainas proclaim the ideal also in terms of death in order to reveal the nature of the ethical Summum Bonum. According to them the goal of the aspirant's one-pointed endeavour ought to be the attainment of the Pandita-Pandita Marana (sublime death) to the utter exclusion of the Pandita Marana, the Bala-Pandita Marana,

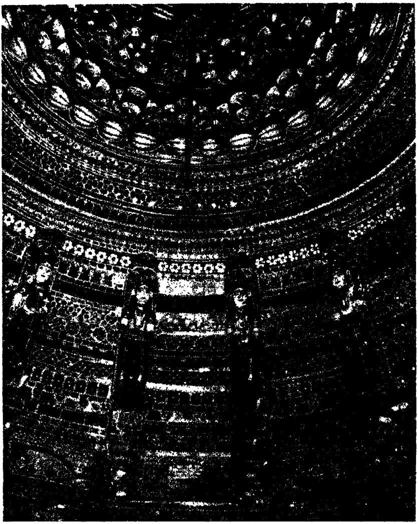
the Bala Marana and the Bala-Bala Marana. These five types of death[1] have been enumerated by keeping in view the different stages of spiritual advancement. The lowest and the detestable kind of death (Bala-Bala Marana) occurs to that man who leads the life of utter perversion[2]. The highest sort of demise (Pandita-Pandita Marana) is examplified in the consummate lives of embodied omniscient beings when they part with their body[3]. Those souls which have crowned themselves with spiritual conversion but have remained incapable of observing partial vows in their life time succumb to Bala-Marana[4]. This is to be distinguished from the Bala-Pandita Marana[5] which is the destiny of those who give themselves to partial vows after being spiritually converted. The saints observing complete vows enjoy the Pandita-Marana[6]. All these types of death except the Pandita-Maran are pregnant with the future possibility of birth; hence they may be designated as empirical deaths. And these are required to be distinguished from the death of the transcendent type or the Pandita-Pandita Marana wherein the mundane life is brushed aside. Thus this latter type of departure is of the happiest kind, and consequently it requires our paramount devotedness. This sort of souls release from bodily confinement appears before us as an illustration of challenge to death. Here the inevitability of death has been properly met with.

Ahimsa as the goal. Ninthly, the ethical highest good also finds its expression in the realisation of perfect Ahimsa. Ahimsa is so central in Jainsim that it may be incontrovertibly called the beginning and the end of Jaina religion. The statement of Samantabhadra that Ahimsa of all living beings is equivalent to the realisation of Parma-Brahma sheds on light the paramount character of Ahimsa.[7] The whole of the Jaina Achara is a derivation of this principle. All sins are the illustrations of Himsa. The perfect and the absolute is possible only in mystical realisation which is further identified with the terminus of all ethical endeavours.

Knowledge consciounsess as the end. Lastly, the attainment of knowledge-consciousness (Jnana Chetana) ought to be the end of aspirant's endeavours in contrast to action-consciousness (Karma

---

1. Bhaga. Ara. 26. 2. Ibid. 30.
3. Bhaga. Ara. 27. 4. Ibid. 30.
5. Ibid. 2078. 6. Ibid. 29. 7. Svyambhu. 117.



श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ मंदिर (स्थापित वि. सं. १७८४) जयपुर के
गुम्बज में रंग व मीनाकारी की कलापूर्ण कृति



श्री दिगम्बर जैन मन्दिर रणथम्भोर गढ़ (सवाई माधोपुर)

Cetana) and result-consiousness (Karmaphala Chetana[1]). The attribution of consciousness to the auspicious and inauspicious psychical states occasioned by karmas may be called action-consciousness; and the confusion of consciousness with the enjoyment of the quality of pleasure and pain may be pronounced as result-consciousness.[2] These two types of consciousness are the results of the misunderstanding regarding the inherent nature of things. Hence they need be abjured in the interest of ascending the supra-ethical plane of life. The five types of one-sensed souls are the illustrations of holding result-consciousness; the two-sensed to five-sensed souls exemplify those having predominantly action-consciousness; and the souls devoid of ten Pranas experience knowledge-consciouness[3]. Thus the knowledge-consciousness is the full-fledged and legitimate manifestation of consciousness. The Arhat or Siddha state is the state of knowledge-consciousness, the state of omniscience and bliss[4].

---

1. Panca. 38.; Prava. II. 31.
2. Prava, 11. 32. 3. Panca. 39 and Comm. Amrta.
4. Panca. Comm. Amrta. 38.

LIST OF ABBREVIATIONS

1. Acaranga— Acaranga-Sutra (Sacred books of the East Vol. XXII, 1884).
2. Bhaga-Ara— Bhagavati Aradhana (Sakharama Nemacanda Digambara Jaina Granthamala, Solapur 1935)
3. Gomma Ji— Gommatasara Jivakanda of Nemicandra (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
4. Jnana— Jnanarnava of Subhacandra (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
5. Karti— Kartikeyanupreksa (Rayacandra Jain Sastramala. Bombay)
6. Mo. Pa— Moksa Pahuda of Kundakunda (Patni Digambara Jaina Granthamala Marotha 1950, under the title Asta-Pahuda)
7. Niyama— Niyamasara of Kundakunda (Sacred book of the Jainas, Vol. IX)
8. Panca— Pancastikaya of Kundakunda with the Commentaries by Amrtacandra and Jayasena (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
9. Prava— Pravacanasara of Kundakunda with the Commentaries of Amratacandra & Jayasena (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
10. Samadhi— Samadhitantra of Pujyapada (Vir Seva Mandir, Sarasava, 1939)
11. Samaya— Samayasara of Kundakunda (Rayacandra Jaina Sastramala, Bombay)
12. Sarvartha— Sarvarthasiddhi of Pujyapada (Bharatiya Janana Pitha, Kasi)
13. Siddha— Bhakti of Pujyapada (Akhil Visva Jaina Mission Salala under the title 'Dasa Bhaktyadi Sangraha)
14. Svayambhu—Svayambhustotra of Samantabhadra (Vira seva Mandir, Sarsava)

History of Ranthambhor

Dr. Kailash Chand

Ranthambhor, one of the strongest fortresses of India, is situated near Sawai Madhopur in Jaipur Division. This town was in existence in the eleventh century A. D. and formed a part of the Chauhana kingdom of Sakambhari. Prithviraja I, who ruled over Sambhar in 1105 A. D.[1] had put golden cupolas on the Jaina temples of Ranthambhor.[2] This proves his suzerainty over Ranthambhor and the existence of Jaina temples here in such an early period. Siddhasena Suri, author of the twelfth century A. D., also includes this place in the list of holy places.[3]

After the defeat of Prithviraja III at the hands of Muhammad Ghori in 1192 A. D., his son Govinda had neither courage nor power to resist the rising tide of the Muslims and, therefore, he thought it better to leave Ajmer and founded a new kingdom at Ranthambhor. In order to escape the Muslim inroads, he gave rich presents to Qutubuddin and accepted his suzerainty. Govinda was succeeded by his son Valhana. Like his father, he continued to recognize the supremacy of the Delhi Sultanate, which is clear from the Manglana stone inscription of 1215 A. D.[4] Sometimes after 1215 A. D., he threw off the Muslim yoke. But again, in 1226 A. D., Iltutmish led an army against Ranthambhor and conquered it probably during the weak rule of Viranarayana, the grand son of Valhana.[5]

Subsequently, Vagbhata, the uncle of Viranarayana, wrested Ranthambhor from the Muslims after the death of Iltutmish, taking advantage of the weak rule of Firoz Shah Ruknuddin and Razia and the resultant turmoil all over the country. Ulughkhan, later known as Balban, invaded this place in 1248 A. D. and 1258 A. D. during the reign of Vagbhata but he could not get decisive success Vagbhata must have by that time become very powerful because Minhaj calls him the

1. ARRMA, 1934, No. 4.
2. GOS, LXXVI, pp. 312 & 316.
3. Ibid., p. 156.
4. IA, XLI, p. 87 f.
5. HIED, II, pp. 324-325.

greatest of Rais of Hindustan.[1] He also seems to have constructed the splendid temple of Bahar Deo which was razed to the ground at the time of the invasion of Alauddin Khilji.[2] He was succeeded by his son Jaitra Simha. He harassed a chief named Jaya Simha in Mandapa, who is generally identified with the Paramara Jayasimha of Malwa. He also killed a Kurma king, identified with the Lachchhava ruler of Amber and a king of Karkaralagiri.[3] Lastly, he had to face the forces of Nasruddin which were commanded by Malik-un-Nawab but fortunately for Jaitra Simha, the Muslim forces returned unsuccessful.[4]

Jaitra Simha was succeeded by his son Hammira in 1283 A. D. He was the most powerful ruler and extended his kingdom by his conquests. The *Hammiramahakavya*[5] gives a description of his *digvijaya*. He first defeated Arjuna, the ruler of Bhimarasa, and then exacted tribute from the fort of Mandalgarh. Striking southwards from here, he reached Ujjaini and Dhara and defeated the Paramara ruler Bhoja. From here, he turned northwards and reached home passing through Chitor, Abu, Vardhanapura, Changa, Pushkara, Maharashtra, Khandilla, Champa and Karkarala at the last of which places, he received the homage of the ruler of Tribhuvangiri. After his return, he performed a *Koti-yajna*[6] under the direction of his *purohita* Visvarupa. His enemies in Mewar and Mt. Abu were respectively the Guhila Samanta Simha and the Paramara Pratapa Simha, a subordinate of the Vaghela Sarangadeva of Gujarat. The Balvan Inscription of his reign mentions his victory over Arjuna, king of Malwa. This suggests that he led two expeditions against Malava, once during Arjunavarman's reign and next during the reign of Bhoja II.

From the Muslim sources, it is known that Jalaluddin Khilji led an unsuccessful invasion against Ranthambhor in 1290 A D.[7] In 1296 A. D., his nephew Alauddin Khilji became the Sultan of Delhi after the murder of his uncle. Alauddin was a man of high ambitions and wanted to conquer the whole world like

1. HIED, II, p. 334.
2. Habib, *Khazain-ul-Futuh*, p. 41.
3. EI, XIX, pp. 49-50.
4. TN, p. 713.
5. HM, IX, 99.
6. EI, XIX, pp. 49-50.
7. HIED, P. 540.

Alexander the Great. The presence of two powerful personalities, namely, Hammira and Alauddin Khilji, in the political horizon of India with the ideals of paramountacy led the conflict unavoidable. Alauddin Khilji declared war against Hammira because the later stopped the payment of tribute and gave shelter to some rebels from Gujarat. He sent a number of expeditions against Ranthambhor under his general Ulugh Khan but failed to overcome the enemy. Then, Alauddin himself led the army. Hammira too maintained a varitable siege but Rajput Chivalry could not triumph over the vast means and resources of the Khilji emperor who at last succeeded in capturing the fort in 1301 A. D. but not untill a single Rajput soul was alive inside the fort. Afterwards the city was systematically sacked by the Muslim victors. The temples along with many other splendid buildings were razed to the ground.

Not only a brave soldier, Hammira was also a successful ruler. He patronized art and literature. He erected a three storied golden palace Pushyak (pushpaka) at Ranthambhor.[1] Both the Balvan inscription and the Hammira mahakavya show that he patronized the poet Bijaditya.[2] He was generous in religious matters too and respected all religions. He worshipped the images of the Jaina Tirthankaras at Mt. Abu.[3] Jainism was in prosperous condition during his reign. Saha Chandavada and his wife Bharavata performed the installation ceremony of the *Chaubisi* through Bhattaraka Dharma Chandra in his reign.[4]

Rana Hammira of Mewar is said to have taken advantage of the confusion after the death of Alauddin Khilji to increase his power and seized Chitor in 1326 A. D. During the weak rule of the Sultans of Delhi, Rajputana became practically independent of Delhi Sultanate. At this time, Rana Hammira seems to have seized Ajmer, Ranthambhor and Nagaur from them.[5] After the death of Firoz Tughluq, the Muslim Governors of Gujarat and Malwa practically became independent. Ranthambhor remained a bone of contention between the Khilji rulers of Malwa and the Maharanas of Mewar.

1. EI. XIX, p. 45.
2. HM, VIII, p. 124 ; EI, XIX, p. 52.
3. Ibid., IX, p. 34.
4. Inscription on Chaubisi image of white marble Panchayat temple, Bharatpur. See Appendix No. 1 for the text.
5. The Delhi Sultanate, p. 70.

Alauddin Khilji was appointed as the administrator of Ranthambhor by the Khilji rulers of Malwa. From a *prasasti* of the *Dhanaraja Prabandhamala*, work of the 16th century, it is known that Dhanaraja of the Pragvat family was a faithful minister of Alauddin Khilji. He was a devotee of Ratna Simha Suri, who lived from 1395 A. D. to 1461 A. D. From the Kumbhalgadh inscription[2] dated 1460 A D. of the time of Maharana Kumbha-Karna of Mewar, it is known that he conquered Ranthambhor probably from the Khiljis of Malwa. Again it passed into the hands of the Khiljis of Malwa because Daulat Khan was their Governor when Sikandar Lodi was the Sultan of Delhi.[3] Rana Sanga inflicted a severa defeat on Mahmud II in 1519 A. D. and seized Ranthambhor.[4] From the *Parsvanathasravana Sattaisi* of Thakkure, who lived at Chatsu in the 16th century A. D., it is known that Ibrahim Lodi attacked Ranthambhor ruled at this time by Rana Sanga but he suffered a defeat. Rana Sanga was succeeded by his elder son Ratna Simha who assigned Ranthambhor to his younger brother Vikrama Simha in *Jagira*.[5]

When Shershah invaded Rajputana in 1543 A. D., he conquered Ranthambhor. From a *prasasti* of the *Holirenukacharitra*[6] written in 1551 A D., it is known that Rekha, the great Physician, was welcomed by Shershah for his vast knowledge in the science of medicines. Shershah gave Ranthambhor to his son Salim Shah in *Jagira*. In his time, Kidir khan was the administrator of this place.[7] The rulers of the Sur dynasty, though followers of Islam, encouraged the activities of Jainism. The copies of the *Jinadattacharitra*[8] and the *Holirenuka-charinra*[9] were written in 1549 A. D. and 1551 A. D. respectively by the *Sravakas* for presentation to Lalitakirti who visited this place.

1. JSP, XIX, p. 21.
2. EI, XXI, p. 277.
3. The Delhi Sultanate, p. 145.
4. TF, IV, p. 263.
5. MNK, p. 25.
6. JGPS, pp. 65-66.
7. RJSBGS, p. 66.
8. Ibid.,
9. Manuscript No. 15. *Patodi Ke mandira Ka Sastra Bhandara* Jaipur.

Surjana Hada, the ruler of Bundi, purchased the fort of Ranthambhor from Jhunjhar Khan, Kiledar of Muhammad Shah Adil.[1] In 1569 A. D. Akbar himself proceeded to conquer the fort. But before the trial of strength of both the parties, Akbar negotiated with Rao Surjana through Raja Bhagwan Das who made him round and got a treaty concluded which was honourable. Akbar assigned this fort to Jagannatha, under whose reign, Jainism made some progress. In 1507 A. D., Shah Choka and his wife Parvati got a copy of the *Shatkarmopadesamala* written and presented it to Rupachand.[2] An unknown poet at the initiative of Shah Chokha wrote the *Sitaprabandha* at this place.[3] Maharaja Jagannatha made Khimasi of *Todanagara* (Toda-raisingh) his minister who constructed a beautiful Jaina temple and installed the image of Mallinatha in it with great rejoicings' Kanakasoma, who with *Yugapradhana* Jinechandra visited the court of Akbar at Lahore, wrote the *Nemifaga*[5] at Ranthambhor.

Jahangir felt delighted after his visit to Ranthambhor in 1619 A. D. According to him, this name was kept after the two hills namely Rana and Thambhor, situated close to each other. Shahjahan made Bithal Das Gauda, ruler of Maroth as the *Kiledara* of this fort in 1631 A D. but Aurangzeb took it back from him. It remained under the control of the Mughals up to the 18th century A. D. when Shah Alam entrusted it to Madho Simha, of Jaipur, for its protection from the Marathas.[6]

---

1. VV pp. 1263-65.
2. RJSBGS, III, p. 169.
3. AK, VIII, No. 12.
4. AK, VIII, No. 12.
5. Ibid.,
6. VV, pp. 1263-65.

Abbreviations

1. AK = Anekanta.
2. ARRMA = Annual Report Rajputana Museum, Ajmer.
3. EI = Epigraphia Indica
4. GOS = Gaekwads Oriental Series.

5. HIED = History of India as told by its own historians, Ed. by H. M. Elliot and John Dowson.
6. HM = Hammiramahakavya.
7. IA = Indian Antiquary.
8. JGPS = Jaina Grantha Prasasti Sangraha.
9. JSP = Jaina Satya Prakasa.
10. MNK = Mohanota Nainasi ki Khyata.
11. TF = Tarikh-i-Firishta.
12. TN = Tabakat-i-Nasiri.
13. RJSBGS = Rajasthan ke Jaina Sastra Bhandaron ki Grantha Suchi.
14. VV = Viravinoda.

APPENDIX No. 1

संवत्—माघ बुदी ५ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्री धर्मचन्द्रजी साहमाल पीलमल चांदवाड़ भार्या 'भरवत सहरगढ़ रणथंभौर श्री राजा हम्मीर ।

Jain tenet in Shakespeare

Gyan Chand Jain, M. A.

Shakespeare is a mine of profound ideas. He holds an unique position in English literature. With the growth in the knowledge of man's individual and social nature we better appreciate him and he rises in our esteem. He was indeed beyond his time.[1]

In this age of comparative study it is meaningful to see what convictions did Shakespeare hold and how do they stand in the light of Jain tenets.

Shakespeare was Christian by birth. But he was never dogmatic. He upheld convictions as they appealed to his rationality and common sense. Naturally, we find Shakespeare holding thoughts astonishingly parallel to Jainism.

Shakespeare has written many plays and sonnets. In the earlier period he made sensual love his theme but as he became more mature he became concerned with the serious problems of man's true self and its realisation.

It was quite clear to him that man should be true to his own self:[2] Self-identity, 'I am that I am' was the summum bonum to him. To him it formed the best basis of man's social behaviour too.

In 'Measure for Measure' the duke is the ideal type of such a character. His servant Escalus says for him :

'One that, above all other strifes, contended specially to know himself'. He loved the remote life.

It was clear to the duke that the body is not the man's true self. It is a compound of many a thousand grains that issue out of dust. It is 'death's fool' but not so the soul or the true self.

Alligorically, the duke speaks of 'love to heaven' and 'integrity to heaven' but they all mean 'divine harmony in one's own soul'.[3]

---

1. See John Vyuyan : The Shakespearean Ethic.
2. Polonius' exhortation to his son Leartes in 'Hamlet' is famous.
3. The Shakespearean Ethic, p. 80.

Shakespeare knew that lustful love pertains to the body and so must be discarded. He wonderfully describes it as pejuered, murderous, hateful as enjoyed etc. in his Sonnet No. 129.

Not only lust, the wastage of man's time and energy on decorating the body and satisfying senses is to Shakespeare the inversion of values. Body should be treated as a servant[1] and so must be used to the betterment and growth of the soul.

Thus we see that Shakespeare is no materialist. On the positive side, he is a spiritualist. He holds that man is a soul which transmigrates from one life to another as Pythogoras held. It is immortal. He never speaks that God has created it nor like monists that it will sometime dissolve and lose its individuality into some all-pervading one soul.

According to him, this life is a place where one should strive to spiritual growth and self-realisation. It means the growth of virtues in one's soul such as chastity, fortitude in adverse circumstances, patience, forbearance etc. Love (not sensual but pure) is the intrinsic quality of soul. Virtues are not virtues when they are not exercised. They should go out in love to other human beings[2] and to animals.[3]

This concept of man's soul, we need not add is much in consonance with Jainism. Indeed, Shakespeare has nowhere told us about the disembodied state of the soul and how it is to be achieved but it is too much to expect of him, and for that matter, from the whole of Western literature.

---

1. Sonnet No. 146, the last four lines of which are—
   "Then, soul, live thou upon thy servant's loss,
   And let that pine to aggravate thy store ;
   Buy terms divine in selling hours of dross
   Within be fed, without be rich no more".
2. The Shakespearean Ethic p. 77
3. Jaques in 'As you like it' sheds tears in pity over the plight of animals in the forest of Arden as persons of elder duke's party hunt them.

Ancient Egypt and Anuvrata

Shri Ramchandra Jain

Bharata, Sumer and Egypt have been acclaimed by the world scholars as the three oldest centres of true civilization[1]. Aryan Greece was acclaimed as the more ancient centre of civilization before archaeological excavations unearthed Egypt. Egyptain splendour was in full bloom in the Middle of the nineteenth century. In early twentieth century, great Sumerian civilization was brought to light and it was also discovered that the civilization was older than that of Egypt. Sumer influenced Egypt in a variety of ways. Animal human forms and hooded serpants figure prominently in Egyptain motifs on pallettes and knife-handles Circa 3000 B.C. in the Jamdat-Nasr period of Sumarian civilization and before[2]. This period was preceded by Uruk Period in the latter half of the fourth Millennium B. C. Famous Sumerian Flood might have been an epoch of somewhat prior to this period. And before this flood, Sumer had the flourishing Ul-ubaid civilization in the beginning of the fourth Millennium B. C.[3].

Sumer was colonised by the people who came from the East. A race of people of half human, half fish led by one Oannes came to Sumer in Ul-ubaid times. We find in the house ruins under the flood silt at Ur two beads made of amazonite, a stone of which the nearest known source is the Nilgiri hills of Central India. Three terracotta clay figurines in nude form[4] in a contemplative introspective mood point to the religion of these incoming people. The swimming men with their head out of water and body swimming like a fish point to the existence of an expert race of mariners; bold, efficient and enterprising came from the nearest international port of Mohenjodaro, Chanhu-daro or some

1. V. Gordon Childe; New Light on the Most Ancient East, 1958, page 14.
2. H. Frank fort; The Birth of Civilization in the Near East, 1954, Page 90.
3. Sir Leonard Woolley; Excavations at Ur; 1955, Page 31.
4. L. Woolley, Op. Cit, Pages 31, 33, 50.

unknown Indus Sea or river port. This clearly establishes that the peaceful people who came from outside and gave the Sumerian people their name, writing, agriculture and industry after which 'no further invention have been made' came from Bharata through sea-route in the first part of the fourth Millennium B. C.

Early Egyptians were Asiatic people of the darkest race.[5] Herodotus informs in the 4th Century B. C. that the Phoenisians who originally came from the Coasts of the Indian Ocean carried on trade in the Mediterranean Ægean region loaded with Egyptian and Assyrian goods[6] in the first half of the second Millennium B. C. They might have been the pre-Aryan Pans of Bharata. Land of Punt, the habitat of the original Egyptian colonisers, might have been in the Southern Coast of Arabia or in Bharata. Arabia in that age was a Semitic regions without any spiritual faith. The spiritual faith of the early Egyptians, as we are just going to notice, clearly establishes their affinity with the Bharatiyans. Will Durant appears to agree with Sir John Marshall, the famous excavator of Mohenjodaro, the representaitve archaeological city of Bharata situated in Indus region, who on comparison of material relics found at Mohenjodaro with those of Sumer holds that it represents the oldest of all civilizations known.[7]

Bharata followed Srawana way of life before the advent of Aryo-Brahamas and their Brahamanical religion. Famous Vratyakanda (chapter XV) of Atharvaveda eulogises such a supreme spiritual leader the EK. Vratya. This EK. Vratya, the priest and the highest spiritul leader was at the head of Munis and Sisnadevas known to Rgveda. They were the followers of a great spiritual leader of hoary antiquity Vrsabha who propounded the Way of Spirit and Matter.[8] A Muni or Sramana is he who practises the perfect vow of Non-violence, Truth, Non-Stealing, continence and Non-Possessive-ness. This is the Varata way of life.

---

5. George Rawlinson, History of Anicient Egypt, 1881, Volume I Pages 97, 99.
6. Herodotus, This Histories, 1955, Page 13.
7. Will Durant, Our Oriental Heritage, 1954, Page 396.
8. Rgveda 7. 4. 1. 8.; 8. 3. 5. 14; 7. 2. 4. 5; 7. 6. 12. 6.
   I have followed the classification of Rgveda into Mandala, Anuvaka, Sukla and Re.

Aryo-Brahamas understand by the word vrata 'action' and at the best sacrificial action.[9] Rgveda knows the word 'Anuvrata' in the sense of favourable action.[10] This is the view of commentator Sayana[11] and Translator H. H. Wilson.[12] The adversaries of the Aryo-brahmas who were non-sacrificing people were A-vratis or Anyavratis[13]. Rgveda does not use the word Anuvrata though it uses the word 'Anu' in the sense of small[14]. (Suksma).

Vratya were the followers of the EK. Vratya, Munis and Sisuadevas constituted a mid-way institution of ascetics between the lay followers and the supreme spiritual leader. The Vrata way of life was divided in two parts, firstly those following perfect Vratas and secondly those following the Small vratas,

Mahavira was a great spiritual leader who added the fifth vow to the Chhaujjam Dhamma of Parsva. Mahavira taught the existence of individual soul, its transmigration into births and re-births and final perfect realisation. The fundamental basis of his spiritual system is Right Knowledge and Right Conduct. An individual may attain the purest existence (Siddhi) by observing Perfect Non-Violence, Perfect Truth, Perfect Non-Stealing, Perfect Continence and Perfect Non-Possessiveness. These are great Vows or Mahavratas. This is the way of a Muni. An ordinary citizen cannot practice this spiritual way in its fullness, hence he adopts these very five principles in a lesser degree known as Anuvratas. The aim is always to grow towards perfect observances. So that the Fullness of spirit (Siddhi) may be finally attained. Parsva included all the great five perfect vows propounded by Mahavira into his four great perfect vows of Non-

---

9. Rgveda 2 1. 8. 3; 2. 3 2. 12; 2. 4 6. 3; 3. 1. 4. 7; 3. 1. 7. 8; 3. 5. 6. 3; 3. 5. 8. 1; 4. 2. 3. 2; 5. 5. 13. 1; 7. 1. 5. 4; 8. 5. 10. 4; 9. 4. 6. 3 and several others.

10. Rgveda 1. 7. 4. 4; 1. 10. 1. 9; 8. 3. 1. 19; 10. 3. 5. 2;

11. Rgveda Samhita; Vaidika Samsodhana Mandal Poona, Vol I Pages 255, 358 Volume III Page 612, Vol IV Page 391.

12. H. H. Wilson; Rgveda; Vol I Pages 50, 77, Vol II Page 43.

13. Rgveda 1. 14 5. 10; 2. 1. 11. 8; 3. 5. 6. 8; 5. 3. 2. 6-7; 4. 2. 7. 7; 1. 7. 2. 11; 7. 1. 6. 3; 7. 6. 15. 9; 7. 5. 13. 7; 8. 8. 1.11; 8. 9. 13. 2;

14. Rgveda 9. 1. 10. 5; 9. 5. 6. 3;

violence, Truth, Non-Stealing and Non-Possessiveness[15]. Parsva died 250 years before Mahavira, i. e. in or about 777 B. C. [16] Parsva is thus proved to have been born Circa 877 B. C. Their tradition went much beyond to the hoary past and definitely existed in the pre-Aryan times. They were successors to the Muni and Srawana order of Vrsabha. This Muni and Srawana culture of Bharata is pre-vedic and pre-Aryan'[17].

Do we find the influences of this spiritual culture on the peoples of Ancient Egypt ? My answer is in the affirmative.

Egyptians believed in soul, its transmigration, future life and final emancipation. When an Egyptian died, he went to his Ka. This was his material body after death. The actual personality of the individual in life consisted of visible body and invisible intelligence. The visible and the Invisible was depicted in one symbol the human-headed bird with human arms. This signified that the material or physical existence of the individual is best typified in the animal while his spiritual existence is his innate intelligence. This birdman is called 'Ba'. 'Ba' has commonly been translated as 'Soul'. This symbolism of bird-man is of great far-reaching significance. Egyptians held the animal sacred. The immigrant Asiatic people engrafted a more elevated form of belief. They believed that animals had certain attributes of divinity. They had 'Souls' just like men. This symbolism definitely establishes the unity and oneness of spirit in animal and man. It is almost certain that Egyptians believed in body and intelligence, Matter and Spirit. [18]

The ideal of life of an ancient Egyptian is best given in 125th Chapter of the Book "The Manifestation of Light", miscalled "Book of the Dead". This Chapter 'Hall of Truth' is very significant. Temples, priests and gods were a later growth in the

---

15. Uttaradhyayana Sutra 23. 26; Sacred Books of the East Series; Volume 45, 1895; Page 122.
16. H. C. Roychowdhary, Political History of Ancient India, 1950, Page 97.
17. Dr. G. C. Pande; Studies in the Origins of Budhism, 1957; Page 261.
18. J. H. Breasted; Development of Religion and Thought in Ancient Egypt; 1959, Pages 52, 55, 56, 418.

book "The Manifestation of the Light". The essential parts originated in the most ancient times. Perhaps the Asiatic immigrants brought these truths with them. In its origin, it contained the fundamental conceptions of the continence of the soul after death[19]. The process of birth and rebirth reiterated until a certain mystic cycle of years became complete, when finally the good and the blessed attained the crowning joy of union with God. God in this context is a pure spirit, perfect in every respect all wise, almighty, supremely good. God is not manifest and 'he doth not manifest his forms'. He was neither the 'God' of the Christians nor the personal 'Brahma' of the Aryo-Brahmas. He was the purest spirit of the individual, good and blessed, attained after mystic cycle of years. The purest soul was the self-existent deity[20]. Thus we find that the final aim of the ancient Egyptian was the attainment of full, perfect, purest and everlasting personality in the beginning of the first half of the third Millennium B. C. and beyond.

We, thus, find that the Bharatiyas and Egyptians, before the rise of materialistic Aryan way of life in the world, followed the basic spiritual way. Fortunately the details of this way have remained preserved in Egyptian monuments. Acharya Tulsi, in the footsteps of Vrsabha, Nemi, Parsva and Mahavir, propound basic spiritual way in the tenets of Anuvrata Movement. We find the details of the basic Egyptian way in the Book of the Manifestation of Light. A comparison of the two is a striking event of history.

When the departed soul went to the other world, his life was judged by his actions. He appeared in the Hall of Turth or Justice before Osiris aided by forty-two gods. He made Negativa confessions. It may better be termed Declaration of Innocence. He gave the account of the deeds of his life on the basis of which his further life was determined. These are the essence of the Osirian faith of Ancient Egypt. Some of them appear to be the perfect vow of a Muni but most of them are not so and are blended together. They essentially represent the way an average ancient Egyptian followed. The comparison is

19. G. Rawlinson Op. Cit. Page 39-40.

20. G. Rawlinson Op. Cit. Pages 314, 314 Note No. 3, 319.

made with the vows of Anuvrata Movement[21], followed by disciples of Munis and Srawanas living the aforesaid spiritual way.

Vows of Non-Violence.

Egyptian: (1) I have not slain.

(2) I have not given order to slay.

Anuvrata: (1.1) I will not intentionally kill any unoffending living being with the power of movement.

Life is considered sacred by both. The respect of life is the cardinal principle of both as both believe in the existence of soul in all living beings. They consciousaly made distinction between the corporal and the spiritual. The Egyptian principle goes further than this small vow though it is definitely lesser than the Perfect Vow of Non-Violence of a Muni. It goes very near to it.

Egyptian. (3) I have not ill-treated animals.

(4) I have not driven cattle from their pastures.

(5) I have not hunted the birds of the gods.

(6) I have not caught fish in the marshes.

(7) I did not take away food.

Anuvrata (1.6-c) I will not overload any animal.

(1.9-b) I will not wilfully deprive my dependants of roof, water or livelihood.

The recognition of soul in animal kingdom in both the systems is of paramount importance. Did the ancient Egyptians abstained from meat eating ?, is a pertinent question here. We

---

21. I have selected,

(1) J. H. Breasted; Op. Cit, Pages 302-304

(2) S. Moscati; The Face of the Ancient Orient, 1960, Pages 120-122.

for Egyptian References and

(1) Anuvrata Andolana, 1958. Pages 13-20

Anuvrata Andololan divides the Vows into five, every generic vow having a number of specific vows alongwith Conduct Rules and Instructions. First numeral indicates the generic head and the second numeral the specific vow.

know of one great Greek citizen, Orpheus, of Crete who, influenced by the Egyptian spiritual way of life, gave the Greek religion an ascetic content. Orpheus believed in soul and its transmigration. Orpheus abstained from animal food. They believed in spirit and Matter and the full realisation of soul [22]. If this spiritual religion went to Greece via Crete from Egypt, it appears almost certain that the Egyptian faith of not ill-treating the animals, neither hunting the birds nor netting the fish must have resulted in abstinence from animal food. If Orpheus, influenced by Egyptions, abstained from animal food, Egyptians, must have been following this practice on a larger scale to have been a successful influencing factor.

Egyptian : (8) I have not made anyone weep.

(9) I have not done violence to the poor.

(10) I have not made anyone sick.

(11) I have not made anyone suffer.

Anuvrata: (1) The two out of seven instructions to Anuvrati are: He should be wide awaken in his actions and prevent harm to anyone.

(2) He should not persist in atrocities.

(1.2) I will never commit suicide.

(1.3) I will not bring about an abortion.

(1.5) I will not despise any person as untouchable.

(1.6-a) I will not take excessive hard work from any assistant, servant or labourer.

There are the details of the non-violent way both the systems adore. Causing of suffering to the life of the other being and to oneself are both violence. Anuvrata goes a step further in denouncing suicide. No distinction should be made between man and man. That leads to misery and sorrow, grief and sufferance. A man who causes another to weep, who exploits the poor and causes physical torment to the other is definitely a sinful man. An ancient Egyptian gave up these evils.

Egyptian: (12) I did not stir up strife.

(13) My voice was not very loud.

(14) I was not an eavesdropper.

---

22. Bertrand Russell: History of Western Pholosophy, 1954; Page 35.

Anuvrata: (1.4) I will not become a member of any group, body or association which has for its object violence and destruction, nor I will participate in their activities of such nature.

Both the systems consider violence as an evil. Times might have changed their outer forms. The above Anuvrata rule may sound modern but it is intended to check violent social strifes which the Egyptian also abhored. It may be due to the reason that both believed in the art of the change of heart. Attainment of perfect non-violence is the final aim.

Egyptian: (15) I have not held up the water in its season.

(16) I have not damned running water.

(17) I have not put out a fire that should have stayed alight.

Abstinence from violence to water and fire takes the Egyptian faith very deep. It indicates that the Ancient Egyptian believed that Water and Fire had life like human being, animals and plants. He thought it violence to interfere in their independant life. This comes very near to the Jain faith, which is only a continuing successor of the Vrata and Nrigranths way, which fundamentally believes that Water and Fire possess life like other living beings.

Thus we find that violence was a sin to the ancient Egyptian. He pursued non-violent actions at his best. Similar is the faith of an Anuvrati who attempts to attain non-violence in his actions to his best. Attainment of perfect non-violence is the final aim of the both.

The Vow of Truth

Egyptian: (18) I did not speak lies.

(19) I did not make falsehood in the place of truth.

(20) I was not deaf to truthful words.

(21) I did not multiply words in speaking.

(22) My mouth did not wag (lit. go)

(23) I did the truth (or righteousness) in the land of Egypt.

Anuvrata: (2.1) I will not tell an untruth concerning weights, measure, quantity, quality etc. in any sale or purchase.

(2.2) I will not intentionally give any untruthful judgment or award.

(2.3) I will not institute a false law suit or give false evidence.

(2.4) I will not deny the possession of any pledged entrusted or mortgaged article.

(2.5) I will not practise forgery:—

(a) I will not forge any person's signature.

(b) I will not be a party to any false or forged document.

(c) I will not produce counterfeit coins or currency notes.

(2.6) I will not act deceitfully such as:—

(a) I will not issue a false certificate or recommendation.

(b) I will not give any false advertisement.

(c) For Students—I will not try to pass any examination by illegal means.

(d) For Teachers—I will not help any student in getting through the examination by illegal means.

(2.7) I will not, out of selfishness, lust or malice, publish any commentary, news, views, articles, etc., which may create false notions or mischief.

Here again, we may find the external forms differing but essence in both the cases is the same, i. e. that falsehood may go out of our actions and every action may confirm to truth. Untruthfulness is considered as an evil and perfect truth highest aim.

The Vow of Non-Stealing

Egyptian: 24. I did not steal.

25. I did not steal temple endowment and property.

26. I have not stolen the cattle of god.

[illegible] (3.1) I will not take another's property with the intention of stealing.

(3.2) I will not intentionally purchase any stolen property nor aid and abet in stealing.

Temple is the house of god. Hence we have to understand the significance of the word god in Egypt. When the purest Egyptian after a mystic cycle of births and re-births attained the highest bliss, he became 'single among the gods' and 'Lord of the gods'. This suggests that a god was a human being. It was not the highest stage of human achievement, but god was a person who was purer and nobler than the ordinary citizen. The hieroglyphic language of Ancient Egypt has three important words. Word 'Ari' is used in the sense of an enemy and Word 'Arsi' in the sense of a god. Word Arihat' is used in the meaning of a priest, a captain,[23] also in the sense of a sage. This Arihat or sage must have been equal to the status of a Bharatiya Muni. We find in Ancient Egypt that the temporal ideal official was a 'silent man', not the meek sufferer, but the wise, self-possessed, well adapted man, modest and selfeffacing, deliberate and firm,[24] wonderfully simple and unpretending.[25] When this was the quality of temporal leaders; we can imagine the qualities of the spiritual leaders who were more self-effacing and self-renouncing. The purest man, the best among the sages, on perfect achievement became 'Chief of all the gods', 'Father of the gods', 'Maker of the gods', 'Lord of the gods', 'The one Maker of Existence', the one alone without peer', 'the true king among gods.'[26] Hence the gods and the best amongst them were the purest spiritual beings; not ephemeral or celestial gods.

We also know of Egyptian Temples. Temples' practices were marked by its unity. It is the seat of a numerous and highly organised preisthood. It is also the centre of cultural life. Priests and scholars make the temple the centre of religions and intellectual activity.[27] We do not find any reference of idol wor-

23. S. Sankarananda; The Indus People Speak, 1955, Pages 15-16.

24. Henbry Frantfort; Op. Cit; Page 90.

25. G. Rawlinson, Op. Cit; Vol II Page 42.

26. G. Rawlinson, Op. Cit; Vol I Page 314 Note 3.

27. S. Moscati; Op. Cit; Page 118.

ship in the Negative Confessions or Admissions of the deceased person in the Hall of Truth. It, thus, appears that Temple was the Public Hall meant for communal spiritual and intellectual activities.

The Egyptian conduct regarding stealing is based on the same fundamental principle as that of Anuvrata; i. e. that what is not one's own or permitted by the Society as one's own; has not to be appropirated with by anybody. Communal and private possessions are not to be dealt with in a chaotic manner otherwise that would lead to social violence.

Egyptian : 27. I did not diminish food in the temple.

28. I have not harmed the food of the gods.

29. I have not falsified the measure of the grain.

30. I have not added weight to the scales.

31. I have not taken the milk from the mouth of the children.

Anuvrata : (3.4) (a) I will not commit adulteration in any commodity.

(b) I will not sell any artificial thing as genuine.

(c) I will not deliver any article other than the contracted one.

(d) I will not make any wrongful gain in any transaction carried on behalf of another.

(e) I will not use any false weights and measures in trade.

(f) I will not declare any good article as inferior or damaged with a view to get an extra profit.

(g) I will not practise black marketing in business.

(3.5) I will not misappropriate or waste the funds or property of any trust or institution of which I am a trustee or office bearer.

Taking more food than necessary in a temple is to diminish it which amounts to stealing. That was the view of Mahatma Gandhi also. If the communal food is contaminated or otherwise harmed

by the negligence of an individual it is a sin of stealing. Dishonesty in trade and business is a spiritual crime apart from being a social or public crime. Both the systems abhore the conduct of stealing.

The Vow of Continence

Egyptian ; 32. I did not commit adultery with women.

33. I did not commit sex-pollution.

Anuvrata (4.1) I will not commit adultery or sexual intercourse with a prostitute.

(4.2) I will not indulge in unnatural sexual habits.

(4.3) I will observe celibacy for at least 20 days in a month.

(4.4) I will observe celibacy at least till the age of eighteen years (the age limit for maids is 15 years).

(4.5) I will not marry after the age of 45.

Sexual morality is a spiritual quality Both the systems believe in the virtues of continence and regard sexual indulgence as an evil.

The Vow of Non-Possessiveness.

Egyptian. 34. I did not rob.

35. I did not rob one crying for his possessions.

36. My fortune was not great by my (own) property.

37. I was not avaricious.

38. My heart devoured not (coveted not).

Anuvrata. (5.1) I will not possess more wealth, (viz. Land, Building, Gold, Silver, Jewels, Currency and Coins) than a fixed limit.

(5.2) I will not accept any bribe.

(5.3) I will not give or accept any kind of gratificatton for giving or obtaining votes.

(5.4) I will not take undue time in the treatment of any patient out of greed.

(5.5) I will not enter into any monetary deal in connection with marriage.

Abstinance from greed, expropriation and exploitation are the basic tenets of spiritualism and both the systems are very conscious of them.

Ancient Egyptians believed in freedom from fear, balance of tempers. futility of blasphemy and reviling of others, harms of flattery and ill-speaking, help of fellow citizens, purity of speech and action and evil effects of defamation. They made divine offerings to the gods i e. the sages. These truths are contained in the following admissions :—

39. I did not stir up fear.
40. I did not wax hot (in temper).
41. I did not revile.
42. I was not puffed up.
43. I did not blaspheme the god.
44. I did not do any abomination of the god.
45 I have satisfied the god with that which he desires.
46. I gave bread to the hungary, water to the thirsty, clothing to the naked, and a ferry to him who was without a boat.
47. I made divine offerings for the gods.
48. I am one of pure mouth and pure hands.

The social and spiritual contents of these tenets need no comment nor any parallel from the Bharatiya spiritual way. They are self evident.

What was the basic spiritual ideology from which these actions did spring ? Fortunately, we find clear mention also of the fundamental base in these Admissions. The basic theoretical ideology was :—

49. I have not known what is not.

An Ancient Egyptian acquired only right knowledge, i. e., the knowledge of that which is, which exists. He did not believe in the acquision of the knowledge of that which does not exist, which is not. He acquired knowledge of truth, The Right knowledge which we call Samyak-Jnan.

He acted according to injunctions of Right knowledge. His practical ideology was :—

50. I live on righteousness, I feed on the righteousness of my heart.

He lived in a righteous way Right conduct was the sheet-anchor of his life This is also exactly Vrata ideology Nirgrantha ideology or Jaina ideology propounded by Rsabha Nemi Parsve and Mahavira and followed by Acharya Bhiksu and Acharya Tulsi Right knowledge and Right conduct are the very basis of spiritual ideology The final aim of this spiritual way is fullness of spirit or Siddhi The final aim of the ancient Egyptian was —

51 I am blameless

He conducted himself in the above way to be sinless Fullness of spirit was his ideal

To resume the ancient Egyptian followed the spiritual Way He believed in the existence of soul its transmigration and its full realisation He based his Right actions on Right knowledge He so directed his individual social and political activities that they may confirm to the basic spiritual way His final aim was to attain ever lasting self existent personality full of knowledge and power

I have depicted here in the barest outline the ancient Egyptian faith and compared it to the Bharatiya way Both are strikingly similar and the basis of both is Spiritualism I have a firm belief that ancient cultures of Bharata Sumer Egypt and Crete were essentially spiritual though stronger at some points and weaker at others The research in these ancient cultures from spiritual standpoint if taken up in a missionary spirit would be miraculously rewarded

Jainism - History and Antiquity

Jai Bhagwan Jain

Before I give you a talk on Jainism I would like to have a recitation of NAMOKAR MANTRA which is held as sacred amongst Jains as the Sarantirya Mantra amongst Budhists and the Gayatri Mantra amongst the Vedic people

Namo Arihantanam Namo Siddhanam Namo Airiyanam
Namo Uvajjhayanam Namo Loye savv Sahaunam

Salutations to Victors of Evils
Salutations to Perfects
Salutations to Pontiffs
Salutations to Preceptors
Salutations to Saints of all ages and climes

To begin with my talk I would like to tell you that Jainism is one of the oldest known religions of the world It is the natural growth of the indegenous genius of India the land of seers sages and philosophers It is a system of Asceticism a system of self control a system of Yogic practices for conquering the inner forces of evil and achieving the ideal of perfect Godhood This system of Asceticism was discovered and designed by bold fearless and adventurous men of action of yore called Kshatriyas who were the founders & protectors of territorial settlements of human tribes It took its birth along with Shaiv Shakt Pashupat forms of Tantrik religions of the land in the remote prehistoric days of myths and legends—long before the birth of Buddhism and the hymns of Rigveda There are frequent references to ascetics of Jain conception their Yogic practices and their philosophical notions in Vedic Sanhitas The asectics for their outer and inner characteristics have been termed as Shishna Deva (शिश्न देव) the nude gods Keshi (केशी) with long locks of hair Vratya (व्रात्य) of strict vows Yati (यति) of self Control Muni (मुनि) thinker Arhan (अर्हन) Venerable Arihan (अरिहन्त) the killer of inner foes Shraman (श्रमण) Observer of hard penances Rudra (रुद्र) of firm resolve to make evils weep They are called as Jina (जिन) Victor (of evils) in Epic as well as in Buddhistic and Persian literatures Nirgrantha (निर्ग्रन्थ)—without any belongings in Buddhistic canonical

works, as Jimnosophist Jain philosophers by Greek historians, and as Saman or Samniya (समन, समनिया)—of tranquil mind, by Arabian writers.

In the fine old days of Indus valley civilisation, whose 5000 years old specimen have recently been brought to light by the archeological excavations at Mohanjodaro and Harappa in Sindh & Punjab, Jainism was a well spread cult of faith and practice not only of the peoples of India, but of the peoples of almost the entire civilised world of that time. It was the living cult of Sumer and Babylonia and of the Holy lands known as Videh Kashetras (विदेहक्षेत्र) in Jain tradition lying to the East and West of Sumer and between Nishadh (निषध) and Nil (नील) mountains i. e. between the Hindukush and Cauca-sus mountains.[1] Most probably they are the lands of Armenia, Assyria, Elam, Mesopotamia and Susa lying on the East and of Phonecia, Syria, Cyprus, Crete, Hellas and Egypt on the West of Sumer. The most significant fact about them is that the Jains of India have ever been holding these lands in high esteem since old times, calling them as Videha Kshetras i. e. the lands of liberations and worshipping the Saviours of these lands alongwith the Saviours born in India.

According to Jain traditions there have been 24 Tirthankaras--the great saviours in India and 20 in Videhkshetras through its various ages of the present aeon, who one and all gave the message of seven great truths (Sapta Tattvas) and taught the gospel of fellowship and Ahimsa, renunciation and salvation to the whole of mankind for the attainment of perfection. The first and foremost of this Indian series was Rishabha or Vrishabha or Gaur--the Bull God who through songs composed and sung by way of his praises and prayers by priests and poets of old and new times has assumed 1008 names. It was in the hoary old age when peoples of the world leaving their nomadic habits had just begun to settle in Gotras or small colonies and take to agriculture, that Rishabh was born in the Eastern land of Magadh known after him as the Gaur Desh--the land of the Bull God. Being the foremost leader of mankind in all his pursuits of art and literature, culture and civilization of this aeon, he is known as Agni (अग्नि), Agnish (अग्नीश) both implying the foremost leader, Agrajat (अग्रजात) the first born leader, Adi-Vishwakarma (आदि विश्वकर्मा)—the first

---

1. Tidoyapannatti—4. 1774

master of Arts, Adiprajapati (आदि प्रजापति)—the first Lord of men, Adipurush (आदि पुरुष)—the first ascetic who dried up evils, Adi-Brahma (आदि ब्रह्मा)—the first Omniscient being. The word "God" so widely known as name of the Supreme Being, which in origin is the name of Rishabha—the Bull God appears to have got its way in the lands of Western Asia through Sumerian and Phonecian peoples, the old followers of Jainism. The recent discovery of a bronze statue of Reshef, (Rishabh) with horns and bull head, from the site of the old capital city of Cyprus of the second Millenneum B. C. has added credence to the historical fact of Rishabha's cult being the living faith of Western Asia.

The last of the series of Saviours was Lord Mahavira—the Niganth-Nat-Putta of the Buddhist literature. He was an elder contemporary of Lord Buddha and was born in 593 B. C. in the Lichchavi Ksatriya clan of Vaishali.

In between these two saviours were born the other 22 Saviours. Of these the second Saviour Ajit or Jit related with the legend of ocean churning and the 22nd Saviour Arisht Nemi—the well reputed saint of Girinar Mount of Saurashtra, who happens to be a contemporary of Lord Krishna, so much praised in Vedic and Puranic literature of India are well recognised by scholars as Saviours of Jain Tradition. Arisht Nemi appears to be a popular God of Babylonians as well, as indicated by the donations made to this God by Nebhuchad rezzar, the Nagendra king of Babylon and Susa of 6th Century B. C. (604-562 B. C.). The 23rd Saviour Lord Paras Nath, the worshipful God of the old Sarak Tribe of Behar and Bengal has now been fully accepted as historical personage of 8th century B. C. It is after him that the Sammed Shikhar Hills of Behar being his place of Nirvana are known as Paras Nath Hills. It is this 23rd Saviour whose images are generally taken out in annual procession by Jains in most of the big cities of India.

Just as in the old days of Indus Valley civilisation, Jain signs, symbols, effigies and mounments spread all over India which are daily brought to light by each fresh and further archeological excavation, so has been the case there-after. Even today the old and new Jain monuments are so wide spread, that if we just take a survey of India through its length and breadth from Kailash mount, the place of Nirvan of Lord Rishabha to Punda or Pandya Land in the South, and from Magadh in tha East to Saurashtra in

the West, there is not a single place of pilgrimage, or of historical importance where Jainism did not take its roots to spread and grow in popularity and have its monuments raised in sculpture and architecture. In this connection the Udaigiri caves of Orissa, the Osmanabad Caves of Hyderab~d, the Dilwara Temples of Abu, the Devgarh Temples of Jhansi District, the nude images of Gwalior fort, the great standing Rishabha Image of Badwani on Narbada Banks, the colossal statues of Gomateshwar standing in Saravan-Bel-Gol, Karkal and Vellur of the Daccan, and the Architectural finds, stupas and statues of the Kushan age of Mathura—may be mentioned as some of its objects of rare beauty, which have won world's praise for the richness of Indian Art, while this art has greatly enriched India's life, it has ever been a source of inspiration to all her later faiths.

In the field of literature also the contributions of Jainism are no less than those of any other faith. It has ever been a great patron of all regional languages spoken and understood by the masses. So the contributions which Jainism has made in the field of literature have left their lasting marks in all the languages of the North and the South of India of all ages. In Prakrit, Tamil and Kannad Languages it has almost been a pioneer in the field. To have a true grasp of the systemetic growth of Indian languages, it is but essential to study the works of Jain literature from ancient times to this day.

Though during all these long ages, Jainism has had to pass through various vicissitudes of time and po.itical upheavals, but in spite of all its sufferings and tribulations it is still surviving and has its votaries spread over all parts of India.

Though numerically to-day, Jains form a small body as compared with the big followings of other religious faiths, yet culturally it occupies the same place of reverence in India to-day as in days gone by, for the principles of transmigration and fructification of Karmas (deeds) कर्मफलवाद; of fellowship (मैत्री) and Ahimsa, of renunciation and salvation, of exaltation of man and transcendentalism of self, for which it stands, have gone so deep into the soul and soil of the land, that they now form the basic foundation of all religious faiths of India, irrespecitve of their names, forms and rituals. Its ideology has ever been a perennial source of inspiration to all lovers of peace and seekers after truth.

To-day, with the growth of liberality in thought and the easier means of communication, Jainism also has begun to move into foreign lands. In this connection the names of Vir Chand Gandhi, Champat Rai Jain and J. L. Jaini are specially note-worthy. By their speeches and wirtings they have made great contributions in introducing Jainism to peoples of the West of to-day.

This much for its history and antiquity. Now let me throw some light on its philosophy and morals.

Jainism – Lord Mahavira's Message

According to Jainism the entire cosmos of which we form a part, wherein we live, move, and have our beings is not a dream, it is a reality. It is a creative reality full of infinite powers, infinite aspects, infinite potentialities, ever becoming, ever changing, ever growing. It is a store of inexhaustible resourcefulness, ever extending in space, evolving in time, manifesting in modifications, and persisting in identity and without end. It is self sufficient and self-centred reality working from within. It is the Creator as well as the creation. It is the Law as well as the Law Maker due to its own inherent nature or Svabhava (स्वभाव). It is due to its dynamic nature that though this cosmos has manifested itself-in so many forms, it has been explored and experienced in so many ways, it has been viewed and talked of from so many angles, yet it has neither finished its functioning nor out-shown itself. It is ever at work. It is a running conern, and is going to be a running concern for ever without any pause. It is greater than all the calculations and conceptions hitherto made about it. It is greater than all the past and present combined together. It is infinity ad-infinitum.

It is throughout dualistic in every aspect. It is extension as well as change giving rise to notions of space and time. It is (नियति) – predetermined course of Law order and sequence as well as यदृच्छा) – sudden change, abrupt jump, explosive outburst giving rise to notions of (ऋत) order and (अनृत) disorder. It is subjective self (स्व) with a free will as well as objective non-self (पर) with mechanical causation giving rise to notions of spirit and matter. It is like a six faced bubble made of space and time, order and disorder, spirit and matter all inextricably warped and whoofed together supplementary and co-opeartive to one another giving rise to the notion of an organic whole, one in purpose but manyfold in aspects. These six dravyas (द्रव्य) or entitics of which this

cosmes is constituted are known by the names of Akash, Kala, Dharma, Adharma, Jiva and Pudgala respectively in Jain philosophy. Out of these according to Jain tenets Dharma is the medium of motion helpful in the orderly march of events, while Adharma is the reverse thereof-a medium of rest which is helpful in putting this march in a particular course to a stop and giving it a new turn and new field for operation. This Cosmos is not perfect but it is ever astir for perfection. It has various flaws and freaks but ever busy to get rid of them by moving on the path of trial and error. Its progress is attended with setbacks, and its course of order and sequence is haphazardly fizzled by accidents and catastrophies. According to Jainism it is all due to the fact that Cosmos is neither pure spirit nor pure matter rather it is a combination of both disturbing the course of each other. So it may be termed as materialised spirit or spiritual matter both in influence of each other.

According to Jainism it is neither globular nor oval in shape, rather it is of the standing human form with a broad base at feet, narrow in waste, broadend in chest and with a heavy head flattened at the top bearing crescent moon with a star therein. For this reason it has been termed as Adhipurush (अधिपुरुष) the cosmic man or 'Virat-Purash' (विराट पुरुष) the Universal man. The Bhu (भू) or the under worlds form its feet, the Bhav (भवः) or the middle worlds form its belly, and Sva (स्व.) the upper worlds form its head. The sun and the moon are its eyes, the directions are its ears, the atmosphere is its 'Pran (प्राण) the vital air. It is after the image of this Cosmic Man that man is born and is considered to be its highest creation. This cosmos being like a human organism, it is ever symbolised in the pictographical script of the ancients by a homeo-sign or the nude standing human form. In its abbreviated form it is designed as 'ॐ' (OM) with a crescent moon and a star over head. This crescent moon represents the final loka (लोकान्त सर्वान्त) or Sidh-loka—the abode of Perfects, while the star therein depicts the Perfect self in its full effulgence without any bonds and limits. It is this 'Om' which is being ever meditated upon by Jain Yogis of yore as well as of the present day for attainment of their perfection, for according to tenets of Jainism self in its final analysis is equivalent to all-knowledge 'Kewal Gian' and all-knowledge is equivalent to all-knowable, and all-knowable is equivalent to the entire cosmos, thus self is regarded as equivalent to the entire cosmos or the cosmic-Man.

It is due to this equation of self with Cosmic Man that the perfect self like the cosmos is ever represented by the sign of 'OM' and the Jain ascetics usually adopt the pose of this Cosmic Man standing erect with arms hung down-wards while absorbed in self-concentration. In Jain Yogic terminology this pose is known as (कायोत्सर्ग मुद्रा) or the abondonment pose, in which the Yogi while self-centered and detached from outside like the Cosmic Man abandons the care of his body to the elements of cosmos.

With such a background of the cosmos, rather being a prototype of the cosmos one need not feel depressed over present failures and short-comings, rather one should ever feel cheerful over what the future has in store for him.

As Jainism takes a long realistic view of things in their true perspective of time and space, it is never dogmatic in its assertions. It always tries to appreciate different views of things and combine them into a coherent whole by giving them their due place in the spatial and temporal order of the cosmos. Thus it is a most synthetic system of thought, ever teaching broadness in outlook and toleratian in grasp, for tackling the problems of life with-in and world outside.

It is for these reasons that the Jain system of Philosophy is called a system of realism, (यथार्थवाद), a system of polyviews (अनेकान्तवाद) and a system of relative values (स्याद्वाद).

As already told according to Jainism, this cosmos is a dualistic system of the living and non-living, of soul and matter, of Prakirti and Purush, both co-existent and co-working, but belonging to different orders. Out of these two, soul is a subjective reality, an inner reality, the stabilising reality, the all grasping, all pervading, all unifying reality; while matter is an objective reality, an outer reality, an unconscious reality, a disintegrating and separating reality, a most unstable and transient reality without any purpose of its own.

It is the interaction of these two orders, which has given rise to the drama of worldly life. This interaction according to the Jain philosophy, is all due to our own wrong beliefs, (मिथ्या दर्शन) wrong knowledge (मिथ्या ज्ञान) and wrong conduct (मिथ्या चरित्र) confounding the one for the other or identifying them as one. As long as this false outlook holds away in life, one cannot escape its natural consequences,—a life made of cycles of births and deaths,

a life comprising of both characteristics, material as well as spiritual.

It is for these truths that Jainism has ever regarded worldly objects, the objects of senses, the objects made of matter as foreign and uncongenial to soul, as deceptive and corruptive to life. It has ever regarded their attachment as contaminative to its purity, and derogatory to its heights. It has, therefore, warned earthly people to be ever on their guard, lest the colourful glamour of the material world should drag them down to the bondage of dust, allure them into slumber, condemn them into depravity and rob them of their inherent peace and beatitude. For the maintenance of this peace, Jainism has ever laid stress on a mode of life, which is detached from outside and concentrated from within, which is passive in worldly pursuits and active in Godly pursuits, which is simple in livings and high in thinking—just like that of a lotus which though dipped in mud, yet ever keeps its head aloof and high looking to the heavenly lights.

Just as self is held in bondage by his own wrong belief, wrong knowledge and wrong conduct, so he can be liberatad by his own Right Belief, Right Knowledge and Right Coduct. Thus every one is his own architect of fate, the modeller of his to-day and tomorrow, the maker of his hell or heaven. One's future lies in one's own hands.

To achieve liberation from boandage Jainism has set up a concrete programme for worldly people to adopt, consisting of the following three laws known as Rattan Triya (रत्न त्रय), three jewels for their invaluable efficacy in Jain Philosophy.

Right Belief

'I' am the perfect. the purest and glourious spirit, aloof and distinct from matter. It is the body which is conceived and born, which withers and dies, and not the 'self'. 'I' am eternal, I have been living, I am living and shall be living for ever. Unless one makes this sort of belief as the basis of one's life, one can not easily enjoy the bliss of peace and contentment lying hidden in an inexhaustible store within one's own self. This beiief can be developed by practising daily meditations or autosuggestions of (सोऽहम) that I am, (तत्वमसि) 'That Thou Art' at the time of morning and evening Sandhya and Samayak.

Right Knowledge.

For the wise, only that knowledge is worth its name which raises one in esteem, frees one from desires, liberates one from woes and worries, gives one hope and vigour and fills one with peace and beatitude. This knowledge comes from the knowledge of one's own self, for in final analysis, 'it is self which is the highest truth, highest purpose, highest good. It is self which is the creator of shapes and architect of fate. It is self which gives meanings and values to things, makes them good or bad, right or wrong, useful or worthless. It is self which fills things with grace and beauty and makes them lovely and charming. It is self which is the source of all knowledge, source of all truths, source of all ideals and imaginations". It is this sort of knowledge which one should ever attempt to acquire by studies, enquiries and researches. It is for this reason that in Jain literature, Upanishada and, the Bible the perfect soul has rightly been styled by the phrase of "I AM". According to Jainism one who does not know his self and its destiny before departing from here, however great a scientist, scholar or a statesman he may be is merely a boat without rudder, a wanderer in wilderness, a fodder for death.

Right Conduct.

It is well known, that pain is the fruit of evil, Evil ever comes from within, it never grows from outside. When one does a bad or a wrong act, it is always preceded by an internal deformity caused by anger, self-conceit, greed, fear and such sort of other passions. Thus when one does injustice to others, he really does injustice to one's own self and when one does injury to others, he really does injury to his own self. Taking these truths to heart, one should be very cautious in his behaviour in life. To save life from evils and their pernicious effect, Jainsim, lays great stress on the following rules of conduct :—

1. Restraint on Senses : (इन्द्रिय विजय)
2. Control of Passions : (संयम)
3. Equanimity of mind : (समता भाव)
4. Five Vows of Ahinsa (non-injury), Satya (Truthfulness), Achaurya (non-stealing of other's wealth), Brahama-Charya non-indulgence in sexual pleasures), Aprigrah (non-hoarding of Wealth)

5. Charities : (दान)

Before I finish this I would like to summarise its Philosophy by reading out the final message which was given by Lord Mahavira to Gautama his chief Apostle :—

"O Gautama ! already time uncountable has past in starting and staying, in filling and emptying, in collecting and scattering, but the goal is still out of sight. Whatever has past will never return to you and what is left is fast fleeting. The human life is the most precious of all. It is the threshold of salvation, the gateway of heaven. It is not easy to be attained. It is after countless sufferings and countless wanderings that thou hast been able to get it. It is sheer folly to waste a single moment thereof. Arise, awake, realise. Death is fast looking into thy face. Before thy frail frame gets asunder from the twig of age and mixes with dust, dedicate it to the service of self."

The Svastika in Indian Art

Dr Rai Govind Chandra
M A Doctor de Universite de PARIS

The mystic symbol known as *Svastika* is commonly used in India on all auspicious occasions and is widely believed to be the harbinger of good fortune It is considered sacred and drawn with red sandal wood paste on the books of accounts of businessmen on the *Divali* day and is worshipped It is painted on the door jambs and is put on the *Purna Ghata* by the woman folk under the belief that it would bring luck It is also put on the ground before the Goddess *Laksmi* and sweets are offered to her In recent years Nazis used this symbol to denote that they were pure *Aryans* but they used it in its second form viz the one facing right

Among the *Jains* it is one of the eight *Mangala* symbols and represented on *Bali Pattas* or offering stands and is specially connected with *Suparsvanatha*[1] Naturally the question arises as to how this form originated and what it represents To believe that there is no religious significance of this sacred symbol and that it should be considered as purely an ornament or decoration[2] is an erroneous view for it seems to have been an established belief even among the primitive people that divine truth could better satisfy the credibility of human intellect when veiled under symbols and wrapped in fable and enigma than when exhibited in the undisguised simplicity of wisdom or pure philosophy

It may be mentioned that several attempts have been made to find the meaning of this symbol Some scholars[3] have suggested

1. *Aupapatika Sutra*—Su 31 p 68 69 Umakant P Shah—*Studies in Jaina Art*—Banaras 1955 p 109
2. Thomas Wilson—*The Svastika*—Report of the Smithsonian Institution—1894 p 951 952
3. W Theobald—Notes on Some of the symbols found on the punch marked coins of Hindustan etc —J A S B No III & IV—1890 —p 259 also E Thomas—Ancient Indian Weight—Newm Orient —p 59 H etc —Neumismata Orientalia E B Havell Ideals of Indian Art—(London 1920) p 69

that this symbol which is in the form of a Greek cross with the extremeties of its four arms bent round in the same direction denotes the sun and some quote[1] the Rigvedic hymn in support of this theory.

Caturbih sakam navatim canamabhiscakram
navrttam vyatira vivipat. (Rv. 1, 155, 6)

They are of opinion that as soon as the sun rises the four *disas* are indicated and here in *Svastika* the four arms represent the same phenomenon. Other scholars believe that it indicates the wheel of the *Visnu* consisting of the four spokes of the wheel crossing each other at right angles with the short peripheri of the circle at the end of each spoke. Sir A. Cunningham is of opinion that it has nothing to do with the sun, it is simply a combination of two letters *Su* and *Asti* written in *Brahmi*.[2] It is also described as a deformed maltese cross.[3]

But we find representation of *Svastika* in Indian Art much before the *Asokan* Script from which Cunningham supposes it to have originated and also before the accepted date of Rigveda namely 1500 B. C. on the basis of which scholars presume that it represents the sun. Moreover, if it is assumed that the short projections of the arms denote the peripheri of the circle the *Svastika* could only have been represented facing right which would have shown the clock wise forward movement of the Sun. It could not have been shown facing left and right both.[4] It will also be worth while noting here that in India we have a separate symbol of sun-a circle with rays[5] like its representation in Balquhiddar, Perthshire[6]. In Egyptian art we find the sun represented as a round disc with wings on both sides and two snakes and in Hittite and Israel art with wings only (fig. 1 (b) &

---

1. Dr. Vasudeva Saran Agrawal and others.
2. Monier Williams—*Sanskrit English Dictionary*, 2nd Edition p.1283 col. I; Cunningham—Coins of Ancient India—p. 101 H.
3. E. J. H. Mackay—*Further Excavations at Mohenjodaro*—Vol I p. 660.
4. Pin Cott—Journal of the Royal Asiatic Society 1887 p. 245.
5. A. Coomaraswamy—Indian & Indonesian Art—p. 45.
6. W. Theobald--Some Notes of Punch Marked Coins of Hindustan etc. J. A. S. B. Part II-IV—1890 p. 188 fig. 260.

(c)). In Assirian Art super imposed on the disc with wings is a man with bow and arrow (fig. 1 (d)[1]. The wheel of *Visnu* as described in the *Puranas* is of a much later date and could not have been the basis of the origin of this symbol and so is the case with the Chakra of the *Rigveda*.[2] Similar is the case with the theory of Harit Krishna Deb who in his paper on the '*Svastika and Omkara*' [3] suggests that this symbol is nothing else but double 'o' of Brahmi which was written in this manner viz. one 'o' over the other. But fortunately we find a representation of *Svastika* in the Indus Valley Civilization which belongs to a period very much earlier than the assumed date of the origin of *Brahmi*.

Pincott's theory that the *triratna* is represented in its most condensed form by the *Svastika*[4] also cannot hold water now as the first representation of *Svastika* appears in India on the Indus Valley seal amulets. Here in one set it is represented in a raised angular form composed of two lines slightly inclined facing left and is enclosed within a square[5] on one of these seals[6] traces of voilet glaze is also noticeable which proves that it was covered with manganese. It has been suggested by Mackay that these seal amulets were probably utilised for marking the face. He has also mentioned that animals especially bulls were being marked with *Svastika* by the Muslins[7] Panini also mentions in *Karne Laksanasyadi Sutra* the names of nine marks for branding animals among which *Svastika* finds a prominent place.[8] In another set of seals of Indus Valley it appears in a similarly

1. J. H. Breasted—*The Conquest of Civilization*—New Edition 1937 fig. 30 and O. R. Gurney—*The Hittites*—fig. 16—3.
2. *RV*. I, 130, 9; I. 155, 6; I, 164, 2; IV, 1, 3, etc.; Vedic Index—Vol I p. 252.
3. H. K. Deb—*The Svastika & Omkara*—J. P A. S. B. N. S. Vol. XVII
4. Pincott—J. R. A. S.—1887 p. 245.
5. M. S. Vats—*Excavations at Harappa* Vol. II pl. XCV—392; E J.H., Mackay *Further Excavations at Mohenjodaro*—Vol. II, pl. XCI also CLI.
6. Mackay—F. E. M —Vol. II plate XCI-1.
7. Mackay—*Further Excavations at Mohenjodaro*—Vol. I p. 355.
8. Vasudeva Saran Agrawal—*Panini Kalina Bharatvarsa*—p. 221-222; Thomas Wilson—*The Svastika*—772; *Panini*—VI, 3, 115.

raised angular form slightly inclined right and enclosed within a square[1]. On yet another seal amulet we find a series of *Svastikas* forming a design, each one of which is enclosed within a square compartment and the four arms are provided with loops as we make it today. All the *Svastikas* here face left[2]. On yet another seal from Mohenjodaro we find an elephant making obeisance before a Svastika symbol[3] as if it is some powerful sacred object. This representation leads us to believe that the symbol had acquired in those early years a sort of mystical power. The belief in the potentiality of this symbol must have lead to the spreading of its use in other centres of this civilisation as we find it on a seal from Lothal also.[4]

On the earliest punch marked coins known as bent bar coins found by Marshall, we have this symbol.[5] Again on the punch marked coins of *Kosala* described by Durga Prasad as pre-Mauryan this symbol appears among others[6]. Here it is designed in a thick line in a cursive manner and is inclined towards right. The symbol is clear and cannot be mistaken for something else. It also appears on later punch-marked coins illustrated by Durga Prasad in the same article[7]. Here it appears within a square but is still cursive. We find it on the gold leaf round pieces from *Piprahva* facing left and right in its cursive forms.[8] alongwith pieces in the form of *Triratna*. On cast copper coins from Bulandi Bagh Patna ascribed to *Asoka* in my cabinet we have on the obverse the bajra, the cross the elephant and a *Svastika* in cursive form inclined towards right. Similar coins were found below the Asokan Pillar at *Kausambi* one of which is

1. Vats—*Harappa* pl. XCV–397; Mackay—F. E. M. pl. LXXXIII-17.
2. Vats—*Harappa* pl. XCII—278.
3. Mackay—F. E. M.—Vol. II pl. LXXXII—1a.
4. *Indian Archaeology*—1957—58 pl. XX—5.
5. Marshall—Taxila Vol. II pl, 234—3, p. 796.
6. Sri Durga Prasad—*Classification & Significance of Silver Puuch-Marked coins of Ancient India—Neumismatic Supplement* No. XLVI 1934 pl. 2 coin - reverse symbol 3.
7. *Ibid* pl. XVI—Serial No. 85 obverse No. 3.
8. V. A. Smith—Note The Piprahwa Stupa— *J. R. A. S.* 1898 p. 586 No. 13, 16 and *triratna* No. 6.

in my cabinet. (fig. II (o)) At Taxila several cast copper coins have been found which bear *Svastika* symbol. Two of these have Nandipadas in the intervening space[1]. Here the Nandipadas are not attached to the arms of the *Svastika* as we find in a later rectangular coin. We have also two punch marked coins from Purnea which bear the *Svastika* symbol[2]. Here the *Svastika* faces left. Another punch marked rectangular cast coin in my cabinet has on the obverse only one symbol of *Svastika*. At the end of its four arms are *Nandipadas* (fig. II p) almost like the coin of illustrated by Cunningham[3]. This coin is generally ascribed to 1st century B. C. and 1st century A. D. It may be observed that these additions were made evidently to increase the potency of this symbol. On the cast copper coin of *Amoghabhuti* we have again this symbol[4]. There is an interesting seal from Ceylon which bears on one side a *Gaja Laksmi* figure and on the other a *Svastika* raised on a staff.[5] There are some indistinct symbols on the sides of this staff. This is said to belong to 2nd century B. C.[6] The *Svastika* is of angular type and faces left. Here for the first time we find *Svastika* associated with *Gaja Laksmi.*

From *Taxila* Cunningham has unearthed a copper coin bearing a *Svastika* inclined towards the right[7]. On another coin found by him there is an Indian leopard facing right. There is the *meru* in front of him and on the behind there is the *Svastika*[8] which Cunningham describes us a mystic symbol[9].

At *Taxila* apart from the coins this mystic symbol appears on various objects. From *Bhir Mound* Marshall has found a bone

1. Marshall—Taxila Vol. III pl. 235 No. 5 only *Svastika*; No. 7 & 8 with *Nandipadas.*
2. P. N. Bhattacharya—*A hoard of Punch Marked coins from Purnea*—Memoirs of the ASI No. 62 pl. VI Sl. No. 234, 413, 1571.
3. Cunningham—*Coins of Ancient India*—pl. XI fig. 20.
4. Marshall—*Taxila* Vol. III pl. 238-110.
5. Codrington—Ceylon Coins p. 27.
6. Parker—Ancient Ceylon—p. 462.
7. A. Cunningham—*Archaeological Survey of India Report*—Vol XIV pl. X—fig. 4.
8. *Ibid*—III pl. X fig 14 p. 23.
9. *Ibid*—p. 22.

piece on which we have an arrow, a *Nandipada* and *Svastika* in cursive style inclined towards right[1]. These figures were carved out perhaps for bestowing luck on the possessor. The association of *Svastika* with arrow and *Nandipada* appears rather significant. There is also a round tray of stone which had deeply carved angular *Svastika* formed by straight lines and decorated with dots. It faces left but is inclined towards the right[2]. This was found at *Sirkap* and should belong to a later date. From this site a bronze ring was also found, on the oval bezel of which appears a *Svastika* facing right designed in a cursive style (fig. 1 (n))[3]. A square seal of copper has also been found at Taxila with *Svastika* which bears *Kharosti* inscription probably of a later date[4]. Here also the *Svastika* faces left. Along side with this seal a gold amulet has been unearthed which bears this mystical symbol[5]. A copper plate from this site has four *Svastikas* connected with one another[6]. On a piece of pottery again we have this mystic symbol facing right enclosed within a circle. It is further decorated with four small liptical arcs in vacant space. We also find *Svastika* carved on tiles used for pavement in front of the chaple B[7] of *Bhamala* alongwith other designs[8]. In *Rani Gumpha* cave also we have the *Svastika* symbol belonging to circa 1st century B. C[9].

In *Bharata Natya Sastra* there is a dancing pose which is named as *Svastika*[10]. The representation of which can be seen at *Chidambaram*.

We find *Svastika* on the Jaina *Ayaga patta* from *Mathura* of the *Kusana* period. Here a decorated *Svastika* is formed with the four arms ending like fish tails and at the top enclosed within

1. Marshall—Taxila—Vol. I p. 105; Vol. III pl. 203—4h No. 91.
2. *Ibid*—pl. 146 No. 92 p. 149.
3. *Ibid* pl. 198—42 p. 177.
4. *Ibid* pl. 208 555 No. 21 p. 185.
5. *Ibid* pl. 191—85 p. 187.
6. *Ibid* p. 196.
7. *Ibid* pl. 204—J—P. No. 265.
8. *Ibid* Vol. III pl. 119 (b).
9. A. Coomaraswamy—*Indian & Indonesian* Art—p. 38 fig. 36
10. IV—67 & 73 (Chaukhamba Sanskrit Series Edition).

one arm there is a right sided raised *Svastika* designed by thick straight lines placed inside a circle[1] within other three arms there are symbols of *Srivatsa*, two fishes and perhaps a *Vardhamanaka*. These symbols used to be worshipped by both sects of Jains as referred to in *Auvapatika Sutra*[2] and other works. In another *Avagapatta* also we have two *Svastikas* one at the top in a cursive style and another at the bottom in its angular form[3]. This *Ayagapatta* is of Acata.

At Kausambi we have a representation of the 1st century A. D. of a figure which is almost like that of *Svastika* on a stone slab (fig. III (b)), where it is shown by two leaves entertwining each other. Here it is shown alongside with the figure of *Gaja Laksmi*, a *Yaksa* and a *bull*[4]. It shows that by this time its connection with *Laksmi* was established as harbinger of good fortune.

At *Sarnatha* we have the *Kusana* umbrella a part of the *Mathura Buddha* image dedicated by *Bikshu Bala* which has among other auspicious symbols of fishes, *Srivatsa*, *Sankha*, pot full of gems[5] and a *Svastika* (fig. III (c)). This *Svastika* faces left and has in vacant spaces petals of lotus[6]. It appears that by this time this symbol had found place among the Buddhist mythology also.

There is another representation on fragment of stone panel belonging to circa 1st century where a *Svastika* has been shown. Its arms extend to form a continuous line of this symbol.

---

1. Umakant Premanand Shah—*Studies in Jain Art*—pl. IV fig. 11 V. A. Smith—*Jain Stupa & Other Antiquities from Mathura*—Allahabad—1901—ASI New fig. XI.
2. *Aupapatika Sutra*—(Ed. Pt. Bhuralal Kalidas, Bombay 1938) Su. 31 pp. 68, 69; *Trisasati* I (Ed. Heun Johnsen) (Gos) pp. 112, 190; *Mahapurana* (*Adipurana*) of Jinasena (Benares—1944-45,—Purava 22, VV 143, 185, 210 etc. pp. 520 H.
3. Umakant P. Shah—*Studies in Jain Art*—pl. III fig. 10.
4. S. C. Kala—*Sculptures in the Allahabad Museum*—pl. XVI B on p. 59.
5. A. Coomaraswamy—*Indian & Indonesian Art*—p. 45.
6. D. R. Sahani—*Catalogue of the Museum of Archaeology at Saranath*—p. 34, pl. VIII-B (a).

On the *Kusana* period earthen pots also from *Rupar*[1] and *Ahicchatra* we find the *Svastika* symbol[2]. At *Rupar* we see this symbol represented in a series facing right alternated with the stylised figure of a snake. At *Ahicchatra* we find on a Sunga period pottery this symbol inscribed in several ways. Dr. Vasudeva Saran Agrawal mentions "that digging in the site named A. C. V. near the city wall, a number of pottery fragments were found assignable to the *Sunga* period on which these (*Svastika*) and other typical symbols like the *Dharma Chakra-chaitya* with crescent (fig. 79, fragment 5849) and *Nandipada* or taurine (fig. 80) were found."[3] According to A. Gosh and Panigrahi these pottery pieces belong to stratum VII assignable to B. C. 200 to 100[4]. In one case here we find a series of two *Svastikas* overlapping each other facing left enclosed within squares. We also find on pot-sherds of stratum IV assignable to A. D. 100 to 350 A. D. *Svastikas* facing left with arms which have forked ends almost looking like the open mouths of the serpants[5]. (fig. III (d)) At *Rajaghata* also pots bearing *Svastika* symbol have been found from *Kusana* levels.

We also find this form being used in architecture during the gupta period. Among the loose stucco pieces from *Nagai-Juna Konda* of Circa fifth century A. D. there are pieces bearing *Svastika* design[6]. These face both left and right are highly stylised. Their arms also end in loops. It also appears on fragment of a stone panel of *Sarnatha* decorated with a central flower of lotus (No 673). On the *Dhameka Stupa* here it is represented as a continuous decorative design facing both left and its arm are extended to form triangles. We also find a monastry at *Serpur* in Madhya Pradesh shaped like a *Svastika* perhaps belonging to the

---

1. *Sarnatha* No. Cb/13-325.
2. Y. D. Sharma—*Exploration of Historical Sites—Ancient India No.* 9—1953 fig. 7-4, figs. 9-VI 6 etc.
3. V. S. Agrawal—*Pottery designs from Ahichchhatra—Lalit Kala* Nos. 3-4-April 1956—Mrach 1957—p. 80 figs. 78 etc. on page 81.
4. A. Ghosh & Panigrahi—*The Pottery of Ahichchhatra—Ancient* India No. I—January 1946 p 45 fig. 7, 8, & 9.
5. *Ibid*—fig. 8-15, 16 (6) T. N. Ramachandran—*Nagarjuna* Konda—Memoirs of the A. S. I. No. II (1938) pl. XVIIA fourth-line.

8th century A. D.[1] It may be mentioned that according to *Manasara* a *Svastika* shaped city is suitable for kings[2] but here a monastry has been designed in this form. From *Durga* temple of *Athole* a perforated stone window has been cut to form alternative Svastikas and crosses which are both decorated with lotus flowers. The arms of the *Svastika* have been clongated to connect up other *Svastikas*[3]. This symbol was also used on the seals of the early Gupta period of *Basarh* found by Spooner[4] and also on the *Kusana* period seals from *Bhita*[5].

This symbol is, however, not confined to India. We come across it on stones of *Maya* cult facing right[6] on button and bead seals from Susa 'D' facing left[7] (fig. V (C)) on a standard from Alaca Huyuk of Asia Minor belonging to 22nd century B. C. facing both right and left[8] on the spindle whorls or Crete found from the deep levels of Troy[9] on the pottery dish of Shahi Tump where it faces right[10]. (fig. V (d)). It also appears later as continuous angular design on a panel having a lion headed spout of Baalbeh. Syria belonging to the 2nd century A. D.[11] almost like the later

---

1. *Indian Archaeology*—1955-56 p. 26 pl. XLIII.
2. H. Zimmer—*The Art of Indian Asia*—p. 323.
3. H. Cousens—*Chalukyan Architecture*—pl. XI. top right.
4. D. B. Spooner—*Excavations at Basarh*—Archaeological Survey of India Report 1913-14—pl. XLVII.
5. J. H. Marshall—*Excavations at Bhita*—Archaeological Survey of India—Annual Report 1911-12, pl XVIII-20 p. 50.
6. Luis Marden—*Up from the Well of Time*—The National *Geographical Magazine* 1959—p. 119—a slab bearing Svastika design.
7. Gordon Childe—*New Light on the Most Ancient East*—p. 141 fig. 77-10.
8. Bedrich Hrozny—*Ancient History of Western Asia, India & Crete*—p 135 fig. 57; also see *the Svastika in Asiatic Turkey over 4000 years ago*. I. L. N. August 9, 1938 p. 632.
9. Mackay—*Further Excavations*—p. 660—Footnote—3; Schliemann—Troy pl. XXV—fig. 414.
10. Gordon Childe—*Loc. cit.* pl. XXXVIII—A.
11. Percy Brown—*Indian Architecture* (Bhuddhist & Hindu period) (2nd Edition) pl V *fig.* 2.

design on *Dhamek Stupa* of *Sarnatha.* Here the *Svastika* faces both left and right in endless repititions of *Svastika* and triangles filling the space in pattern of light and shade. We come across it on the tiles of the Geometric period of antique Greece designated alongwith two serpants[1] and also on the sculptured stones of Scotland etc[2].

It has been suggested that this art motif has travelled from India to distant lands but this explanation will not satisfy every scholar as it has a world wide representation[3].

In this connection it may be mentioned that the art of conveying ideas to the mind through the symbols appears to have passed in the past through four stages in its progress. In its first stage the objects and events to be signified were represented in their concrete forms, for example a house by its simple sketch or the killing of the boar by drawing of a man with a bow and arrow and a boar before him. In the second stage some particular quality of the object and an abstract idea began to be conveyed through a symbol, e. g. a horse for swiftness or a dog for vigilance. In the third stage the symbols became conventionalised to represent ideas as was the case with the Chinese letters and in the fourth these were slightly modified to facilitate the communication of allied ideas. This Svastika symbol also seems to have passed through these four stages from the cursive form to its angular form and then to Svastikas with arms ending in Nandipad and again to the arms extended vertically.

The problem however remains unsolved as to which idea this symbol represents. We find in the *Ramayana* a suggestion that this symbol denotes a mark on the hood of a serpant which vomits fire[4].

Sirobhih prithubhinaga vyaktasvastikalaksanaih.
Vamantah pavakam ghoram danansurdasanaih silah

It is therefore possible that this symbol might have denoted a particularly fierce serpant or might have been connected with

---

1. H. Th. Bossert—*Ornament* (London 1924)—pl. VI—fig. 4, also see pl. VI fig. 9—fig. 7.
2. Theobald—Op. Cit. *J. A. S. R.*—II·IV—1890 p. 188.
3. A. Coomaraswamy—*Indian & Indonesian Art*—p. 44.
4. *Valmiki Ramayana*—I, 195.

the serpant worship so common among the primitive people of the world. First indication of serpant worship we have is in Babylonia[1] from Egypt[2]. We find it on the crowns of the kings and queens[3]. We also see serpants in the hands of the Cretan Chthomic goddess[4] and we come across them on seals of Mohenjodaro[5]. Its worship was prevalent in Pelsagic Greece and in ancient Rome[6]. In a modified form the serpant worship persisted among the Jews quite a long time[7]. In Mexico and Dahomey the serpant worship was the most important form of propitiation[8] till the end of the 19th century. Among the Poeonicians the serpants were attributed with a divine nature and a power of renewing their youth[9]. In different countries they were supposed to bring different types of fortune[10] and were worshipped for that reason. Its connection with the serpants can be inferred from the representation of snakes alongwith *Svastika* on an antique tile of Greece[11].

We find serpants represented in the form of an open 'S' at several places[12] and if we join two of these 'S' in vertical and horizontal positions we will arrive at the rough form a *Svastika*. It will thus represent a male and a female serpant lying one over

1. H. Frankfort—*Religion in Babylonia 4000 years ago*—The Illustrated London News—Sept. 5, 1936 p. 390 drawing on p. 391 fig. 11 also see *I. L. N.* July 15, 1933 p. 98 figs. 7, 10 and *I. L. N.* June 9, 1934 p. 919.
2. *Herodotus*—II—74.
3. James Fergusson—*Tree & Serpant Worship*—p. 5.
4. Bedrich Hrozny—*Ancient History of Western Asia, India & Crete*—fig. 134 opp. p. 222.
5. Henrich Zimmer—*The Art of Indian Asia*—Vol. II pl. 2—e.
6. Fergusson—*Loc. Cit.* p. 4.
7. *Ibid*—p. 8.
8. *Ibid*—p. 4.
9. *Ibid*—p. 10.
10. James Hastings—*Encyclopedia of Religion & Ethics*—p. 408.
11. H. Th. Bossert—Ornamont—pl. VI—fig. 4.
12. Zimmer—*Op. Cit.* pl. 1 b. seal of the Indus Valley Civilization. To the back of the worshippers two serpants are shown in this from.

the other, a pose naturally adopted by the serpants for procreation. The entertwined serpants or their *Mithuna* a conception already existing in the Indus Valley art[1] was most probably believed by a number of primitive people as the cause of the creation of the Cosmos. The worship of this symbol should therefore represent the age old adoration of the serpants which was supposed to ward off all evils and bring prosperity for the snakes were considered to be bestower of long life[2], fortune and wealth[3].

In the *mithuna* of the serpants represented by the Svastika would thus have been hidden the secret of creation of this world, a belief common among the primitive people.

---

1. Stella Kramrisch—*The Art of India*—Appendix to Illustrations. Fig. 1 e. Later we see the same idea depicted at *Amaravati Stupa*—Zimmer—*op. cit.* fig. 97.
2. James Hastings—op. cit. p. 408; Paul Louis Claude—Mythologie Indienna fig. 22 p. 111.
3. Ibid—p. 409.



महावीर जयन्ती समारोह पर आयोजित
विशाल-जुलूस की एक झांकी



महावीर जयन्ती के अवसर पर झण्डाभिवादन
(खुलते हुए झण्डे का लिया गया चित्र)



जयपुर राजस्थान जैन सभा के तत्वाधान में महावीर जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुये डा० सम्पूर्णानन्दजी, पास में श्री मोहनलाल सुखाडिया मुख्य मंत्री, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, वित्त मन्त्री तथा श्री नाथूराम मिर्धा कृषी मन्त्री बैठे हुये हैं।



महावीर जयन्ती पर झण्डाभिवादन के बाद नागरिकों को सम्बोधित करते हुये श्रीचन्दनमल वैद्य, उप वित्त-मन्त्री राजस्थान सरकार

राजस्थान जैन सभा—एक संक्षिप्त परिचय

राजस्थान जैन सभा जैन समाज का एक मात्र प्रतिनिधि संगठन है। कई जैन संस्थाओं के अभूतपूर्व एवं अद्वितीय एकीकरण से सन् १६५२ में राजस्थान जैन सभा की स्थापना हुई। समाज में जीवन, जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त जन मानस को धर्म एवं कर्तव्य की ओर आकृष्ट करना इसकी अनेक प्रवृत्तियों में से एक है।

इस सभा की स्थापना समस्त राजस्थान में जैन समाज के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को संगठित करने, विभिन्न जैन संस्थाओं में सम्पर्क स्थापित करके एक सूत्र में लाने, जैन समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिये यथा संभव प्रयत्न करने एवं जैन मान्यताओं एवं जैन समाज के हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहने के उद्देश्य से हुई।

सभा की विभिन्न प्रवृत्तियां:-

(१) पर्यूषण पर्व:—

अपने शिशुकाल से ही इस सभा के तत्वावधान में भाद्रपद मास में पर्यूषण पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से आयोजित किये जाते हैं। इस कार्यक्रम का उद्देश्य समाज के युवकों में धार्मिक विषयों का अध्ययन एवं मनन् करने की दिशा में रुचि बढाना है। सम्माननीय पण्डित साहब श्री चैनसुखदास जी की प्रेरणा से यह कार्य प्रारम्भ हुआ और गत वर्षों में यह देखा गया कि इस उद्देश्य प्राप्ति में हमें पर्याप्त सफलता मिली है।

गत पर्यूषण पर्व की विशेषता यह रही कि अनेक माने हुऐ विद्वानों के जैन धर्म और उसकी महत्ता पर महत्वपूर्ण भाषण हुये तथा जैन दर्शन विद्यालय की बालिकाओं द्वारा एक वर्णन प्रतिरोचक रूप से प्रस्तुत किया गया। डा० राजमल कासलीवाल, अध्यक्ष, राजस्थान मेडिकल कालेज, डा० नरेन्द्र कुमार भानावत, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, धरमचन्द सरावगी, कलकत्ता, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर एवं सर्व श्री मोहनलाल रांवका, बिरधीलाल सेठी, केवलचन्द ठोलिया, कपूरचन्द पाटनी, हीराचन्द वैद, बंशीलाल लुहाड़िया आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

सर्वश्री प्रसन्न कुमार सेठी, धरणेन्द्र कुमार रांवका, एवं दासूलाल आदि का कविता पाठ प्रशंसनीय रहा।

(२) क्षमावणी दिवस—

यह दिवस प्रति वर्ष आसोज कृष्णा १ को मनाया जाता है। इस समारोह का अपना एक विशिष्ट महत्व है। इस दिन समाज के समस्त वृद्ध, युवक व बाल एक स्थान पर एकत्रित होकर गत वर्ष के अपने समस्त मतभेदों को भुलाने की दिशा में अग्रसर होते हैं। सभा का यह एक अनूठा प्रयास है। इस वर्ष यह पावन दिवस जैन सभा के अध्यक्ष श्री केशरलालजी बक्षी की अध्यक्षता में मनाया गया।

(३) महावीर निर्वाणोत्सव—

प्रति वर्ष कार्तिक कृष्णा १५ को भगवान महावीर का निवार्णोत्सव आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर भगवान महावीर तथा उनके सिद्धान्तों पर जैन अजैन विद्वानों के भाषणों, गायनों आदि का आयोजन किया जाता है। इस वर्ष यह महोत्सव भारत पर चीन के आक्रमण के कारण बड़ी सादगी के साथ, श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सभी वक्ताओं ने चीन के आक्रमण की कड़ी निन्दा की और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक त्याग करने की प्रेरणा दी।

(४) महावीर जयन्ती—

सभा के तत्वावधान में प्रति वर्ष चैत्र शुक्ला १३ को भगवान महावीर का पावन जयन्ती समारोह आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर भगवान महावीर तथा उनके सिद्धान्तों पर जैन–अजैन विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया जाता है। जयन्ती के दिन प्रमुख सड़कों पर से होता हुआ एक विशाल जुलूस निकाला जाता है जो रामलीला मैदान में जाकर समाप्त होता है। वहां झण्डारोहण का कार्यक्रम सम्पन्न किया जाता है।

गत वर्षों की भांति इस वर्ष भी जयन्ती समारोह के अन्तर्गत संगीत सम्मेलन, महिला एवं आम सभा, जलूस आदि का त्रिदिवसीय कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

(i) संगीत सम्मेलन—

समारोह के प्रथम दिन दिनांक १५–४–६२ चैत्र शुक्ला ११ को संगीत कला के प्रसिद्ध विद्वान श्री ब्रह्मानन्दजी, आचार्य, राजस्थान कला संस्थान की अध्यक्षता में संगीत सम्मेलन मनाया गया। यह हर्ष की बात है कि इस वर्ष प्राचीन सहेलियों के प्रतिनिधियों, स्कूलों के छात्र व छात्राओं ने काफी संख्या में भाग लिया। कई अजैन संगीतज्ञों ने भी उपस्थित होकर भगवान महावीर के प्रति सुन्दर भजन प्रस्तुत किये। इस सम्मेलन के संयोजक श्री नथमलजी लोढा थे।

(ii) महिला सम्मेलन—

समारोह के दूसरे दिन चैत्र शुक्ला १२, दिनांक १६–४–६२ को रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत की अध्यक्षता में महिला सम्मेलन मनाया गया जिसमें अनेक जैन, अजैन महिलाओं ने भगवान महावीर व उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला। उपयोगी भजन, गायन, कविता व नृत्य भी प्रस्तुत किये गये। इस कार्यक्रम की संयोजिका श्रीमती उमराव देवी जैन थी।

(iii) जुलूस

समारोह के अन्तिम दिन चैत्र शुक्ला १३, दिनांक १७–४–६२ को प्रातः एक विशाल जुलूस शहर के प्रमुख बाजारों में होता हुआ निकाला गया तथा जुलूस की समाप्ति पर राजस्थान के उपवित्त एवं उद्योग मन्त्री श्री चन्दनमल जी वैद के कर कमलों द्वारा झण्डा रोहण का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

(iv) आम सभा

सदा की भांति सायंकाल एक विशाल आम सभा का आयोजन राजस्थान के वित्तमंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय की अध्यक्षता में किया गया। राजस्थान के राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द जिन्होंने इसी दिन अपना कार्यभार सम्भाला था, अपने व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद भी पधार कर इस पावन पर्व का शुभारम्भ किया। यह उल्लेखनीय है कि डा० सम्पूर्णानन्द जी का राजस्थान में यह प्रथम सार्वजनिक कार्यक्रम था।

आयोजन में राज्य के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल जी सुखाड़िया एवं कृषि मन्त्री श्री नाथूराम मिर्धा आदि ने भाग लिया।

(५) महावीर जयन्ती स्मारिका

गत कुछ वर्षों से यह विचार चल रहा था कि कुछ आधुनिक मौलिक प्रकाशनों द्वारा भगवान महावीर के सर्वजीव हितकारी सिद्धान्तों का प्रचार किया जावे। इस लक्ष्य की पूर्ति में सभा ने इस वर्ष महावीर जयन्ती स्मारिका नाम से ऐसी पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें भगवान महावीर, जैन साहित्य, दर्शन और कला आदि विषयों पर अधिकारी विद्वानों के लेख हैं? स्मारिका में राजस्थान के प्रमुख जैन स्थानों, मन्दिरों, मूर्तियों, लेखों आदि के चित्र भी हैं यह स्मारिका अपने ढंग की एक ही है जिसमें जैन दर्शन, कला आदि विविध विषयों पर महत्वपूर्ण सामग्री एक स्थान पर ही उपलब्ध है। इसका सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने किया है। यह स्मारिका उन्हीं का सफल प्रयास है जिसके फलस्वरूप हम बहुत ही कम समय में इतना उपयोगी ग्रन्थ निकाल पाये हैं। राजस्थान जैन सभा इसके लिये उनकी अत्यन्त कृतज्ञ है।

विशेष प्रवृत्तियां

(१) वीर वाचनालय

जयपुर स्थित बनजी ठोलिया की धर्मशाला में सभा द्वारा एक वाचनालय चलाया जाता है जिसमें दैनिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, मासिक समाचार पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं।

(२) विशेष सभाओं का आयोजन—

बौद्धिक और मानसिक विकास के लिये सभा द्वारा समय समय पर अधिकृत विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया जाता है।

इस वर्ष भी दिनांक ८-४-६२ को आचार्य रजनीश, प्राध्यापक, जबलपुर विश्व विद्यालय, मध्य प्रदेश के भाषण का तथा अष्टान्हिका पर्व में बख्शीजी के मन्दिर में सभा का आयोजन किया गया था।

(३) अभिनन्दन समारोह—

यह उल्लेखनीय है कि जैन सभा के दो विद्वान सदस्यों—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं डा० कमलचन्द्र सौगाणी का राजस्थान विश्व विद्यालय द्वारा डाक्टर आफ फिलासफी

की डिगरी प्रदान करने पर आप दोनों के सम्मान में श्रीयुत केशरलाल जी बक्शी की अध्यक्षता में अभिनन्दन किया गया। श्रद्धेय पण्डित साहब ने आपके कार्यों की प्रशंसा की एवं भविष्य में समाज सेवा में पूर्ण योग देते रहने का सत्परामर्श दिया।

(४) शोक सभाएं

सर्व श्री मालीलालजी कासलीवाल, मनीरामजी कासलीवाल व बैजनाथ जी सरावगी कलकत्ते वालों के निधन पर शोक सभाएं आयोजित की गई।

(५) जनगणना—

राजस्थान में सार्वजनीन प्रन्यास अधिनियम सर्व प्रथम १ जुलाई १९६२ से लागू हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत समस्त सार्वजनीन प्रन्यास जिसमें कि मन्दिर, विद्यालय, औषधालय, धर्मशालायें आदि जिनकी सम्पत्ति ३० हजार से अधिक हो या जिनकी वार्षिक आय ३ हजार से अधिक हो, पंजीकरण कराना अनिवार्य हो गया। इस कानून से राजस्थान की अधिकांश जैन संस्थायें प्रभावित होने वाली थी। यह कानून काफी पेचीदा है और इसकी जानकारी गांवों गांवों में करानी जरूरी थी—सभा ने इस महान कार्य को अपने हाथों में लिया और इस कार्य के लिये समाज के प्रतिष्ठित महानुभावों, कानून विशेषज्ञों एवं कार्यकर्ताओं की एक समिति का गठन श्री कपूरचन्द पाटनी के संयोजकत्व में किया गया।

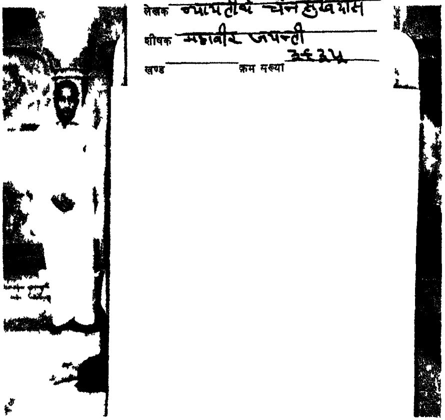
समिति ने अपने परिपत्रों द्वारा इस कानून के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए पंजीकरण के लिये आवश्यक तैयारी करने के लिये सुझाव दिये। संस्थाओं को विधान छपाकर भिजवाया ताकि उसे स्वीकार कर अपना कार्य व्यवस्थित रूपसे करें। अनेक संस्थाओं को पंजीकरण कराने के लिए फार्म भरने में सहयोग दिया।

सार्वजनीन प्रन्यास अधिनियम में संशोधन से सम्बन्धित आवश्यक सुझाव राज्य सरकार को भेजें हैं जो अभी विचाराधीन हैं।

संस्था की आर्थिक स्थिति:—

संस्था का वार्षिक सदस्यता शुल्क केवल चार आना (२५ नया पैसा) है जो अत्यन्त साधारण है। इसके अतिरिक्त महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर समाज से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। संस्था को समय समय पर सार्वजनिक कार्यक्रम व अन्य प्रकार की अनेको प्रवृत्तियां आयोजित करनी पडती हैं। आय के इन अल्प साधनों से यह सब करना अत्यधिक कठिन हो जाता है। परिणामतः आर्थिक विषमता का सामना करना पडता है। इस कठिनाई के कारण संस्था उतना काम नहीं कर पाती जितनी कि इससे अपेक्षा की जा सकती है।

सभा को समाज की सभी संस्थाओं, कार्यकर्ताओं एवं सहयोगियों का पूरा २ सहयोग मिला है जिसके फलस्वरूप ही उसे अपने कार्यों में सफलता प्राप्त हुई है। उन सभी के लिए यह सभा उनका आभार प्रगट करती है। विशेषतौर पर स्मारिका ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग देने वाले सभी विज्ञापन दाताओं तथा अति अल्प समय में सुन्दर और सुचारु रूप में समय पर स्मारिका प्रकाशित करने के लिए श्री राजमल संघी, प्रतापचन्द पाटनी, हेमेन्द्रकुमार बगडा ने जो परिश्रम किया उसके लिए आभारी है। साथ ही अनेकानेक सहयोगियों जिनमें डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री चिरंजीलालजी सेठी, श्री सौभागमल रांवका, श्री विजय चन्द



खड हुए पहली पंक्ति (... ...)डिया
गोपीचन्द लुहाडिया मास्टर राधाकिशन तथा कपूरचन्द पाटनी ।
दूसरी पंक्ति (दाये से बाये) सर्वश्री नवनीधिराय लुहाडिया रतन चन्द गोधा केवल चन्द ठोलिया धनपतिराय लुहाडिया तारा चन्द साह तथा कैलाशचन्द सोगाणी
कुर्सियों पर बैठे हुए (दाये से बाये) श्रीमती कपूरी देवी गोधा श्री केसरलाल बख्शी (अध्यक्ष) तथा श्री रतनलाल छाबडा (मन्त्री)।
, बैठे हुए (दाये से बाये) श्री मोहनलाल रावका तथा श्री भागचन्द सोगाणी ।